ज्ञानमण्डल ग्रन्थमालाका ९८वाँ ग्रन्थ

देवदीपिकाटीकासमलंकृता

विनय-पत्रिका

महाकवि गोस्वामी तुलसीदासकृत

देवनारायण द्विवेदी

वाराणसी
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें

'विनयपत्रिका'का द्वितीय संस्करण पाठकोंके समक्ष उपस्थित है। आचार्य विनोबा भावेको यह टीका बहुत पसन्द आयी थी। इसका प्रथम संस्करण जिन परिस्थितियोंमें प्रकाशित हुआ था, उसमें त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक था। इस संस्करणमें उन्हें दूर करने की पूरी चेष्टा की गयी है। इसके सिवा अनेक स्थलोंपर जहाँ भाव समझनेमें जरा भी संशय या कठिनाई मालूम होती थी, उचित परिष्कार कर दिया गया है। इस कार्यमें हमें श्री शारदाशङ्कर द्विवेदीसे यथेष्ट सहायता मिली है। एतदर्थ वह धन्यवादके पात्र हैं। इस संस्करणमें कठिन शब्दोंके अर्थ भी बढ़ा दिये गये हैं जिनसे पुस्तककी उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है।

पहले संस्करणमें इस पुस्तकका यथेष्ट प्रचार नहीं किया जा सका, अन्यथा अबतक इसके कई संस्करण हो चुके होते। हमें पूर्ण विश्वास है कि भक्तजन इस द्वितीय संस्करणका समुचित आदर करेंगे।

भाद्रपूर्णिमा,
सं० २०१९ विक्रमी।

देवनारायण द्विवेदी

वक्तव्य

वास्तवमें काव्य व्याख्या या परिभाषाका विषय नहीं, उसका सच्चा आनन्द तो केवल उसके रसास्वादन द्वारा ही लिया जा सकता है; क्योंकि काव्यकी व्याख्या ही है 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'। जब कविके अन्तस्तलमें भावनाओं, कल्पनाओं और अनुभूतियोंकी सच्ची छाप पड़ती है, तो उसके हृदयस्थ भाव काव्यके रूपमें स्वतः बहिर्गत होने लगते हैं। उनमें जीवनके जटिल रहस्योंका एक ऐसा मार्मिक उद्घाटन होता है जो काव्य-रसिकोंको एकबारगी तन्मनस्क कर देता है। ऐसा काव्यानन्द लेते समय सुरसिक और सच्चे प्रेमी जनोंकी वास्तवमें 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' वाली हालत हो जाती है। फिर उसकी परिभाषा कैसे सम्भव है? उसके लिए तो केवल हार्दिक सरसता और गम्भीरता ही चाहिये। काव्य कविकी अन्तरात्माकी पुकार है, उसके जीवनकी कमनीय अनुभूतियोंका जीता-जागता इतिहास है, उसकी हृत्तन्त्रीकी झंकार है, जिससे प्रकृतिका रोम-रोम चिर-मुखरित है। कविकी अमर वाणीमें वह संगीत निहित है, जो हमारी अनुरागात्मिका वृत्तिका सम्बन्ध नैसर्गिक जगत्के कण-कणसे जोड़ना चाहता है। वास्तवमें काव्य कविकी मनोरम भावनाओंका साकार स्वरूप है।

ऐसी दशामें यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि किसी भी कविके काव्य-मय भावोंको वे ही पाठक समझ सकते हैं जिनका भाव उस कविके भावोंका चुम्बन करता हुआ अत्यन्त शान्त और गम्भीर गतिमें क्रमशः आगे बढ़ता जाता है। स्पष्ट शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि किसी कविके काव्यमय भावोंको समझनेके लिए अधिक नहीं तो कमसे कम उस कविके समान पाठकका भी भावुक होना नितान्त आवश्यक है—भले ही पाण्डित्य वैसा न हो। यही कारण है कि हम उच्च कवियोंकी दूरकी उड़ानतक नहीं पहुँच पाते और नीचे ही डैने फड़फड़ाते रह जाते हैं।

ठीक यही बात भक्त-भ्रमरोंके लिए अपने कृति कुंजमें भाव-कंज-कलिकाओंमें

भक्ति-मकरन्द प्रस्रावित करनेवाले हिन्दीके अमर कवि-कुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज-रचित 'विनय-पत्रिका' के सम्बन्धमें कही जा सकती है। उक्त ग्रन्थ गोस्वामीजीकी बुद्धिकी परिपक्वावस्थाका रचा हुआ कहा जाता है। इसके अधिकांश पद इतने गहन और गम्भीर हैं कि मनन ही करते बनता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही लिखा है कि—भक्ति रसका पूर्ण परिपाक जैसा विनय-पत्रिकामें है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। इसमें प्रगाढ़ प्रेम, आलम्बनके महत्त्व और अपने दैन्यके अनुभवका ऐसा स्वच्छ शब्द-स्रोत निकला है कि उसमें अवगाहन करनेसे हृदय स्वाभाविक ही निर्मल हो जाता है। अनन्त शक्ति, शील और सौन्दर्यपर आकृष्ट होकर भक्त ज्यों-ज्यों भगवान्‌के महत्त्वका सान्निध्य प्राप्त करता जाता है त्यों-त्यों उसके भाव महत्त्वकी ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व भी उसके निकट आने लगता है; अन्तमें लघुत्त्वका महत्त्वमें लय हो जाता है। महत्त्वकी अनुभूतिसे ही भक्तको प्रभुके महत्त्वके सामने अपने दैन्य अर्थात् लघुत्वका अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि वह जिस प्रकार भगवान्‌का महत्त्व वर्णन करनेमें गद्‌गद होता है, उसी प्रकार उससे अपनी लघुताका वर्णन किये बिना भी रहा नहीं जाता। यह उस अनन्त शक्तिका प्रभाव है कि उसके समक्ष भक्तको अपनी तुच्छताका स्पष्ट चित्र दिखाई पड़ने लगता है। इस अवस्थाके पद इस ग्रन्थमें भरे पड़े हैं। उनमें यथार्थतः बनावट नहीं, सत्यता है।

इस ग्रन्थकी क्लिष्टताके सम्बन्धमें संसारके प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सनने भी कहा है:—"विनय-पत्रिका कविके स्तुत्य ग्रन्थोंमेंसे एक है, पर भाषाकी क्लिष्टताके कारण बहुतसे पढ़नेवाले इसको पढ़नेका साहस नहीं करते।" इस ग्रन्थके बहुतसे पदोंका तो ठीक-ठीक अर्थ लिखनेके लिए शब्द ही नहीं मिलते। इसीसे यह बात सर्वमान्य है कि मनोगत भावोंको व्यक्त करनेकी शक्ति शब्दोंमें नहीं है।

यहाँपर स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठ सकता है कि जब कविके काव्यगत भाव शब्दों द्वारा व्यक्त किये ही नहीं जा सकते, तो फिर काव्य-ग्रन्थोंपर टीका लिखनेकी क्या आवश्यकता ? बात यह है कि टीका सब भावोंको ठीक-ठीक व्यक्त करनेमें असमर्थ होनेपर भी पाठकोंको असली अर्थतक पहुँचानेके लिए

पूरा सहारा देती है। इसी उद्देश्यसे टीका लिखी भी जाती है। यही अभिप्राय प्रस्तुत टीकाका भी है; क्योंकि यह तो मैं भली भाँति जानता था कि एक तो वैसा महान् एवं भक्ति-रसमें रँगा हुआ हृदय नहीं है, दूसरे काव्य व्याख्या या परिभाषाका विषय भी नहीं है। इस अवस्थामें मुझे कहाँतक सफलता मिल सकती है, यह बिलकुल स्पष्ट है।

विनय-पत्रिकापर कई उत्कृष्ट टीकाएँ निकल चुकी हैं। उनमें कुछ तो प्राचीन ढंगकी हैं और कुछ नवीन। प्राचीन टीकाओंमें भक्तवर बैजनाथकी टीका बहुत अच्छी है; किन्तु पुराने ढंगकी भाषा होनेके कारण वह सर्वसाधारणके लिए उपयोगी नहीं है। उसके बादकी जितनी टीकाएँ हैं, सबपर उस टीकाकी गहरी छाप पड़ी हुई दिखाई पड़ती है। नवीन टीकाओंमें वियोगी हरिजीकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। उसपर मेरी बड़ी श्रद्धा थी; किन्तु बहुत दिनोंतक उसे पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। पुस्तक प्रकाशित होनेके कई साल बाद एक दिन मैंने उसे यत्र-तत्र देखना शुरू किया। हठात् ४४ वें पदके 'वारांनिधे' शब्दकी ऊटपटाँग टिप्पणीपर मेरी दृष्टि पड़ी। कौतूहल बढ़ा और पढ़नेका दृष्टिकोण भी बदल गया। २१२ वें पदके 'पवन' शब्दपर (जोकि 'पूञ्' धातुसे बना है और व्याकरणसे शुद्ध है) पढ़ा, "पवन = पवित्र करनेवाले; शुद्ध शब्द 'पावन' है।...यह आर्ष प्रयोग है"। टीकाकारने यह लिखनेके पहले इस बातपर विचार नहीं किया कि गुसाईंजी सरीखे प्रकांड पंडितसे ऐसी भूल हो सकती है या नहीं। कविता जिस महाकविके पीछे-पीछे चलनेवाली थी एवं जिसका शब्द-कोश असाधारण था, वह अशुद्ध प्रयोग क्यों करने लगा? उसके लिए तो शब्दोंका अदल-बदल करना बायें हाथका खेल था। २३ वें पदमें 'बारी' शब्दके सीधा अर्थ 'बगीचा'के स्थानपर 'खेतों या वृक्षोंके चारों तरफ लगाये हुए काँटेदार पेड़, जिनसे पशु आदिसे उनकी रक्षा रहती है। यह शब्द बुन्देलखण्डी है,' ४० वें पदमें 'यत्प्रनामी'का अर्थ 'प्रणाम करता हूँ,' ६२ वें पदकी टिप्पणीमें सूर्यका रंग 'श्वेत', १०६ ठे पदमें 'भेई' का अर्थ 'लगाई', १४२ वें पदमें 'तावों'का अर्थ 'धारण करता हूँ, उमंगसे फूला नहीं समाता', १६८ वें पदमें 'खलाए' का अर्थ 'लटकाए हुए', लिखा देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। इस प्रकार श्री वियोगीहरिजीकी टीका शब्दार्थकी भूलोंसे भरी हुई दिखाई पड़ी। इतना

ही नहीं, पदोंके अर्थ और मूलपाठमें भी कम भूलें नहीं हैं। कुछ उदाहरण लीजियेः—

मन्दाकिनि मालिनि सदा सींच। बर-बारि विषम नर-नारि नीच।
[पद २३]

इसका अर्थ आपने किया है, 'उसे मन्दाकिनीरूपी मालिन सदा अपने उत्तम जलसे इस भाँति सींचती रहती है, जैसे दुष्ट स्वभाववाले स्त्री-पुरुष और नीच चाण्डाल आदि। तात्पर्य यह कि मन्दाकिनीमें बड़े-बड़े पापी और नीच स्नान करते हैं, पर उनके दुष्कर्मोंका प्रभाव वृक्षपर कुछ नहीं पड़ता, वह ज्यों-का-त्यों हरा-भरा रहता है।'

पाठक ही विचार करें कि कितना बढ़िया अर्थ किया गया है और कैसा उसका तात्पर्य निकाला गया है। और सुनिये—

'मृदुल चरन, सुभचिह्न, पदज नख अति अभूत उपमाई'।
[पद ६२]

इसके स्थानपर आपने पाठ माना हैः—

'मृदुल चरन, शुभ चिह्न, पदज नख अद्‌भुत उपमाई'॥

भावार्थमें लिखा है 'जिनके कोमल चरणारविन्दोंमें सुन्दर चिह्न हैं, अँगुलियों और नखोंकी तो कुछ विचित्र ही उपमा है।' द्रष्टव्य है कि गुसाईंजीके भावकी कैसी बेरहमीसे हत्या की गयी है।

वास्तवमें इसका अर्थ है, 'कोमल चरणोंमें शुभ चिह्न हैं, अँगुलियों और नखोंकी अत्यन्त अभूतपूर्व उपमा है।' 'अभूत उपमा' का लक्षण महाकवि केशवदासजीने इस प्रकार लिखा भी हैः—

उपमा जाय कही नहीं, जाको रूप निहारि।
अस अभूत उपमा कही, केसवदास विचारि॥

—कविप्रिया

पाठक ही विचार करें कि इन दोनोंमें कौन-सा पाठ और अर्थ ठीक है। आगे देखिये—

अपनाये सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल-छाउ।
'भरत-सभा सनमानि' सराहत होत न हृदय अघाउ॥

[पद १००]

इसका भावार्थ आपने लिखा है 'यद्यपि सुग्रीव और विभीषणने अपना कपट भाव नहीं छोड़ा, पर आपने उन्हें अपनी शरणमें ले ही लिया। और भरतजीकी तो सभामें सदा प्रशंसा करते रहते हैं, प्रशंसा करते-करते तृप्ति ही नहीं होती।' कैसा अर्थका अनर्थ हुआ है और प्रसंग कितनी दूर छूट गया है! इस अर्थसे तो यह सूचित हो रहा है कि सुग्रीव और विभीषणका 'कपट' भाव प्रकट होनेके बाद रामजीने उन्हें अपनाया। पर वास्तवमें बात इसकी उलटी है। आगे देखिये, 'भरतजीकी तो सभामें सदा प्रशंसा करते रहते हैं', लिखकर टीकाकारने सीतापतिके शील और स्वभावमें भी बट्टा लगा दिया है; क्योंकि भरतजी तो इस योग्य थे ही, फिर यदि सीतापति उनकी सदा प्रशंसा करते रहते हैं, तो इसमें सीतापतिकी कौन-सी विशेषता है? इस अर्थसे तो कविके कथनका प्रवाह ही टूट जाता है। जरा नीचे लिखे पदमें ऊपरके चरणोंका मिलान कीजियेः—

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन ते पितु, मातु, बन्धु, गुरु, सेवक, सचिव सखाउ।
कहत राम-बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत सङ्ग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ॥
सिला साप-सन्ताप बिगत भइ, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरषि हिय, चरन छुए पछिताउ॥
भव-धनु भञ्जि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जुगवत ज्यौं, निज तनु मरम कुघाउ॥

कपि-सेवा बस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाये सुग्रीव विभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ॥

देखिये, उक्त अर्थसे कविताका भाव कितना शिथिल पड़ गया है। वास्तवमें इसका अर्थ है, 'सुग्रीव और विभीषणको अपना लेनेपर भी उन लोगोंने छलकी छाया नहीं छोड़ी (फिर भी आप उन्हें अपनाये ही रह गये) और भरतजीकी सभामें (भरतसे सुग्रीव और विभीषण की) ससम्मान सराहना करते हुए आपका हृदय तृप्त ही नहीं होता था।' इस अर्थकी पुष्टि रामायणकी यह चौपाई भी कर रही है—

ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राज-सभा रघुबीर बखाने॥

श्री वियोगी हरिजीने बहुतसे स्थलोंपर भावार्थ लिखनेमें अनर्थ तो किया ही है, मूल पदके शब्दोंका अर्थ भी छोड़ दिया है। जैसे—

जो कलिकाल प्रबल अति होतो तुव निदेस तें न्यारो।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो॥

[पद ९४]

इसका भावार्थ आपने लिखा है, यदि 'कलिकाल पराक्रमी होता और आपकी आज्ञा न मानता होता, तो हम लोग तुम्हारी आशा छोड़ देते, तुम्हारा गुणगान भी न करते और क्रोधकर उस बेचारेको जो भला-बुरा कहते हैं, सो भी न कहते, बस, सब झंझट छोड़-छाड़कर उसीका भजन करते, जिससे कमसे कम वह विघ्न-बाधा तो न करता ! ॥' पाठक ही देखें कि नीचेके चरणका कैसा अटकलसे मनमाना अर्थ किया गया है। कैसे विचित्र अन्वयसे अर्थ निकाला गया है, वाह ! इसका सीधा और सरल अर्थ यह है—'यदि कलिकाल आपसे अधिक बलवान् होता और आपकी आज्ञा न मानता होता, तो हे हरे ! मैं बदनामीको छोड़कर उसके क्रोध करनेपर भी उसीका भरोसा रखकर तथा उसके दोषोंको गुण समझकर उसीको भजता।' एक नमूना और देखिये—

जानकीनाथ, रघुनाथ, रागादि-तम-तरनि तारुन्यतनु तेजधामं।
[पद ५१]

भावार्थमें आपने लिखा है, "श्रीजानकी-बल्लभ रघुनाथजी रागद्वेषादिरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिए सूर्यरूप, **तरुण शरीरवाले** तेजके स्थान···।" किन्तु इस बातपर आपने ध्यान नहीं दिया कि श्रीरामजी सदा किशोरावस्थामें रहते हैं, तरुणावस्थामें नहीं। देखिये न गोस्वामीजीने इस ग्रंथके ६२वें पदमें कहा है, 'बिसद, **किसोर**, पीन, सुन्दर बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई।' जो 'तारुन्यतनु' वास्तवमें 'तरनि' शब्दका विशेषण है, उस 'तारुन्यतनु' की कैसी छीछालेदर की गयी है।

कहाँतक कहें, शब्दार्थ और भावार्थकी भूलोंसे तो पुस्तक भरी ही है, कहीं-कहीं अप्रासंगिक टिप्पणियाँ लिखकर व्यर्थ ही पुस्तकका कलेवर बढ़ाया गया है। उदाहरणार्थ १०८ पदकी पहली टिप्पणी देखिये। उस स्थलपर गोस्वामीजीकी गुरु-भक्ति दिखानेकी अपेक्षा गुरु-महिमा या गुरु शब्दकी परिभाषा बतलाना अधिक संगत होता। इस टीकामें उनकी अधिकांश त्रुटियोंपर टिप्पणी दे दी गयी है, अतः यहाँ उनका विस्तृत उल्लेख करना अनावश्यक है। और बातोंको छोड़िये, आपने स्थल-स्थलपर छन्दोभंग दोष दिखलानेका भी दुःसाहस किया है। कई जगह आपको छन्दोभंग दोष दिखाई पड़ा है। समझमें नहीं आता कि गीति-काव्यमें छन्दोभंग दोष देखना कहाँतक ठीक है। यहाँपर इस बातकी चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा कि गीति-काव्य कहते किसे हैं। हमारी तुच्छ बुद्धिमें तो यह आता है कि उन सभी छोटी-मोटी धार्मिक कविताओंको गीति-काव्य कहते हैं जो संगीतके स्वरोंमें आबद्ध हो सकती हैं और छन्दकी निश्चित मात्राओंमें अपनेको नहीं बाँधतीं। इस स्वरूपकी यह विशेषता है कि विशेष मनोवेगोंको प्रकट करनेके लिए तथा दूसरेके हृदयमें भी उन्हीं मनोवेगोंको उत्पन्न करनेके लिए समय और परिस्थितिके अनुकूल राग-रागिनियोंका आधार लिया जाता है[१]।

---

१. किन्तु विनयके पदोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कविने अपने विशेष मनोवेगोंको समय और परिस्थितिके अनुकूल राग-रागिनियोंका आधार लेकर प्रकट तो अवश्य किया है, पर दूसरेके हृदयमें उन मनोवेगोंको उत्पन्न करनेके लिए नहीं। क्योंकि यदि

अस्तु। उक्त टीकाको आद्योपान्त पढ़ जानेके बाद मैंने एक-एककर कई टीकाएँ पढ़ डालीं। उन टीकाओंकी चर्चा करनेसे वक्तव्य बहुत बढ़ जायगा। निश्चय किया कि अभी उक्त ग्रन्थपर टीका लिखनेकी आवश्यकता बनी हुई है। तदनुसार ही मैंने यह टीका लिखनेका प्रयास किया है। मैं जानता हूँ कि इस टीकामें भी बहुत-सी भूलें रह जायँगी। फिर भी इस टीकासे यदि दस-पाँच भ्रामक स्थलोंका भी स्पष्टीकरण हो सका—मेरा विश्वास है कि अवश्य होगा—तो इस टीकाका उद्देश्य सफल हो जायगा। इस टीकाके सम्बन्धमें एक अभिलाषा यह थी कि इसकी भूमिका महामना मालवीयजीसे लिखाऊँगा। इसके लिए मैंने 'सेवा उपवन', काशीमें नियमित रूपसे जा-जाकर पूज्य पण्डितजीको पुस्तकका अधिकांश भाग सुनाया। एक तो वृद्धावस्था, दूसरे कार्याधिक्य; इतनेपर भी मालवीयजी महाराज इसे बड़े प्रेमसे सुनते थे और स्थल-स्थलपर कुछ बातें नोट कराते जाते थे। जैसे, पद १०२ में 'हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों' के स्थानपर 'हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हें', एक स्थानपर 'सरकार' के स्थानपर 'महाराज' इत्यादि। किन्तु पुस्तक निकलनेमें एक तो यों ही वर्षोंकी देर हो चुकी थी, दूसरे भूमिकाके लिए और भी देर होती जा रही थी; भूमिका लिखानेके लिए कितने दिनोंतक रुकना पड़ता, कुछ ठीक नहीं था। अतः मैंने पूज्य पण्डितजीको इसके लिए कष्ट देना उचित नहीं समझा और उनसे भूमिका लिखानेका विचार छोड़ देना पड़ा। यह टीका कैसी है, इसका निर्णय विद्वज्जन स्वयं ही करेंगे।

माघ कृष्ण १०,
सं० १९९५ वि०

देवनारायण द्विवेदी

कविका यह भाव रहा होता तो वह इस ग्रन्थमें भी रामायणकी तरह ठेठ शब्दोंका अधिक प्रयोग न करके प्रचलित शब्दोंका ही प्रयोग करता। हाँ, इससे यदि दूसरेके हृदयमें वे मनोवेग पैदा हो जायँ तो कविने उससे अपनी रचनाको बचानेकी भी चेष्टा नहीं की है। उसने अपने मनोवेगोंको स्वतन्त्र शब्दोंमें प्रकट किया है; इस बातकी परवाह नहीं की है कि ये मनोवेग दूसरेके हृदयमें पैदा होंगे या नहीं। यह बात भी इस पत्रिकाकी विशेषताओंमें है। क्योंकि 'पाती' तो हृदयके ही शब्दोंमें लिखी जानी चाहिये। फिर भी विनयपत्रिकाकी प्रसाद-गुण-युक्त मधुर रचना पाठकोंमें वह मनोवेग पैदा कर ही देती है।

श्रीसीतावल्लभाय नमः

विनय-पत्रिका

राग बिलावल

श्रीगणेश-स्तुति

(१)

गाइये गनपति जगबन्दन। संकर-सुवन भवानी-नन्दन ॥१॥
सिद्धि-सदन, गजवदन, बिनायक। कृपा-सिन्धु, सुन्दर, सब लायक ॥२॥
मोदक-प्रिय, मुद-मंगल-दाता। विद्या-बारिधि, बुद्धि-विधाता ॥३॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥४॥

शब्दार्थ—गनपति = गणोंके स्वामी। संकर = कल्याण करनेवाले, शिवजी। नन्दन = आनन्द बढ़ानेवाले या प्रसन्न करनेवाले। सिद्धि = एक अलौकिक शक्तिका नाम। यह आठ प्रकारकी है—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, ईशित्त्व, वशित्त्व, प्राकाम्य और प्राप्ति। मोदक = दूधसे गुँधे आटेमें मेवा आदि भर कर बनाया गया मिष्टान्नविशेष, लड्डू।

भावार्थ—संसारके वन्दनीय, श्रीगणेशजीका गुणगान कीजिये। वह शिव-पार्वतीके पुत्र हैं, और उनको (माता-पिताको) प्रसन्न करनेवाले हैं ॥१॥ वह अष्टसिद्धियोंके स्थान हैं; उमका मुख हाथीके समान है; वह समस्त विघ्नोंके नायक हैं यानी उनकी कृपासे सब विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं; वह कृपाके समुद्र हैं, सुन्दर हैं और हर तरहसे योग्य हैं ॥२॥ उन्हें मोदक अत्यन्त प्रिय है। वह आनन्द और कल्याणको देनेवाले हैं। वह विद्याके समुद्र और बुद्धिके विधाता हैं ॥३॥ ऐसे मंगलमय गणेशजीसे यह तुलसीदास हाथ जोड़कर केवल यही वर माँगता है कि मेरे मानसमें श्रीराम-जानकी निवास करें ॥४॥

सूर्य-स्तुति

(२)

दीन-दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि, मनुज, सुरासुर सेवा ॥१॥
हिम-तम-करि केहरि करमाली। दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली ॥२॥
कोक-कोकनद-लोक-प्रकासी। तेज - प्रताप - रूप - रस - रासी ॥३॥
सारथि पंगु दिव्य रथ-गामी। हरि-संकर-विधि-मूरति स्वामी ॥४॥
बेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भगति बर माँगै ॥५॥

शब्दार्थ—दिवाकर = सूर्य। हिम = बर्फ। तम = अन्धकार। करि = हाथी। केहरि = सिंह। करमाली = किरणोंकी माला धारण करनेवाले। दहन = अग्नि। दुरित = पाप। रुजाली = रोग-समूह। कोक = चकवा-चकवी। कोकनद = कमल।

भावार्थ—हे दीनोंपर दया करनेवाले सूर्यदेव! मुनि, मनुष्य, देवता और राक्षस सभी आपकी सेवा करते हैं ॥१॥ हे किरणोंकी माला धारण करनेवाले! आप बर्फ और अन्धकाररूपी हाथियोंको मारनेके लिए सिंह हैं। अर्थात् आपकी किरणोंसे बर्फ पिघल जाता है और अन्धकार दूर हो जाता है। दोष, दुःख, पाप और रोग-समूहको आप अग्निके समान जला डालनेवाले हैं ॥२॥ आप चकवा-चकवीको प्रसन्न करनेवाले हैं; अर्थात् उनका रात्रिके कारण उत्पन्न वियोग आपके उदय होते ही नष्ट हो जाता है। चकवा-चकवी सन्ध्या होते ही एक-दूसरेसे अलग हो जाते हैं और सबेरा होते ही फिर मिल जाते हैं। आप कमलको प्रफुल्लित करनेवाले तथा समूचे ब्रह्माण्डको प्रकाशित करनेवाले हैं। आप तेज, प्रताप, रूप और रसकी राशि हैं ॥३॥ आप हैं तो दिव्य रथपर चलनेवाले, पर आपका सारथी (अरुण) पंगु है। हे स्वामी! आप विष्णु, शिव और ब्रह्मा इन त्रिदेवोंके रूप हैं ॥४॥ वेदों और पुराणोंमें आपका यश जगमगा रहा है। तुलसीदास आपसे राम-भक्तिका वर माँगता है ॥ ५ ॥

विशेष

१—पंगु सारथीका रहना सूर्य भगवान्की दीन-दयालुताका परिचायक है।
—भविष्यपुराणमें लिखा है कि सूर्यनारायण सबेरे ब्रह्मरूप, दोपहरके समय

शिव-रूप तथा शामके वक्त विष्णु-रूप रहते हैं। इसीसे गोस्वामीजीने उन्हें 'हरि-संकर-बिधि-मूरति' कहा है।

शिव-स्तुति

(३)

को जाँचिये सम्भु तजि आन

दीनदयालु भगत-आरति-हर, सब प्रकार समरथ भगवान ॥१॥
कालकूट-जुर-जरत सुरासुर, निज प्रन लागि किये बिष-पान।
दारुन दनुज, जगत-दुखदायक, मारेउ त्रिपुर एक ही बान ॥२॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत सन्त, स्रुति, सकल पुरान।
सो गति मरनकाल अपने पुर, देत सदासिव सबहिं समान ॥३॥
सेवत सुलभ, उदार कलपतरु, पारबती-पति परम सुजान।
देहु काम-रिपु राम-चरन रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान ॥४॥

शब्दार्थ—आन = दूसरा, और कोई। आरति = कष्ट। यशवान् = ऐश्वर्यवान्। कालकूट = हलाहल विष। जुर = ज्वाला, ज्वर, ताप। कामरिपु = शिवजी।

भावार्थ—शिवजीको छोड़कर और किससे याचना की जाय? आप दीनों-पर दया करनेवाले, भक्तोंका कष्ट हरण करनेवाले, हर तरहसे समर्थ और ऐश्वर्य-वान् हैं ॥१॥ समुद्र-मंथनके बाद जब हलाहल विषकी ज्वालासे देवता और असुर जलने लगे, तब आप अपनी दीन-दयालुताका प्रण निभानेके लिए उस विषको पान कर गये। संसारको दुःख देनेवाले भयंकर दानव त्रिपुरासुरको आपने एक ही बाणमें मार डाला था ॥२॥ सन्त, वेद और सब पुराण कहते हैं कि जिस गतिकी प्राप्ति महामुनियोंके लिए अगम और दुर्लभ है, वही गति या मुक्ति आप अपने पुरमें अर्थात् काशीमें मृत्युके समय सदैव सबको समभावसे दिया करते हैं ॥ ३ ॥ सेवा करनेमें आप सुलभ हैं यानी सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। हे पार्वतीके पति! हे परमज्ञानी! आप कल्पवृक्षके समान उदार हैं। हे कामदेवको भस्म करनेवाले! हे कृपानिधान! तुलसीदासको श्रीरामजीके चरणोंमें भक्ति दे दीजिये।

विशेष

१—एक बार देवताओं और असुरोंने सुमेरु गिरिकी मथानी और शेषनाग-का दण्ड बनाकर समुद्रका मन्थन किया। मन्थन करनेपर सबसे पहले हलाहल विष निकला। उसकी असह्य ज्वालासे दशों दिशाएँ व्याप्त हो गयीं। देवता और दैत्य त्राहि-त्राहि करने लगे। और कोई उपाय न देखकर सबने भक्तवत्सल भगवान् शंकरकी शरण ली। शिवजी प्रकट हुए और देवों-दैत्योंके कल्याणार्थ उसे पान कर गये। परन्तु शीघ्र ही उन्हें स्मरण हुआ कि उनके हृदयमें ईश्वर अपनी अखिल सृष्टिके साथ विराजमान हैं। अतः उन्होंने उस विषको कण्ठमें ही रोक लिया—नीचे नहीं उतरने दिया। इससे उनका कण्ठ नीला हो गया। तभीसे वह 'नीलकण्ठ' कहलाने लगे।

२—त्रिपुरासुरके घोर अत्याचारसे तीनों लोकोंको पीड़ित देखकर शिवजीने एक ही बाणमें उसे मार गिराया था। तभीसे उनका नाम 'त्रिपुरारि' पड़ा।

३—काशीखण्डमें लिखा है 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' अर्थात् काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है। कहते हैं कि यहाँ मृत्युके समय भगवान् शंकर रामतारक मन्त्रका उपदेश देते हैं, इसलिए उस मनुष्यका अज्ञानान्धकार तत्क्षण दूर हो जाता है और वह ज्ञानोदय होनेके कारण मुक्त हो जाता है।

राग धनाश्री

(४)

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं।
दीनदयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं ॥१॥
मारिकै मार थप्यो जगमें, जाकी प्रथम रेख भट माहीं।
ता ठाकुर को रीझि निवाजिबौ, कह्यो क्यों परत मो पाहीं॥२॥
जोग कोटि करि जो गति हरिसों, मुनि माँगत सकुचाहीं।
वेद-विदित तेहि पद पुरारि-पुर, कीट पतंग समाहीं ॥३॥
ईस उदार उमापति परिहरि, अनत जे जाचन जाहीं।
तुलसिदास ते मूढ़ माँगने, कबहुँ न पेट अघाहीं ॥४॥

शब्दार्थ—दिबोई = देना ही । सोहाहीं = अच्छे लगते हैं । मार = कामदेव । थप्यो = स्थापित किया, रहने दिया । निवाजिबौ = कृपा करना । पुरारि-पुर = काशी । अनत = अन्यत्र । जाँचन = माँगने ।

भावार्थ—शिवजीके समान दानी कहीं (कोई) नहीं है । वह दीनदयालु हैं, देना ही उन्हें अच्छा लगता है । भिखमंगे उन्हें सदैव प्रिय लगते हैं ॥१॥ योद्धाओंमें अग्रगण्य कामदेवको भस्म करके फिर उसे संसारमें रहने दिया, ऐसे प्रभुका रीझकर कृपा करना मुझसे कैसे कहा जा सकता है ! ॥२॥ अनेक तरहसे योगाभ्यास करके मुनिगण जिस मोक्षको भगवान्से माँगनेमें संकोच करते हैं, उस मोक्षपदको शिवकी पुरी काशीमें कीट-पतंगतक पा जाते हैं, यह वेदोंमें विदित या प्रकट है ॥३॥ ऐसे ऐश्वर्यवान् परम उदार शिवजीको छोड़ कर जो लोग अन्यत्र माँगने जाते हैं, वे मूर्ख हैं; तुलसीदास कहते हैं कि उन मूर्खोंका पेट माँगनेसे कभी भी नहीं भरता ॥४॥

विशेष

१—जब शिवजीने कामदेवको भस्म किया, तब कामदेवकी स्त्री रति अत्यन्त दुःखिनी होकर विरह-विलाप करने लगी । इससे महाराज शिवजीको दया आ गयी और उन्होंने कामदेवको अनंग (बिना शरीर) रूपसे संसारमें रहने दिया । इससे उनकी दयालुताका परिचय मिलता है ।

बावरो रावरो नाह भवानी ।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई भानी ॥१॥
निज घर की घर-बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।
सिव की दयी सम्पदा देखत, श्री सारदा सिहानी ॥२॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी ।
तिन रंकन को नाके सँवारत, हौं आयों नकवानी ॥३॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥४॥

प्रेम-प्रसंसा-विनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधि की बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन, जगत-मातु मुसुकानी ॥५॥

शब्दार्थ—बावरो = बावला, पागल। रावरो = आपके। नाह = स्वामी। सिहानी = सिहाती हैं। नाक=स्वर्ग। नकबानी = नाकों दम। भानी (यह भणित शब्दका अपभ्रंश है) = कहा है।

भावार्थ—(शिवजीकी अत्यधिक उदारता देखकर पार्वतीके पास जाकर ब्रह्मा कहने लगे) हे भवानी! आपके पति पागल हैं। वह ऐसे दानी हैं कि जिन्होंने कभी कुछ भी नहीं दिया है, उन्हें भी वे प्रतिदिन दिया करते हैं; (तारीफ तो यह है कि) उनकी यह बड़ाई वेदने कही है ॥१॥ आप परम सयानी हैं, जरा अपने घरकी घरेलू बातको देखिये (देते-देते अपना घर खाली करते जा रहे हैं)। शिवकी दी हुई सम्पत्तिको देखकर लक्ष्मी और सरस्वती भी सिहा रही हैं ॥२॥ जिन लोगोंके ललाटमें मैंने सुखका नाम-निशानतक नहीं लिखा था, उन कंगालोंके लिए स्वर्गकी सजावट करते-करते मेरे नाकोंदम आ गया है ॥३॥ दुखियोंके दुःख और दीनता भी दुखी है; याचकता व्याकुल हो गयी है (क्योंकि अब दुःख, दीनता और याचकताको कहीं भी रहनेके लिए ठौर नहीं है)। यह अधिकार किसी दूसरेको सौंप दीजिये; (मैं इसे नहीं ले सकता) मैं समझ गया कि इस पदका अधिकारी होनेकी अपेक्षा भीख अच्छी है ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि प्रेम, प्रशंसा, विनय और व्यंग्य-भरी ब्रह्माकी सुन्दर वाणी सुनकर शिवजी मन ही मन प्रसन्न हो उठे और जगज्जननी पार्वतीजी मुसकराने लगीं ॥५॥

विशेष

१—इस पदमें 'व्याज-स्तुति' अलंकार है। जहाँ सीधे अर्थको छोड़कर घुमाव-फिरावसे दूसरा भाव प्रकट किया जाता है, वहाँ व्याज या व्यंग्य होता है। निन्दामें स्तुति प्रकट करनेको व्याज-स्तुति कहते हैं और स्तुतिमें निन्दाका भाव प्रकट करनेको व्याज-निन्दा कहते हैं। ये ही इस अलंकारके दो भेद हैं। व्याज-स्तुतिका उदाहरण सामने है। व्याज-निन्दा अलंकारका भी एक उदाहरण ले लीजिये—

नीक दीन हरि सुन्दरताई।

—रामचरितमानस

२—'वेद बड़ाई भानी'—का अर्थ कुछ लोगोंने 'वेदोंकी मर्यादा तोड़कर' किया है। पर यह अर्थ ठीक नहीं। क्योंकि एक तो 'बड़ाई' का अर्थ 'मर्यादा' हो ही नहीं सकता, दूसरे शिवजी वेदोंकी मर्यादाके रक्षक हैं, उसके तोड़नेवाले नहीं। लिखा है:—

वेदानुवर्त्तिनं रुद्रं देवं नारायणं तथा।

—इति कौर्म्मे १३ अध्यायः

३—'निज घरकी घर बात'के स्थानपर कहीं-कहीं 'निज घरकी बर बात' पाठ भी है। इसका अर्थ है अपने घरकी बड़ी बात।

राग रामकली

(६)

जाँचिये गिरिजापति, कासी। जासु भवन अनिमादिक दासी ॥१॥
औढर-दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे ॥२॥
सुख संपति मति सुगति सुहाई। सकल सुलभ संकर-सेवकाई ॥३॥
गये सरन आरत के लीन्हे। निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हे ॥४॥
तुलसिदास जाचक जस गावै। बिमल भगति रघुपति की पावै ॥५॥

शब्दार्थ—अनिमादिक = अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ। औढर-दानि = बिना समझे बूझे बड़ी से बड़ी वस्तुको दे डालनेवाले। द्रवत = पिघल जाते हैं। सुगति = मोक्ष। निमिष = पलभरमें।

भावार्थ—पार्वतीके पति शिवजीसे ही याचना करनी चाहिये। जिनका घर काशीमें है और अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ जिनकी चेरी हैं ॥१॥ एक तो शिवजी औढरदानी हैं, दूसरे थोड़ी ही सेवामें पिघल जाते हैं। वह दीनोंको हाथ जोड़कर (अपने सामने) खड़े नहीं देख सकते ॥२॥ शंकरकी सेवासे सुख, सम्पत्ति, सुबुद्धि और सुन्दर गति आदि सब वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं ॥३॥ उन्होंने आर्त्त होकर शरणमें गये हुए जीवोंको अपना लिया और पलभरमें ही देखते-देखते उन्हें निहाल कर दिया है ॥४॥ याचक तुलसीदास इसी आशासे उनका यश गाता है ताकि उसे श्रीरघुनाथजीकी पवित्र भक्ति मिले ॥५॥

विशेष

१—अनिमादिक—आठ सिद्धियोंमें एक सिद्धिका नाम है। आठ सिद्धियाँ ये हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

(७)

कस न दीन पर द्रवहु उमावर। दारुन बिपति हरन, करुनाकर ॥१॥
बेद पुरान कहत उदार हर। हमरि बेर कस भयउ कृपिनतर ॥२॥
कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज। ह्वै प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ॥४॥
देहु काम-रिपु, राम-चरन-रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेद-मति ॥५॥

शब्दार्थ—कृपिनतर = अधिक कृपण। भेदमति = भेदबुद्धि; 'मैं और मेरा' यही भेद-बुद्धि है।

भावार्थ—हे उमावर! आप मुझ दीनपर क्यों नहीं दयार्द्र होते? आप तो घोर विपत्तियोंको हरनेकी कृपा करनेवाले हैं ॥१॥ वेद और पुराण तो कहते हैं कि शिवजी अत्यन्त उदार हैं; किन्तु मेरी बारी आनेपर आप इतने अधिक कृपण क्यों हो गये? ॥२॥ गुणनिधि नामक ब्राह्मणने कौन-सी भक्ति की थी, जिसे आपने प्रसन्न होकर कैवल्य पद दे डाला? ॥३॥ बड़े-बड़े मुनि जिस मोक्षको दुर्लभ कहते हैं, आपके पुर (काशी) में वह मोक्ष कीट-पतंगोंको भी मिल जाता है ॥४॥ हे कामदेवको दहन करनेवाले शिवजी! तुलसीदासको श्रीरामचरणोंकी भक्ति दीजिये। हे प्रभो! उसकी भेदबुद्धि हर लीजिये ॥५॥

विशेष

१—गोस्वामीजीने शिवजीके लिए उदार दानी तथा काशीमें कीट-पतंगको मुक्त करनेकी बात कई बार कही है। जैसे, 'वेद-विदित तेहि पद पुरारि-पुर, कीट पतंग समाहीं।' 'तव पुर कीट पतंगहु पावहिं।' इससे तुलसीदासजीका यह भाव प्रकट होता है कि क्या शिवजी उन्हें कीट-पतंग समझ कर भी उनकी मनोभिलाषा पूरी न करेंगे? शिवजी बड़े दानी हैं, क्या याचककी माँग पूरी न

करेंगे ? क्योंकि काशीमें ही तो गोस्वामीजी भी रहते थे ! "गाँव बसत वामदेव"—कहा भी है ।

२—गुणनिधि नामक ब्राह्मण चोर था । एक दिन वह घण्टा चुरानेके लिए शिव-मन्दिरमें गया । घण्टा ऊँचा था, अतः उसे खोलनेके लिए वह शिवमूर्त्तिके ऊपर चढ़ गया । शिवजीने प्रसन्न होकर कहा,—माँग वर । और लोग तो पत्र-पुष्प चढ़ाते हैं, पर तूने आज हमपर अपना शरीर ही चढ़ा दिया, इससे हम तुझपर बहुत प्रसन्न हैं । इस प्रकार शिवजीकी कृपासे वह कैवल्य-पदका अधिकारी हो गया ।

(८)

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे ।
किये दूर दुख सबनिके, जिन जिन कर जोरे ॥१॥
सेवा सुमिरन पूजिबो, पात आखत थोरे ।
दियो जगत जहँ लगि सबै, सुख, गज, रथ, घोरे ॥२॥
गाँव बसत बामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे ।
अधिभौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे ॥३॥
वेगि बोलि बलि बरजिये, करतूति कठोरे ।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे ॥४॥

शब्दार्थ—भोरे = भोले । पात = बेलपत्र । आखत = अक्षत । गज = हाथी । बामदेव = शिवजी । किंकर = दास । बरजिये = मना कर दीजिये । सिहोरे = थूहड़का वृक्ष, सेहुड़ ।

भावार्थ—हे शंकर ! आप महादेव हैं, महादानी हैं और बहुत भोले हैं । जिन-जिन लोगोंने आपके सामने हाथ जोड़े, आपने उन सबके दुःख दूर कर दिये ॥१॥ आपकी सेवा, स्मरण और पूजा थोड़े-से बेलपत्र और अक्षतसे ही हो जाती है । उसके बदले आप संसारकी सब सुख-सामग्री—हाथी, रथ, घोड़े इत्यादि दे डालते हैं ॥ २ ॥ हे बामदेव ! मैं आपके गाँव (काशी) में रहता हूँ, पर अबतक आपसे कुछ नहीं माँगा । अब मुझे आधिभौतिक बाधाएँ सता रही हैं, वे आधिभौतिक दुःख आपके दास हैं ॥ ३ ॥ इसलिए आप इन कठोर करतूत-वालोंको शीघ्र बुलाकर मना कर दीजिये, मैं आपकी बलैया लेता हूँ । क्योंकि

ये दुष्ट तुलसीदलको थूहड़की डालियोंसे रूँधना चाहते हैं, तुलसीदासको आधि-भौतिक बाधाएँ कुचल डालना चाहती हैं ॥ ४ ॥

विशेष

१—'अधिभौतिक'—ताप तीन तरहके माने गये हैं, आधिदैविक, आधि-भौतिक और आध्यात्मिक। शारीरिक रोगादि आधिदैविक ताप हैं। किसी प्राणीसे जो कष्ट पहुँचता है, उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं; इसी प्रकार प्रारब्धवशात् दैवेच्छासे जो कुछ भोगना पड़ता है उसे आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

'तुलसी'—यहाँ तुलसी शब्दसे तुलसीदास और तुलसी-वृक्ष दोनोंका ही बोध होता है।

(९)

सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय उदार कीरति, बलि जाउँ, हरहु निज माया ॥१॥
जलज-नयन, गुन-अयन मयन-रिपु, महिमा जान न कोई।
बिनु तव कृपा राम-पद-पंकज, सपनेहुँ भगति न होई ॥२॥
ऋषय, सिद्ध, मुनि, मनुज, दनुज, सुर अपर जीव जग माहीं।
तव पद बिमुख न पार पाव कोउ, कलप कोटि चलि जाहीं ॥३॥
अहि-भूषन, दूषन-रिपु-सेवक, देव-देव, त्रिपुरारी।
मोह-निहार-दिवाकर संकर, सरन सोक-भयहारी ॥४॥
गिरिजा-मन-मानस-मराल, कासीस, मसान-निवासी।
तुलसिदास हरि-चरन-कमल-बर, देहु भक्ति अबिनासी ॥५॥

शब्दार्थ—मयन = कामदेव। अपर = दूसरे। अहि = सर्प। निहार = पाला। मराल = हंस। कासीस = काशीके ईश, शंकरजी।

भावार्थ—हे शिव! हे शिव! प्रसन्न होकर दया करो। आप करुणामय हैं, आपकी यश-कीर्ति सब ओर फैली हुई है। मैं आपकी बलि जाता हूँ, अपनी माया हर लो ॥ १ ॥ हे कमल-नेत्र! आप सर्वगुणसम्पन्न हैं, और कामदेवको भस्म करनेवाले हैं; आपकी महिमा कोई नहीं जानता। आपकी कृपाके बिना

रामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें, स्वप्नमें भी भक्ति नहीं हो सकती ॥ २ ॥ ऋषि, सिद्ध, मुनि, मनुष्य, दैत्य, देवता तथा संसारमें अन्य जितने जीव हैं, आपके चरणोंसे विमुख होकर भव-सागरका पार नहीं पाते—कल्प-कल्पान्त बीतता चला जाता है ॥ ३ ॥ सर्प आपके आभूषण हैं और दूषण दैत्यके मारनेवाले श्रीरामजीके आप सेवक हैं। हे देवाधिदेव, आप त्रिपुरासुरके संहारकर्ता हैं। हे शंकर! आप अज्ञान-रूपी पालाके लिए सूर्य हैं, और शरणागतोंका शोक और भय दूर करनेवाले हैं ॥ ४ ॥ हे काशीपुरीके स्वामी! आप पार्वतीके मन-रूपी मानसरोवरके हंस हैं, और श्मशान-निवासी हैं। तुलसीदासको श्रीहरिके श्रेष्ठ चरणारविन्दोंमें अटल भक्ति दीजिये ॥ ५ ॥

विशेष

१—प्रारम्भमें दो बार 'सिव सिव' कहना आर्त्ति-सूचक है। इसे वीप्सा कहते हैं।

राग धनाश्री

(१०)

मोह-तम तरनि, हर रुद्र संकर सरन, हरन मम सोक लोकाभिरामं।
बाल-ससि भाल, सुविसाल लोचन-कमल, काम-सत-कोटि-लावन्य-धामं
कम्बु-कुन्देन्दु-कर्पूर-विग्रह रुचिर, तरुन-रबि कोटि तनु-तेज भ्राजै।
भस्म सर्वांग अर्धांग सैलात्मजा, ब्याल-नृकपाल-माला विराजै ॥२॥
मौलि संकुल जटा-मुकुट विद्युच्छटा, तटिनि-बर-वारि हरि-चरन-पूतं
स्रवन कुंडल, गरल कंठ, करुनाकन्द, सच्चिदानन्द वन्देऽवधूतं ॥३॥
सूल-सायक-पिनाकासि कर, सत्रु-वन,दहन इव धूमध्वज, वृषभ-जानं
ब्याघ्र-गज-चर्म-परिधान, विज्ञान-घन, सिद्ध-सुर-मुनि मनुज-सेव्यमानं
तांडवित-नृत्यपर, डमरु डिंडिम प्रवर, असुभ इव भाति कल्यानरासी
महा कल्पान्त ब्रह्मांड मंडल दवन, भवन कैलास आसीन कासी ॥५॥
तज्ञ, सर्वज्ञ, जज्ञेस, अच्युत, विभो, विस्व भवदंस संभव पुरारी।
ब्रह्मेन्द्र, चन्द्रार्क, वरुनाग्नि, वसु, मरुत, जम, अर्चि भवदंघ्रि सर्वाधिकारी

अकल, निरुपाधि, निर्गुन, निरंजन ब्रह्म, कर्म-पथमेकमज निर्विकारं ।
अखिल विग्रह, उग्ररूप, सिव, भूप सुर, सर्वगत, सर्व, सर्वोपकारं ॥७॥
ज्ञान-वैराग्य धन-धर्म, कैवल्य-सुख, सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं ।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ, भ्रमत भव विमुख तुव पाद मूलं॥८॥
नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट-रत खेद-गत, दास तुलसी संभु सरन आया ।
देहि कामारि ! श्रीरामपदपंकजे, भक्ति अनवरत गत भेद माया ॥९॥

शब्दार्थ—मम = मेरा । लोकाभिरामं = समूचे संसारको प्रसन्न करनेवाले । बाल ससि = द्वितीयाके चन्द्रमा । कम्बु = शंख । कुन्देन्दु = कुन्द + इन्दु । विग्रह = शरीर । रुचिर = सुन्दर । व्याल = सर्प । मौलि = मस्तक । पूत = पवित्र किया हुआ । तज्ञ = ब्रह्मस्वरूपको जाननेवाले । भवदंघ्रि = आपके चरणोंकी ।

भावार्थ—हे हर, हे रुद्र, हे शंकर ! आप शरणागतजनोंके मोहान्धकारको दूर करनेके लिए सूर्य-स्वरूप हैं । इसलिए हे लोकाभिराम, मेरे शोकको आप दूर कीजिये। आपके ललाटपर दूजके बाल-चन्द्र हैं, आपकी बड़ी-बड़ी आँखें कमलके समान हैं । आप करोड़ों कामदेवके समान सुन्दरताके घर हैं ॥१॥ आपका सुन्दर शरीर शंख, कुन्द, चन्द्रमा और कपूरके समान है । आपके शरीर-में करोड़ों मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेज विराजमान है । आप अंग-प्रत्यंगमें भस्म लगाये रहते हैं और आपके आधे शरीरमें हिमाचल-कन्या पार्वती सुशोभित हैं । आपके गलेमें सर्पों और नर-मुण्डोंकी माला विराजमान है ॥२॥ मस्तकपर जटा-जूटका मुकुट है, उसपर विष्णु भगवान्‌के चरणोंसे पवित्र हुई गंगाजीकी छटा बिजलीके समान चमक रही है। कानोंमें कुण्डल और कण्ठमें हलाहल विष धारण करनेवाले करुणाकन्द, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप अवधूत भगवान् शंकरजी, मैं आपकी बन्दना करता हूँ ॥३॥ आपके हाथमें त्रिशूल, बाण, धनुष और तलवार है । शत्रु-रूपी वनको जलानेके लिए आप अग्निस्वरूप हैं; बैल ही आपकी सवारी है । बाघ और हाथीका चमड़ा आपका वस्त्र है । आप ब्रह्मज्ञानकी वर्षा करनेवाले मेघ हैं । सिद्ध, देवता, मुनि, मनुष्यसे आप सेवित हैं ॥४॥ तांडव नृत्यपर आप डमरू बजाते हैं । उसकी आवाज डिम-डिम-डिम-डिम होती है । (उसीसे व्याकरणके चौदहो सूत्र निकले हैं) आप अशुभके समान जान पड़ते हैं; पर हैं कल्याणमूर्ति । महाप्रलयके समय आप समूचे-

विश्व-ब्रह्माण्डको भस्म कर डालते हैं; कैलास आपका घर है, और काशीमें आप बैठे रहते हैं ॥५॥ आप तत्त्वके जाननेवाले हैं, सर्वज्ञ हैं, यज्ञोंके स्वामी हैं, अच्युत हैं और व्यापक हैं। हे पुरारि, यह विश्व-ब्रह्मांड आपके ही अंशसे उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, अग्नि, अष्टवसु, उनचास पवन और यमराज आपके ही चरणकी पूजा करके सब तरहके अधिकारी हुए हैं ॥६॥ आप कला-रहित (यानी घटते-बढ़ते नहीं), उपाधि-रहित, निर्गुण, माया-रहित साक्षात् ब्रह्म हैं। आप कर्म-पथमें एक हैं। आप जन्म-रहित और विकार-रहित हैं। हे शंकरजी, सारा ब्रह्माण्ड आपका शरीर है, आपका रूप बड़ा भयानक है; आप देवताओंके स्वामी हैं। हे शिव! आप सर्वगत और सबका उपकार करनेवाले हैं ॥७॥ हे शिवजी, आपके प्रसन्न रहनेपर ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म, मोक्ष और सुन्दर सौभाग्य यह सब प्राप्त हो जाते हैं। फिर भी मूर्ख मनुष्य आपके चरणारविन्दोंसे विमुख होकर सांसारिक मार्गपर आरूढ़ हैं और संसारमें ही भटक रहे हैं ॥८॥ हे शम्भो! नष्टबुद्धि, अत्यन्त दुष्ट, कष्टमें लीन और दुःखी तुलसीदास आपकी शरण आया है। हे कामारि! माया-जनित भेद-बुद्धि दूर करके उसे श्रीरामचन्द्रके चरण-कमलोंमें अनन्य भक्ति दीजिये ॥१०॥

विशेष

१—'कम्बु कुन्देन्दु-कर्पूर'—चारोका तात्पर्य उज्ज्वलतासे है। शिवजीका शरीर शंखके समान उज्ज्वल और चिकना है, कुन्दपुष्पके समान कोमल है, चन्द्रमाके समान शीतल है और कपूरके समान सुगन्धित है। इसीसे गोस्वामीजीने 'कम्बु-कुन्देन्दु कर्पूर विग्रह' कहा है।

२—जिस समय विष्णु भगवान्‌ने बामनरूप धारण करके राजा बलिकी दी हुई तीन पैर भूमि नापनेके लिए अपना शरीर बढ़ाया था, उस समय ब्रह्माने पैरको धोकर चरणोदकको कमण्डलुमें रख लिया था। वही जल गंगाका मूल कारण है, इसीसे 'हरिचरण-पूतं' कहा गया है।

३—'निर्विकार'—जन्म, अस्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश ये षट्-विकार हैं; भगवान् शिव इन षट्-विकारोंसे रहित हैं, इसलिए उन्हें निर्विकार कहा गया है।

भैरवरूप शिवस्तुति

(११)

भीषणाकार भैरव भयंकर भूत-प्रेत-प्रमथाधिपति विपति-हरता।
मोह-मूषक-मार्जार, संसार-भय-हरन, तारन-तरन, अभय-करता ॥१॥
अतुल-बल विपुल विस्तार विग्रह गौर, अमल अति धवल धरनीधराभं।
सिरसि संकुलित-कल-जूटपिंगलजटा, पटल सत-कोटि विद्युच्छटाभं॥२॥
भ्राज विबुधापगा आप पावन परम, मौलि-मालेव सोभा विचित्रं।
ललित लल्लाटपर राज रजनीस-कल, कलाधर नौमि हर धनद मित्रं॥३॥
इन्दु-पावक भानु-नयन मर्दन मयन, गुन-अयन ज्ञान-विज्ञान-रूपं।
रवन-गिरिजा भवन भूधराधिप सदा, स्रवन कुंडल वदन छवि अनूपं॥४॥
चर्म्म-असि-सूल-धर, डमरु-सर-चाप कर, जान वृषभेस करुना-निधानं।
जरत सुर-असुर नर-लोक सोकाकुलं, मृदुलचित अजित कृत गरलपानं॥५॥
भस्म तनु भूषनं, व्याघ्र चर्माम्बरं, उरग-नर-मौलि उर-मालधारी।
डाकिनी साकिनी खेचरं भूचरं जंत्र मंत्र भंजन प्रबल कल्मषारी ॥६॥
काल अतिकाल कलिकाल व्यालाद खग, त्रिपुर-मर्दन भीम कर्मभारी।
सकल लोकान्त-कल्पान्त सूलाग्रकृत, दिग्गजाव्यक्त गुन नृत्यकारी॥७॥
पाप-सन्ताप घनघोर-संसृति दीन भ्रमत जग-जोनि नहिं कोपि त्राता।
पाहि भैरव रूप राम रूपी रुद्र, बन्धु, गुरु, जनक जननी विधाता ॥८॥
यस्य गुन-गन गनति विमलमति सारदा, निगम नारद प्रमुख ब्रह्मचारी।
सेस सर्वेस आसीन आनन्द-वन, दास तुलसी प्रनत त्रासहारी ॥९॥

शब्दार्थ—एक भैरव = शिवजीका एक नाम। वामन पुराणके ६७ वें अध्यायमें अष्ट भैरवका उल्लेख है। विग्रह = शरीर। मार्जार = बिलाव। धरनीधर = शेषनाग अथवा हिमालय पर्वत। कल = सुन्दर। पटल = समूह, राशि। विबुधापगा = देवनदी गंगा। मौलि = मस्तक। धनद = कुबेर। मयन = कामदेव। स्रवन = कान। चर्म = ढाल। वृषभ + ईस = बैलोंमें श्रेष्ठ नन्दी। खेचर = आकाशमें विचरण करनेवाले। कल्मष + अरि = पापको भस्म करनेवाले। व्याल + आद = साँपको भक्षण करनेवाले। कोपि = कोई भी। निगम = वेद।

भावार्थ—हे भीषणाकार भैरव! हे भयंकर भूत-प्रेत और गणोंके स्वामी!

आप विपत्तियोंको हरनेवाले हैं। आप अज्ञानरूपी चूहेका नाश करनेवाले बिलाव हैं; संसारका भय हरनेवाले हैं; संसारके जीवोंको तारनेवाले और स्वयं मुक्त-स्वरूप तथा अभयदान करनेवाले हैं ॥१॥ आपके बलकी तुलना नहीं की जा सकती। आपका अत्यन्त विशाल गौर शरीर बहुत निर्मल है और उसकी उज्ज्वलता हिमालय पर्वतकी कान्तिके समान है। सिरपर पीले रंगका सुन्दर जटाजूट सुशोभित है जिसकी आभा करोड़ों बिजलियोंकी राशिके समान है ॥२॥ मस्तकपर मालाके समान गंगाजीका परम पवित्र जल विराजमान है, जिसकी शोभा ही विचित्र है। आपके सुन्दर ललाटपर निशानाथ चन्द्रमाकी कला शोभित है। ऐसे कुबेरके मित्र शिवजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥ चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य आपके नेत्र हैं; आप कामदेवको जला चुके हैं; आप गुणोंके भण्डार हैं और ज्ञान-विज्ञानस्वरूप हैं। हे गिरिजा-रमण, आपका भवन कैलास-पर्वत है; आप सदैव कानोंमें कुण्डल धारण किये रहते हैं; आपके मुखकी छबि अनुपम है ॥४॥ आप अपने हाथमें ढाल, तलवार, शूल, डमरू, बाण और धनुष धारण किये रहते हैं। नन्दी नामक बैल आपकी सवारी है और आप करुणाके भण्डार हैं। (करुणा-निधान होनेके कारण ही आपने) विषकी अजेय ज्वालासे देव-दैत्य और मनुष्यलोकको जलते हुए तथा शोकमें व्याकुल देखकर उसे पान कर लिया था,—ऐसे आप कोमल चित्तवाले हैं ॥५॥ भस्म ही आपके शरीरका आभूषण है, बाघका चमड़ा ही वस्त्र है; आप अपने हृदयपर सर्पों और नरमुण्डोंकी माला धारण किये हुए हैं। डाकिनी, शाकिनी, खेचर, भूचर तथा यन्त्र-मन्त्रका आप नाश करनेवाले हैं। बड़े-बड़े पापोंके तो आप शत्रु हैं ॥६॥ आप कालके महाकाल हैं, कलिकालरूपी सर्पको भक्षण करनेके लिए गरुड़ हैं। आप त्रिपुरासुरको मारनेवाले तथा बड़े-बड़े भयंकर कर्म करनेवाले हैं। आप सब लोकोंके नाशक, तथा महाप्रलयके समय अपने त्रिशूलकी नोकसे दिशारूपी हाथियोंको छेदकर निर्गुणरूपसे नृत्य करनेवाले हैं ॥७॥ इस पाप-सन्तापसे परिपूर्ण भयानक संसारकी चौरासी लाख योनियोंमें मैं दीन होकर भ्रमण कर रहा हूँ, मेरी रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है। हे भैरवरूप! हे रामरूपी रुद्र! मेरी रक्षा कीजिये; क्योंकि मेरे बन्धु, गुरु, पिता, माता और विधाता आप ही हैं ॥८॥ निर्मल बुद्धिवाली सरस्वती, वेद और नारदके समान प्रधान ब्रह्मचारी

तथा शेषनाग जिनकी गुणावलीका वर्णन करते हैं, ऐसे सर्वेश्वर, आनन्दवन (काशी) में विराजमान भयको हरनेवाले शिवजीको तुलसीदास प्रणाम करता है ॥९॥

विशेष

१—शिवजीका भैरवरूप चतुर्भुजी कहा गया है कालिकापुराणके ६० वें अध्यायमें लिखा है—

भैरवः पाण्डुनाथश्च रक्तगौरश्चतुर्भुजः ।

किन्तु यहाँ गोस्वामीजीने उस रूपका वर्णन न करके किसी और ही रूपका वर्णन किया है।

२—धरनीधराभं—का अर्थ 'शेषनागकी कान्तिके समान' भी किया जा सकता है।

३—'भैरवरूप रामरूपी रुद्र'—कहनेका आशय यह है कि भैरवरूपसे संसारका भय दूर कीजिये और रामरूपसे मुझे अपनाइये। दनुज-वधके समय भगवान्का रुद्ररूप था।

(१२)

संकरं सम्प्रदं सज्जनानन्ददं, सैल-कन्या-वरं परम रम्यं ।
काम-मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं ॥१॥
कम्बु-कुन्देन्दु-कर्पूर-गौरं शिवं, सुन्दरं सच्चिदानन्द कन्दं ।
सिद्ध-सनकादि योगीन्द्र-वृन्दारका, विष्णु-विधि-वन्द्य चरनारविन्दं ॥२॥
ब्रह्म कुल बल्लभं, सुलभमति दुर्लभं, विकट वेषं विभुं, वेदपारं ।
नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं, निर्मलं निर्गुनं निर्विकारं ॥३॥
लोकनाथं सोकसूल निर्मूलिनं, सूलिनं मोह-तम-भूरि-भानुं ।
कालकालं, कलातीतमजरं हरं, कठिन कलिकाल कानन कृसानुं ॥४॥
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घटसम्भवं, सर्वगं सर्वसौभाग्यमूलं ।
प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जनरंजनं, दासतुलसी सरन सानुकूलं ॥५॥

शब्दार्थ—तामरस = कमल । कन्द = मेघ । वृन्दारका = देवता । विभु = व्यापक । निर्विकार = विकाररहित । भानु = सूर्य । कृसानु = अग्नि । तज्ञ = तत्त्ववेत्ता । पाथोधि = समुद्र । घट-सम्भव = घड़ेसे उत्पन्न, अगस्त्य ऋषि ।

भावार्थ—कल्याणकर्ता, कल्याणदाता, सज्जनोंको आनन्द देनेवाले, पार्वती-जीके स्वामी, अत्यन्त सुन्दर, कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले, कमलके समान नेत्रवाले भावगम्य शिवजीको मैं भजता हूँ ॥१॥ आपका सुन्दर शरीर शंख, कुन्द, चन्द्रमा और कपूरके समान गौर है। आप सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप हैं। आपके चरणारविन्दकी वन्दना सिद्ध, सनकादि (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), बड़े-बड़े योगी, देवता, विष्णु और ब्रह्मा करते हैं ॥२॥ आपको ब्राह्मण-कुल प्रिय है अथवा ब्रह्मवंशके आप परमप्रिय हैं; आपका प्राप्त होना सुलभ भी है और दुर्लभ भी। आपका वेष विकट है; आप व्यापक हैं और वेदोंके ज्ञानसे परे हैं। ऐसे करुणाकर, हलाहल विष और गंगाजीको धारण करनेवाले, निर्मल, निर्गुण और निर्विकार शिवजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥ आप सब लोकोंके स्वामी, शोकों और दुःखोंको निर्मूल करनेवाले, त्रिशूलधारी और मोहान्धकारको दूर करनेके लिए अनन्त सूर्यके समान हैं। आप कालके भी काल और कलातीत अर्थात् सदा एकरस और अजर हैं। शिवजी कठिन कलिकालरूपी वनको भस्म कर डालनेके लिए अग्नि-स्वरूप हैं ॥४॥ आप तत्त्ववेत्ता हैं और, अज्ञानरूपी समुद्रको पी जानेके लिए साक्षात् अगस्त्य हैं। आप सर्वान्तर्यामी हैं और सब प्रकारके सौभाग्यके मूल कारण हैं। आप संसारके जन्म-मरणरूपी दुःखोंका नाश करनेवाले, तथा शरणागतोंको आनन्द देनेवाले हैं। सेवक तुलसीदास आपकी शरण है—उसपर कृपा कीजिये ॥५॥

विशेष

'पाथोधि-घट-सम्भवं'—समुद्रके तटपर एक टिटिहा अपनी टिटिहरीके साथ निवास करता था। समुद्र उनके अण्डे बराबर बहा ले जाता था। इससे एक बार वे दोनों समुद्रपर बहुत क्रुद्ध हुए। दोनों ही चोंचमें बालू भर-भरकर लगे समुद्रमें छोड़ने। इस प्रकार वे समुद्रको पाट डालना चाहते थे। अचानक वहाँ अगस्त्य ऋषि पहुँच गये। पक्षियोंका दुःख देखकर उनका दिल भर आया। उन्होंने उन्हें सान्त्वना देते हुए 'ॐ राम' मन्त्रका उच्चारण कर तीन बार आच-मन किया। तीन ही आचमनमें समुद्रका जल बिलकुल सूख गया। इससे जलमें रहनेवाले जीव व्याकुल हो उठे। देवताओंके विनय करनेपर महर्षिने मूत्र-द्वारा समुद्रको बाहर निकाला। तभीसे समुद्र अपेय (खारा) हो गया।

'निर्विकार'—विकार छः हैं—जन्म, अस्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश। इन छः विकारोंसे भगवान् शिव रहित हैं।

राग बसन्त

(१३)

सेवहु सिव-चरन-सरोज-रेनु। कल्यान-अखिल-प्रद कामधेनु ॥१॥
कर्पूर गौर करुना उदार। संसार-सार, भुजगेन्द्र हार ॥२॥
सुख-जन्म-भूमि, महिमा अपार। निर्गुन, गुन-नायक, निराकार ॥३॥
त्रय नयन, मयन-मर्दन महेस। अहंकार निहार उदित दिनेस ॥४॥
वर बाल निसाकर मौलि भ्राज। त्रैलोक-सोकहर प्रमथराज ॥५॥
जिन्ह कहँ बिधि सुगति न लिखी भाल। तिन्हकी गति कासीपति कृपाल ॥६॥
उपकारी कोऽपर हर समान। सुर-असुर जरत कृत गरल पान ॥७॥
बहु कल्प उपायन करि अनेक। बिनु संभु कृपा नहिं भव-विवेक ॥८॥
विज्ञान-भवन, गिरिसुता-रवन। कह तुलसिदास मम त्रास समन ॥९॥

शब्दार्थ—रेनु = रज, धूल। अखिल = सब। भुजगेन्द्र = वासुकि नाग। निहार = कुहरा, पाला। दिनेस = सूर्य। निसाकर = चन्द्रमा। प्रमथनाथ = गणोंके स्वामी। कोऽपर = (कः + अपर) दूसरा कौन। गरल = विष।

भावार्थ—शिवजीके चरण-कमलोंकी रजका सेवन करो, वह रज सर्व कल्याणदायिनी कामधेनु है ॥१॥ शिवजी कपूरके समान गौर हैं। वह करुणा करनेमें उदार हैं; संसारके सार हैं और वासुकि नागका हार धारण करनेवाले हैं ॥२॥ वह सुखके जन्म-स्थान हैं, उनकी महिमा अपार है। वह त्रिगुणातीत हैं, सब गुणोंके स्वामी हैं और आकार-रहित हैं ॥३॥ शिवजी तीन नेत्रवाले हैं, कामदेवको ध्वंस करनेवाले हैं और अहंकाररूपी कुहरेके लिए उगे हुए सूर्य हैं ॥४॥ उनके मस्तकपर दूजके चन्द्रमा शोभा पा रहे हैं। वह तीनों लोकोंका शोक दूर करनेवाले हैं और गणोंके स्वामी हैं ॥५॥ ब्रह्माने जिन लोगोंके ललाटमें अच्छी गति नहीं लिखी, शिवजी ऐसे कृपालु हैं कि उन्हें भी मुक्ति दे देते हैं ॥६॥ देवों और दैत्योंको जलते देखकर जिन्होंने हलाहल

विष पान किया, ऐसे महादेवजीके समान उपकारी संसारमें दूसरा कौन है ? ॥७॥ कल्प-कल्पान्ततक अनेक तरहके उपाय क्यों न करो, शिवजीकी कृपाके बिना संसारका विवेक यानी संसारके सत्-असत् आदिका ज्ञान नहीं हो सकता ॥८॥ तुलसीदास कहते हैं कि विज्ञानके घर तथा पार्वतीके पति शिवजी मेरे भयका नाश करनेवाले हैं ॥९॥

विशेष

१—'निर्गुन'का अर्थ अशरीरी या निराकार भी है। किन्तु इस पदमें आगे निराकार भी कहा गया है, इसलिए यहाँ निर्गुनका अर्थ त्रिगुणातीत करना ही अधिक संगत है। सत्त्व-रज-तम ये ही तीन गुण हैं जिनसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है।

२—'निराकार'—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंसे बने हुए शरीरसे रहित।

३—'भव-विवेक'—इसका शाब्दिक अर्थ है संसारके स्वरूपका निश्चय। आशय यह कि शिव-कृपाके बिना वास्तविक ज्ञान—सत् और असत्का बोध नहीं होता।

(१४)

देखो देखो, वन बन्यो आजु उमाकन्त।
मानो देखन तुमहि आयी ऋतु बसन्त ॥१॥
जनु तनुदुति चम्पक-कुसुम-माल। वर बसन नील नूतन तमाल ॥२॥
कल कदलि जंघ पद कमल लाल। सूचत कटि केहरि, गति मराल ॥
भूषन प्रसून बहु विविध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव विहंग ॥४॥
कर नवल बकुल-पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लता-जाल ॥५॥
आनन सरोज, कच मधुप गुंज। लोचन विसाल नवनील कंज ॥६॥
पिक बचन चरित वर बरहि कीरि। सित सुमन हास, लीला समीर७
कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचे पंचबान ॥८॥
करि कृपा हरिय भ्रम फन्द काम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम९

शब्दार्थ—उमाकन्त = शिवजी। तनुदुति = शरीरकी कान्ति। चम्पक = चम्पा। कदलि = केला। केहरि = सिंह। मराल = हंस। प्रसून = पुष्प। विहँग = पक्षी। बकुल = मौलसिरी। रसाल = आम। श्रीफल = बेल। कंचुकि = चोली। कच = बाल। पिक = कोयल। बरहि = मोर। कीर = तोता। सित = सफेद। पंचबान = कामदेव।

भावार्थ—हे शिवजी, देखिये, देखिये! आज आप वन बने हैं। मानो आपको देखनेके लिए वसन्त ऋतु आयी है। (शिवजीके अर्द्धांगमें जो पार्वतीजी विराजमान हैं, वही मानो वसन्त ऋतु हैं)॥१॥ महारानीजीके शरीरकी कान्ति मानो चम्पाके फूलोंकी माला है और श्रेष्ठ नीले वस्त्र नवीन तमाल-पत्र हैं॥२॥ सुन्दर जंघाएँ केलेके वृक्ष और चरण लाल कमल हैं। कमर सिंहकी और चाल हंसकी सूचना दे रही है॥३॥ गहने रंग-विरंगे अनेक तरहके फूल हैं। नूपुर (पैजनी) और किंकिनि (करधनी) का मधुर शब्द पक्षियोंका शब्द है॥४॥ हाथ मौलसिरी और आमकी नवीन कोंपल हैं। स्तन ही बेल हैं और चोली लताओंका जाल है॥५॥ जगन्माताका मुख कमल है और उनके सिरके बाल गुंजारते हुए भौंरे हैं। उनके बड़े-बड़े नेत्र नवीन नीले कमल हैं॥६॥ मधुरवाणी कोयल है और चरित्र सुन्दर मोर तथा तोते हैं। हँसी सफेद फूल और लीला शीतल-मन्द-सुगन्ध त्रिविध वायु है॥७॥ तुलसीदास कहते हैं कि हे परम ज्ञानी शिवजी! सुनिये, इस कामदेवने मेरे हृदयमें वासकर बड़ा प्रपंच रच रखा है॥८॥ इस कामके भ्रम-फन्दको हटा दीजिये, जिसमें मेरे हृदयमें सुखकी राशि श्रीरामजी निवास करें॥९॥

विशेष

१—इस पदमें गोस्वामीजीने अर्द्धनारी-नटेश्वर शिव-पार्वतीका वर्णन वन और वसन्तका रूपक बाँधकर किया है। भक्तशिरोमणि गोस्वामीजीको मातेश्वरी पार्वतीजीका स्पष्टतया नख-शिख वर्णन करना अनुचित जान पड़ा, इसलिए उन्होंने इस अनूठे ढंगसे काम लिया है। इस रूपकमें कवि-कुल-चूड़ामणि तुलसीदासजीने कमाल किया है। वनकी कोई भी वस्तु छूटने नहीं पायी है। वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, सिंह, हंस, पक्षी, भ्रमर सब मौजूद हैं। यहाँतक कि कमलका लाल, पीला और नीला रङ्ग भी नहीं छूटने पाया है।

२—'सित सुमन हास'—नवरसके वर्णनमें साहित्यकारोंने हास्यका रङ्ग सफेद लिखा है। यथाः—

"स्वेत रङ्ग रस हास्य को, देव प्रमथपतिजास"।

इसीसे गोस्वामीजीने इसकी उपमा सफेद फूलोंसे दी है।

३—इस पदमें उत्प्रेक्षालङ्कार है। उत्प्रेक्षा नाम है तुलना, बराबरी या वैसी ही भावनाका। इसका लक्षण इस प्रकार हैः—

सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना।

....

प्रायोऽब्जं त्वत्पदेनैक्यं प्राप्तुं तोये तपस्यति॥

—कुवलयानन्द

अथवा—केशव औरहि वस्तुमें औरै कीजे तर्क।
उत्प्रेक्षा तासों कहैं जिनकी बुधि सम्पर्क॥

देवी-स्तुति

राग मारू

(१५)

दुसह दोष-दुख दलनि, करु देवि दाया।
बिस्व-मूलाऽसि, जन-सानुकूलाऽसि, कर सूलधारिनि महामूलमाया १
तड़ित गर्भाङ्ग सर्वाङ्ग सुन्दर लसत, दिव्य पट भव्य भूषन बिराजैं।
बालमृग-मंजु खञ्जन-बिलोचनि, चन्द्रवदनि लखि कोटि रतिमार लाजैं
रूप सुख-सील-सीमाऽसि, भीमाऽसि, रामाऽसि,वामाऽसिवरबुद्धिबानी
छमुख-हेरंब-अंबासि, जगदंबिके, संभु-जायासि जय जय भवानी॥३॥
चंड-भुजदंड-खंडनि, बिहंडनि महिष, मुंड-मद-भंगकर अंग तोरे।
सुंभ निःसुंभ कुंभीस रन केसरिनि, क्रोध-वारीस अरि-वृन्द बोरे॥४॥
निगम-आगम अगम गुर्वि तव गुन-कथन,उर्विधर करत जेहि सहसजीहा
देहि मा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम घनस्याम तुलसी पपीहा॥५

शब्दार्थ—मूलासि = (मूल + असि) जड़ हो। महामूल माया = मायाकी उत्पन्न

करनेवाली हो। तड़ित = बिजली। भीमासि = दुर्गा हो। रामासि = लक्ष्मी हो। वामासि = स्त्रीस्वरूपा हो। छमुख = कार्त्तिकेय। हेरंब = गणेशजी। कुंभीस = गजराज। केसरिनि = सिंहिनी। गुर्बि = बहुत बड़ा। उर्बिधर = शेषनाग।

भावार्थ—हे असह्य दोषों और दुःखोंका नाश करनेवाली देवि! मुझपर दया करो। तुम विश्व-ब्रह्माण्डकी आदिस्थान हो, भक्तोंपर कृपा करनेवाली हो, हाथमें त्रिशूल धारण किये रहती हो और मायाकी जन्मदात्री आद्या-शक्ति हो ॥१॥ तुम्हारे सुन्दर शरीरके अंग-प्रत्यंगमें बिजलीकी-सी चमक शोभा पा रही है, तुम्हारे वस्त्र दिव्य हैं (अर्थात् वे वस्त्र न कभी गन्दे होते हैं और न पुराने ही) और भव्य आभूषण तुम्हारे शरीरपर विराजमान हैं। हे मृगशावक और खंजनके समान मनोहर नेत्रवाली! हे चन्द्रमुखी! तुम्हें देखकर करोड़ों रति और कामदेव लज्जित होते हैं ॥२॥ तुम रूप, सुख और शीलकी सीमा हो। तुम्हीं भीमा नाम दुर्गा हो और तुम्हीं लक्ष्मी हो; तुम हो तो स्त्री-स्वरूपा, पर तुम वाणी और बुद्धिमें श्रेष्ठ हो। तुम कार्त्तिकेय और गणेशजीकी माता हो, जगज्जननी हो और शिवजीकी पत्नी हो। हे भवानी! तुम्हारी जय हो, जय हो! ॥३॥ तुम चंड नामक दैत्यके भुजदण्डोंको टुकड़े-टुकड़े करनेवाली हो और महिषासुरको मारनेवाली हो। मुण्ड नामक राक्षसके घमण्डको चूरकर तुमने उसके अंग-अंगको तोड़ डाला था। शुम्भ और निशुम्भ गजराजोंको युद्धमें मारनेके लिए तुम सिंहिनी हो। तुमने अपने क्रोधरूपी समुद्रमें शत्रुके झुंडको डुबो दिया है ॥४॥ वेद-शास्त्र और हजार जीभवाले शेष तुम्हारा गुण गाते हैं, किन्तु तुम्हारे अगम यानी अपार गुणका पार पाना बड़ा कठिन है। हे माता! तुम मुझे ऐसा प्रण और प्रेम दो, जिसमें मैं अपना यह नेम बना लूँ कि श्रीरामचन्द्रजी श्याम घन हैं और तुलसीदास पपीहा है।

विशेष

१—'भीमा'—नाम दुर्गाका है। यथाः—

तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्त्तयः।
भीमा देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥

इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये।

२—'वामा'—शब्दका अर्थ कई टीकाकारोंने पार्वती किया है। पर अमर-कोशमें इस शब्दका अर्थ 'सामान्य स्त्री' पाया जाता है। पुराणोंमें यह शब्द दुर्गाके लिए प्रयुक्त हुआ है, पार्वतीके लिए नहीं। यथाः—

वामं विरुद्धरूपन्तु विपरीतन्तु गीयते।
वामेन सुखदा देवी वामा तेन मता बुधैः॥

इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः।

अथवा—

या पुनः पूज्यमानातु देवादीनान्तु पूर्वतः।
यज्ञभागं स्वयं धत्ते सा वामा तु प्रकीर्त्तिता॥

इति कालिका पुराणे ७७ अध्यायः।

किन्तु आगेके पदमें गोस्वामीजीने पार्वतीकी स्तुति की है, इसलिए यह पद भी पार्वतीकी ही स्तुतिमें लिखा गया प्रतीत होता है। क्योंकि शिवकी स्तुतिके बाद किसी अन्य देवीकी स्तुति और उसके बाद पार्वतीकी स्तुति असंगत है। इस स्तुतिमें ग्रन्थकारने दुर्गा और पार्वतीमें अभेद सम्बन्ध माना है।

३—मार्कण्डेय और देवीपुराणमें चण्ड, मुण्ड, महिषासुर और शुम्भ-निःशुम्भ नामक प्रबल पराक्रमी दैत्योंकी कथा है। जब इनके अत्याचारोंसे तीनों लोक थर्रा उठा, तब सब देवताओंने तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेशने आद्या शक्ति भगवती महामायाकी स्तुति की। देवीने उक्त राक्षसोंका वध करके संसारमें शान्ति स्थापित की।

राग रामकली

(१६)

जय जय जगजननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
मुक्ति-मुक्ति-दायिनि, भय-हरनि कालिका।
मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्वसर्वरीस वदनि,
ताप-तिमिर तरुन तरनि-किरन मालिका॥१॥

वर्म-चर्म कर कृपान, सूल-सेल-धनुष बान,
धरनि, दलनि, दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना-पिसाच-प्रेत-डाकिनि-साकिनि समेत,
भूत-ग्रह-बेताल-खग-मृगालि-जालिका ॥२॥

जय महेस-भामिनी, अनेक-रूप-नामिनी,
समस्त-लोक स्वामिनी, हिमसैल-बालिका।
रघुपति-पद परम प्रेम, तुलसी यह अचल नेम,
देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत-पालिका ॥३॥

शब्दार्थ—भुक्ति=भोगैश्वर्य। पर्वसर्वरीस=(पर्व+शर्वरी+ईश) पूर्णिमाकी रात्रिके स्वामी, चन्द्रमा। तरुन=मध्याह्नकाल। तरनि=सूर्य। मालिका=माला। सेल=साँगी। मृगालि=मृगसमूह। भामिनी=पत्नी।

भावार्थ—हे जगज्जननी! हे देवि! तुम्हारी जय हो, जय हो। देवता, मनुष्य, मुनि और असुर सभी तुम्हारी सेवा करते हैं। हे कालिके! तुम भोग-सामग्री और मोक्ष दोनों देनेवाली हो। कल्याण, आनन्द और अष्टसिद्धियोंकी तुम स्थान हो। तुम हो तो पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान मुखवाली, पर त्रिताप-रूपी अन्धकारका नाश करनेके लिए मध्याह्नकालीन सूर्यकी किरण-माला हो ॥१॥ तुम्हारे शरीरपर कवच है और हाथोंमें ढाल, तलवार, त्रिशूल, साँगी और धनुष-बाण है। तुम युद्धमें विकराल रूप धारण करके पृथ्वीके दानव-दलका संहार करनेवाली हो। पूतना, पिशाच, प्रेत, डाकिनी, शाकिनीके सहित भूत, ग्रह और बेतालरूपी पक्षी एवं मृग-समूहको पकड़नेके लिए तुम जालरूप हो ॥२॥ हे शिवे! तुम्हारी जय हो। तुम्हारे नाम और रूप अनन्त हैं। तुम विश्व-ब्रह्मांड-की स्वामिनी और हिमाचलकी कन्या हो। हे भक्तोंका पालन करनेवाली! तुलसीदास तुम्हारी शरणमें है। उसे तुम प्रसन्न होकर श्री रघुनाथजीके चरणोंमें परम प्रेम और अचल नेम दो।

गंगा-स्तुति

राग रामकली

(१७)

जय जय भगीरथ-नन्दिनि, मुनि-चय-चकोर-चन्दिनि,
नर-नाग-बिबुध-वन्दिनि, जय जह्नु-बालिका।
बिस्नु-पद-सरोज जासि, ईस-सीस पर बिभासि,
त्रिपथगासि, पुन्य-रासि, पाप-छालिका ॥१॥
बिमल-बिपुल-बहसि बारि, सीतल त्रयताप-हारि,
भँवर बर बिभंगतर तरंग-मालिका।
सुर जन पूजोपहार, सोभित ससि धवल धार,
भंजन भव-भार, भक्ति-कल्पथालिका ॥२॥
निज तटवासी बिहंग, जल-थल-चर पसु-पतंग,
कीट, जटिल तापस सब सरिस पालिका।
तुलसी सब तीर तीर सुमिरत रघुबंस-बीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका ॥३॥

शब्दार्थ—नन्दिनि = पुत्री। चय = समूह। त्रिपथगासि = पृथिवी, पाताल और स्वर्ग-लोकके मार्गोंसे जानेवाली हो। छालिका = धोनेवाली। बिभंगतर = अत्यन्त चञ्चल। थालिका = थाल्हा, खन्तोला।

भावार्थ—हे भगीरथ-नन्दिनी गंगे! तुम्हारी जय हो, जय हो। तुम मुनि-समूहरूपी चकोरोंके लिए चन्द्रिकारूप हो। मनुष्य, नाग और देवता तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे जाह्नवी! तुम्हारी जय हो। तुम विष्णु भगवान्‌के चरण-कमलोंसे उत्पन्न हुई हो; शिवजीके मस्तकपर शोभा पा रही हो; तुम आकाश, पाताल और मर्त्यलोक तीनों मार्गोंमें तीन धाराओंसे बहती हो। तुम पुण्य-राशि हो और पापोंको धो डालनेवाली हो ॥१॥ तुम शीतल और दैहिक-दैविक-भौतिक तीनों तापोंको हरनेवाला अथाह निर्मल जल धारण किये हो। तुम सुन्दर भँवर

तथा अत्यन्त चंचल तरंगोंकी माला धारण किये रहती हो। पुरवासियोंने तुम्हें पूजामें जो सामग्री भेंट की है, उससे चन्द्रमाके समान तुम्हारी उज्ज्वल धारा सुशोभित है। वह धारा संसारके भारको नाश करनेवाली तथा भक्तिरूपी कल्प-वृक्षके लिए थाल्हा है ॥२॥ तुम अपने किनारेपर रहनेवाले पक्षी, जलचर, थलचर, पशु, पतंग, कीड़े-मकोड़े तथा जटाधारी तपस्वी सबका समान रूपसे पालन करती हो। हे मोहरूपी महिषासुरका वध करनेके लिए कालिकारूप गंगे! मुझ तुलसीदासको ऐसी बुद्धि दो कि जिससे मैं श्रीरामजीका स्मरण करता हुआ तुम्हारे किनारे-किनारे विचरण कर सकूँ ॥३॥

विशेष

१—'भगीरथ-नन्दिनि'—सूर्यवंशमें सगर नामके महापराक्रमी राजा थे। उनकी दो रानियाँ थीं। एकसे अंशुमान् पैदा हुए और दूसरीसे साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए। राजा सगरके प्रतापसे देवराज इन्द्र सदैव संत्रस्त रहा करता था। उसने ईर्ष्यावश राजा सगरके अश्वमेध यज्ञका घोड़ा चुरा लिया और उसे ले जाकर योगेश्वर कपिलमुनिके आश्रमपर बाँध दिया। उस घोड़ेको ढूँढ़नेके लिए सगरके साठ हजार पुत्र निकले। मुनिके आश्रमपर घोड़ेको बँधा देखकर उन्हें कटु वाक्य कहा। इससे कपिलदेवजीने क्रुद्ध होकर उन्हें भस्म कर दिया। महाराज अंशुमान्के पुत्र भगीरथ हुए। उन्होंने घोर तपस्या की और श्रीगङ्गाजीको पृथ्वीपर लाकर उन लोगोंका उद्धार किया। इसीसे श्रीगङ्गाजीको 'भगीरथ नन्दिनी' या 'भागीरथी' कहा जाता है।

२—'जह्नु बालिका'—राजा भगीरथ अपने रथके पीछे-पीछे गङ्गाजीको भूलोकमें ला रहे थे। मार्गमें जह्नु मुनिका आश्रम मिला। मुनिने कुपित होकर उस प्रवाहको पान कर डाला। जब राजा भगीरथने स्तुति द्वारा उन्हें प्रसन्न किया, तब मुनिने संसारके कल्याणार्थ गङ्गाजीको अपनी जङ्घासे निकाल दिया। इसीसे गङ्गाजीका नाम 'जह्नुसुता' या 'जाह्नवी' पड़ा। लिखा है:—

जानु द्वारा पुरा दत्ता जह्नु सम्पीय कोपतः।
तस्य कन्यास्वरूपा च जाह्नवी तेन कीर्त्तिता॥

—ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डम्।

(१८)

जयति जय सुरसरी जगदखिल-पावनी।
बिस्नु-पदकञ्ज-मकरन्द इव अम्बुवर
वहसि, दुख दहसि अघवृन्द-विद्राविनी ॥१॥
मिलित जलपात्र-अज जुक्त-हरिचरन रज,
विरज-वर-वारि त्रिपुरारि सिर-धामिनी।
जह्नु-कन्या धन्य, पुन्य कृत सगर-सुत,
भूधर द्रोनि-विद्दरनिबहु नामिनी ॥२॥
जच्छ, गन्धर्व, मुनि, किन्नरोरग, दनुज,
मनुज मज्जहिं सुकृत-पुञ्ज जुत-कामिनी।
स्वर्ग-सोपान, विज्ञान-ज्ञानप्रदे,
मोह-मद-मदन-पाथोज-हिम यामिनी ॥३॥
हरित गम्भीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विसद, विस्व-अभिरामिनी।
नील-परजंक-कृत-सयन सर्पेस जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर-स्वामिनी ॥४॥
अमित-महिमा, अमित रूप, भूपावली,
मुकुट-मनिवंद्य त्रैलोक पथ गामिनी।
देहि रघुवीर-पद-प्रीति निर्भर मातु,
दास तुलसी त्रास हरनि भव-भामिनी ॥५॥

शब्दार्थ—पावनी = पवित्र करनेवाली। मकरन्द = मधु। विद्राविनी = नाश करनेवाली। विरज = निर्मल। द्रोनि = कन्दरा। विद्दरनि = विदीर्ण करनेवाली। किन्नरोरग = (किन्नर + उरग) किन्नर और नाग। पाथोज = कमल। वानीर = बेंत वृक्ष। विसद = उज्ज्वल। परजंक = पर्यङ्क, पलंग।

भावार्थ—हे समूचे संसारको पवित्र करनेवाली गंगे! तुम्हारी जय हो, जय हो। तुम विष्णु भगवान्‌के चरण-कमलोंमें मधुके समान सुन्दर जल धारण करनेवाली हो, दुःखोंको जला डालनेवाली हो और पाप-पुंजको नाश करनेवाली हो ॥१॥ विष्णु भगवान्‌की चरण-रजसे संयुक्त तुम्हारा निर्मल (रजोगुणका नाश

करके सतोगुण उत्पन्न करनेवाला) और सुन्दर जल ब्रह्माके कमण्डलुमें भरा रहता है। तुमने शिवजीके मस्तकको ही अपना घर बना रखा है। हे अनन्त नामवाली जाह्नवी! तुमने राजा सगरके साठ हजार पुत्रोंको धन्य और पवित्र कर दिया है। तुमने पहाड़ोंकी कन्दराओंको विदीर्ण कर डाला है ॥२॥ बड़े पुण्यके फलसे यक्ष, गन्धर्व, मुनि, किन्नर, नाग, दैत्य और मनुष्य अपनी स्त्रियोंके सहित तुम्हारे जलमें स्नान करते हैं। तुम स्वर्गकी सीढ़ी हो और ज्ञान-विज्ञान-दायिनी हो। तुम मोह, मद और कामरूपी कमलोंके नाशके लिए शिशिर ऋतुकी रात हो ॥३॥ तुम्हारे दोनों सुन्दर किनारोंपर हरे और घने बेंतके वृक्ष हैं और बीचमें संसारको प्रसन्न करनेवाली उज्ज्वल धारा है; यह दृश्य ऐसा प्रतीत होता है कि मानों नीले पलंगपर शेषनाग सो रहे हैं। हे देवताओंकी स्वामिनी श्रीगंगाजी! तुम्हारे हजारों स्रोत शेषनागके हजार मस्तकके समान हैं ॥४॥ हे त्रिपथगे! तुम्हारी महिमा अपार है, रूप असंख्य हैं, तुम राजाओंकी मुकुट-मणियोंसे वन्दनीय हो। हे माता! हे शिव-प्रिये! तुम भयको हरनेवाली हो; तुलसीदासको श्रीरामजीके चरणोंमें पूर्ण प्रीति दो ॥५॥

विशेष

'जह्नुकन्याधन्य'—पद १७ के विशेष'में देखिये।

१—'नील पर्यङ्क'—इस पूरी पंक्तिमें उत्प्रेक्षालङ्कार है। दोनों किनारोंका हरित गम्भीर बेत वृक्ष ही नीला पलंग है; गङ्गाजीकी धवल धारा मानो शेषनाग है; क्योंकि शेषका वर्ण उज्ज्वल है और गङ्गाकी धारा भी उज्ज्वल है। गङ्गा भी हजारों धाराओंसे समुद्रमें मिली हैं; अतः वे धाराएँ ही मानो शेष-नागके हजार फन हैं।

२—'भव-भामिनी'—हिमवानके दो कन्याएँ हुईं। बड़ीका नाम गङ्गाजी और छोटीका नाम उमा था। गङ्गाजीको लोक-कल्याणार्थ देवता लोग माँग ले गये और उमाका विवाह शिवजीके साथ हुआ। जब बहुत दिनोंतक उमासे कोई सन्तान नहीं हुई, तब शिवजीने सन्तानोत्पत्तिके लिए तेज छोड़ा। उस तेजको श्रीगङ्गाजीने धारण किया। उससे कार्त्तिकेयकी उत्पत्ति हुई। देवताओं-ने उनके दूध पिलानेका भार षट्कृत्तिकाको दिया। षट्कृत्तिकाने उनके

पालनका भार इस शर्तपर लिया कि वह षट्कृत्तिकाके ही पुत्र कहे जायँ। देवलोकने इस शर्तको स्वीकार कर लिया। फिर क्या था, षट्कृत्तिकाने स्वामिकार्त्तिकको दूध पिलाकर सयाना दिया। इसीसे उनका नाम कार्त्तिकेय पड़ा। यही कारण है कि गोस्वामीजीने गंगाजीको 'भव-भामिनी' अर्थात् शिव-प्रिया कहा है। महाराजाधिराज श्रीरघुराजसिंहने भी रामस्वयम्बरमें गंगाजीको शिव-प्रिया लिखा है। यथाः—

"गंगा जेठी उमा दूसरी देवी शम्भु पियारी।
जेहिविधि गमनी गंग सुरालै सो सब दियो उचारी॥

(१९)

हरनि पाप त्रिविध ताप सुमिरत सुरसरित।
बिलसति महि कल्प-बेलि मुद, मनोरथ फरित॥१॥

सोहत ससि धवल धार सुधा-सलिल-भरित।
बिमलतर तरंग लसत रघुबर केसे चरित॥२॥

तो बिनु जगदंब गंग कलिजुग का करित?
घोर भव-अपार सिंधु तुलसी किमि तरित॥३॥

शब्दार्थ—सुरसरित=देवनदी गंगाजी। बिलसति=शोभित। सलिल=जल। भरित=परिपूर्ण। तो=तुम्हारे।

भावार्थ—हे गंगाजी! स्मरण करते ही तुम कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों पापों और दैहिक, दैविक, भौतिक इन तीनों दुःखोंको हर लेती हो। आनन्द और मनोरथरूपी फलोंसे लदी हुई कल्पलताके समान तुम पृथ्वीपर सुशोभित हो॥१॥ अमृतरूपी जलसे परिपूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारी जो उज्ज्वल धारा शोभायमान है, उसमें राम-चरितके समान अत्यन्त निर्मल तरंगें शोभा पा रही हैं॥२॥ हे जगज्जननी गंगे! यदि तुम न होतीं, तो कलियुग न-जानें क्या कर डालता! उस अवस्थामें तुलसीदास इस भयंकर और अपार संसार-सागरसे कैसे तरता!॥३॥

विशेष

१—यहाँ प्रारम्भमें लिखा है कि गंगाजीके स्मरणमात्रसे ही तीनों तरहके ताप दूर हो जाते हैं। अतः गुसाईंजीने आगे 'सोहत ससि···चरित' में ही स्मरणके लिए गंगाजीका स्वरूप भी दिखा दिया है। भविष्य पुराणमें गंगाजीका ध्यान करनेके लिए उनके स्वरूपका बृहद् वर्णन है।

(२०)

ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ-पताल-धरनि।
सुर-नर-मुनि-नाग-सिद्ध-सुजन-मंगल-करनि ॥१॥
देखत दुख-दोष-दुरित-दाह-दारिद-दरनि।
सगर-सुवन-साँसति-समनि, जलनिधि जल-भरनि ॥२॥
महिमा की अवधि करसि बहु विधि-हरि-हरनि।
तुलसी करु बानि विमल, विमल बारि बरनि ॥३॥

शब्दार्थ—ईस = शिवजी। दुरित = पाप। दाह = त्रिताप। दरनि = नाश करनेवाली। साँसति = क्लेश। बरनि = वर्ण या रङ्ग।

भावार्थ—तुम शिवजीके मस्तकपर रहती हो और आकाश, पाताल तथा पृथिवी—इन तीनों मार्गोंमें सुशोभित हो। देवता, मनुष्य, मुनि, नाग, सिद्ध और सुजनोंका तुम कल्याण करनेवाली हो ॥१॥ तुम्हारे दर्शनमात्रसे ही दुःखों, दोषों, पापों, तापों और दरिद्रताका नाश हो जाता है। तुम सगर-पुत्रोंके क्लेशों-का नाश करनेवाली और समुद्रमें जल भरनेवाली हो ॥२॥ तुमने ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी महिमाकी सीमा बहुत बढ़ा दी है। हे मातेश्वरी गंगे! जिस प्रकार तुम्हारे जलका वर्ण निर्मल है, उसी प्रकार तुलसीदासकी वाणीको भी तुम निर्मल कर दो जिससे वह श्रीरामजीके चरितका गान कर सके।

विशेष

१—'विधि-हरि-हरनि'—ब्रह्माके कमण्डलुमें रहनेके कारण गङ्गाजीने ब्रह्मकमण्डली, विष्णुके चरणोंसे निकलनेके कारण विष्णुपदी तथा शिवजीके मस्तकपर रहनेके कारण शिवजटा-विहारिणी नाम धारण किया। इससे तीनों देवताओंका महत्त्व चरम सीमापर पहुँच गया है।

२—'महिमा की अवधि करसि'—वास्तवमें गङ्गाजीकी महिमा अपार है। देखिये यमराज भी हैरान हो रहा है:—

गङ्गके चरित्र लखि भाषे जमराज इमि एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुममें कान दे।
कहै पद्माकर ये नरकनि मूँदि करि मूँदि दरवाजनको तजि यह ध्यान दे॥
देखु यह देवनदी कीन्हे सब देव याते दूतन बुलायकै विदाके वेगि पान दे।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ खाता खति जान दे बहीको बहि जान दे॥

यमुना-स्तुति

राग बिलावल

(२१)

जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत-सुभट कलि-भूपहिं, निदरि लगे बहु काढ़न॥१॥
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन है आढ़न।
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघ मेघ लागे डाढ़न॥२॥

शब्दार्थ—सुकृत = पुण्य। सुभट = अच्छे योद्धा। निदरि = अपमान करके। आढ़ = आड़। जगदघ = (जगत्+अघ) संसारका पाप। जवास = जवासा या हिंगुआ। अनघ = (अन्+अघ) पाप-रहित। डाढ़न = जलाने लगे।

भावार्थ—वर्षाकालमें यमुनाजी ज्यों-ज्यों बढ़ने लगीं, त्यों-त्यों पुण्यरूपी योद्धा कलिकालरूपी राजाका अत्यन्त निरादर करते हुए उसे निकालने लगे॥१॥ बाढ़के कारण ज्यों-ज्यों यमुनाजीका जल मैला होने लगा, त्यो-त्यों यमदूतोंका मुख भी मलिन होने लगा; अन्तमें उन्हें किसीकी भी आड़ न रही। तुलसीदास कहते हैं कि जैसे पुण्यरूपी मेघ संसारके पापरूपी हिंगुएको जलाने लगे॥२॥

विशेष

१—'जमगन मुख मलीन' पर ग्वाल कविने कहा है:—

भाषै चित्रगुप्त सुनि लीजै अर्ज यमराज कीजिये हुकुम अब मूँदें नर्क द्वारे को।
अघम अभागे औ कृतघ्नी कूर कलहिन करत कन्हैया कर्न-कुंडल समारे को॥

ग्वाल कवि अधिक अनीतें विपरीतें भई दीजिये तुराय वेगि कुलपकिवारे को।
हम ना लिखैंगे बही गमना जु खैहैं हम जमुना बिगारें देत कागज हमारे को ॥

कासी-स्तुति

राग भैरव

(२२)

सेइय सहित सनेह देह-भरि, कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक-संताप-पाप-रुज, सकल सुमंगल-रासी ॥१॥
मरजादा चहुँ ओर चरन वर, सेवत सुरपुर-वासी।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अविनासी ॥२॥
अंतरऐन ऐन भल, थन फल, बच्छ वेद-बिस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु, लूम लसति सरिताऽसी ॥३॥
दंडपानि भैरव बिषान, मलरुचि-खलगन-भयदा-सी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा-सी ॥४॥
मनिकर्निका बदन-ससि सुन्दर, सुरसरि-सुख सुखरा-सी।
स्वारथ परमारथ परिपूरन, पंचकोसि महिमा-सी ॥५॥
बिस्वनाथ पालक कृपालु चित, लालति नित गिरिजा-सी।
सिद्धि, सची, सारद पूजहिं, मन जोगवति रहति रमा-सी ॥६॥
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा-सी।
ब्रह्म-जीव-सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-विकासी ॥७॥
चारितु चरति करम कुकरम करि, मरत जीवगन घासी।
लहत परम पद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच-उदासी ॥८॥
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति कला-सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ॥९॥

शब्दार्थ—अन्तर अयन = अन्तरगृही। बच्छ = बछड़ा। गलकंबल = गायके गलेमें लटकती हुई खाल, यानी ललरी। बिभाति = शोभित। लूम = पूँछ। बिषान = सींग।

लोलदिनेस = लोलार्क कुण्ड । त्रिलोचन = काशीमें एक तीर्थका नाम । मणिकर्णिका = एक स्थानका नाम है । लालति = प्यार करती है । सची = इन्द्राणी । माधव = बिन्दुमाधव । गव्य = पंचगव्य; गोबर, गोमूत्र, गोदधि, गोदुग्ध और गोघृतका मिश्रण । चारितु = चारा । प्रपंच = संसार । सुपासी = समीपवासी या कल्याण ।

भावार्थ—कलियुगमें काशीपुरी कामधेनुके समान है । शरीरकी अवधितक काशीरूपी कामधेनुका सेवन करना चाहिये । यह शोक, सन्ताप, पाप और रोगका नाश करनेवाली तथा कल्याणोंकी खान है ॥१॥ काशीके चारों ओरकी मर्यादा अर्थात् चौहद्दी ही कामधेनुके श्रेष्ठ चरण हैं; देवलोक-वासी उन चरणोंकी सेवा करते हैं । यहाँके सब तीर्थस्थान ही इसके पवित्र अंग हैं, और अविनाशी अगणित शिवलिंग ही रोम हैं ॥२॥ अंतर्गृही इसके रहनेके लिए बढ़िया घर है, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष—ये चारों फल ही चार थन हैं, और वेदपर विश्वास रखनेवाले लोग ही बछड़े हैं (अर्थात् जिस प्रकार बछड़ेसे गाय पेन्हाकर दूध देती है, उसी प्रकार वेद-वचनमें जो विश्वास है, उस विश्वासरूपी बछरूसे यह गाय ईश्वर-प्राप्तिरूप दूध देती है) । वरुणा नदी ही मानों ललरी होकर सुशोभित हो रही है और असी नदी पूँछके रूपमें विराजमान है ॥३॥ दण्डपाणि और भैरव इसके दो सींग हैं । यह कामधेनु अपने इन दोनों सींगोंसे पापमें रुचि रखनेवाले दुष्टोंको भयभीत करती रहती है । लोलार्क कुण्ड और त्रिलोचन (एक तीर्थ) ये दो नेत्र हैं कर्णघंटा नामका स्थान इसके गलेमें बँधा हुआ घंटारूप है ॥४॥ मणिकर्णिका नामका स्थान चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख है और गंगाजीसे जो सुख प्राप्त हो रहा है, वही इसकी शोभा है । स्वार्थ और परमार्थसे परिपूर्ण पंचकोसीकी परिक्रमा ही महिमा है ॥५॥ कृपालुचित्त विश्वनाथजी इसका पालन करनेवाले हैं और पार्वती-जैसी देवी इसका सदैव लालन करती रहती हैं । अष्टसिद्धियाँ, इन्द्राणी और सरस्वती इसकी पूजा करती हैं और लक्ष्मी-सरीखी तीनों लोककी स्वामिनी इसका रुख देखती रहती हैं ॥६॥ पंचाक्षरी मन्त्र ही इसका पंचप्राण है, भगवान् बिन्दुमाधव आनन्द हैं और पंचनदी (पंचगंगा) पंचगव्यरूप हैं । संसारको विकसित करनेवाले रामनामके दोनों अक्षर ब्रह्म और जीवके समान हैं ॥७॥ यहाँ सुकर्म और कुकर्म करके जितने प्राणी मरते हैं, उनका वह शुभ-अशुभ कर्मरूपी घास ही इसका चारा है—उसीको यह चरा

करती है। उस चारेको खाकर यह कामधेनु मोक्ष-रूपी पवित्र दूध देती है। उसे वे मरनेवाले प्राणी पीते हैं। वह मोक्षरूपी दूध इतना दुर्लभ है कि उसके लिए संसारमें उदासीन महात्मागण झींखते हैं ॥८॥ पुराणोंका कथन है कि भगवान् बिन्दुमाधवने अपने हाथोंसे इसकी रचना की है, उनकी यह कारीगरी कलारूप है। तुलसीदास कहते हैं कि यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो काशीमें रहकर श्रीरामजीका नाम जप ॥९॥

विशेष

१—'अंतर्गृही'—पद्मपुराणमें काशीके चार विभाग किये गये हैं। काशी, वाराणसी, अविमुक्त और अन्तर्गृही। मध्यमेश्वर और देहली विनायकके बीच मण्डलाकार भूमिको काशी कहा गया है। यहाँ मृत्यु होनेसे सालोक्य (शिवलोक) मुक्ति प्राप्त होती है। उत्तरमें बरुणा, दक्षिणमें असी नदी, पूरबमें गङ्गाजी और पश्चिममें पाशपाणि गणेशके बीचकी भूमिको वाराणसी कहते हैं। यहाँ मृत्यु होनेसे सारूप्य मुक्ति होती है। विश्वनाथजीके चारों ओर दो सौ धन्वा (एकधन्वा = ४ हाथ) का दायरा अविमुक्त कहलाता है। यहाँकी मृत्युसे सान्निध्य (सामीप्य) मुक्ति प्राप्त होती है। पश्चिम गोकर्णेश, पूरब गङ्गा, उत्तर भारभूत और दक्षिण ब्रह्मेश, इसके बीचकी भूमिको शिवजीका अन्तर्गृह माना गया है। यहाँकी मृत्युसे साक्षात् कैवल्य अर्थात् शिवस्वरूपकी प्राप्ति होती है। गोस्वामीजीने यहाँ उसी अन्तर्गृहीका उल्लेख किया है।

२—'करनघंट'—काशीमें एक शिव-भक्त ब्राह्मण था। वह शिवजीके सिवा दूसरे किसी भी देवताका नाम नहीं सुनना चाहता था। इसीसे उसने अपने दोनों कानोंमें घंटे लटका रखे थे ताकि उसे किसी दूसरेका नाम सुनाई न पड़े। यदि कोई मनुष्य उसके सामने किसी दूसरेका नाम लेता तो वह घंटा बजाते हुए दूर भाग जाता। इसीसे उसका नाम 'करनघंट' पड़ गया था। जिस स्थानपर वह रहता था, वह स्थान काशीमें आज भी कर्णघंटाके नामसे प्रसिद्ध है।

३—'पंचाच्छरी'—'नमः शिवाय' यही पंचाक्षरी मन्त्र है।

४—'प्राण'—पाँच हैं:—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

५—'गव्य'—पंचगव्यमें गायका दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र—ये पाँच वस्तुएँ हैं।

६—इस पदमें रूपकालंकारका लक्षण यह है:—

उपमेयरु उपमान को इक करि कहत जु रूप।
सो रूपक द्वै भाँति को, मिलि अभेद तद्रूप॥ (पद्माभरण)

अर्थात् उपमेय और उपमानको एक करके कहनेको रूपक (रूपं स्वभावे; मनोहर कृतौ) कहते हैं। इसके अभेद और तद्रूप दो भेद हैं। इनमें प्रत्येकके तीन-तीन (१ अधिक, २ न्यून, ३ सम) उपभेद हैं।

अभेदके उदाहरण

अभेद अधिक—नव बिधु बिमल तात जस तोरा।
रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥
(रा० च० मा०)

अभेद न्यून—अति खल जे विषयी बक कागा।

अभेद सम—तुव मुख पंकज विमल यह, धरत सुवास अछेह।

तद्रूपके उदाहरण

तद्रूप अभेद—विष वारुनी बंधुप्रिय तेही। कहिय रमा सम किमि वैदेही॥

तद्रूप न्यून—राममात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥

तद्रूप सम—लषन उतरु आहुति सरित, भृगुपति कोप कृसानु।

सूचना—जहाँ उपमेयको उपमान मानकर उपमानसे ही उसकी तुलना की जाती है, उसे तद्रूप रूपक और जहाँ उपमेयको उपमान मानकर उसकी तुलना उपमानसे नहीं की जाती, उसे अभेद रूपक अलङ्कार कहते हैं।

चित्रकूट-स्तुति

राग बसन्त

(२३)

सब सोच-विमोचन चित्रकूट। कलिहरन, करन कल्यान बूट॥१॥
सुचि अवनि सुहावनि आलबाल। कानन विचित्र, बारी बिसाल॥२॥

मंदाकिनि-मालिनि सदा सींच । बर बारि, बिषम नर नारि नीच ॥३॥
साखा सुसृंग, भूरुह-सुपात । निरझर मधुबर, मृदु, मलय बात ॥४॥
सुक पिक, मधुकर मुनिवर-बिहारु । साधन प्रसून, फल चारि चारु ॥५॥
भव-घोर घाम-हर सुखद छाँह । थप्यो थिर प्रभाव जानकी-नाह ॥६॥
साधक-सुपथिक बड़े भाग पाइ । पावत अनेक अभिमत अघाइ ॥७॥
रस एक, रहित-गुन-करम-काल । सिय राम लखन पालक कृपाल ॥८॥
तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम । सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ॥९॥

शब्दार्थ—बूट = हरा वृक्ष । बारी = बगीचा । भूरुह = पेड़ । मलय = चन्दन । बात = हवा । नाह = स्वामी । अघाइ = तृप्त होना या पूर्ण होना ।

भावार्थ—सब शोकोंसे छुड़ानेवाला चित्रकूट (पर्वत) कलिका नाश करनेवाला और कल्याण करनेवाला हरा वृक्ष है ॥१॥ वहाँकी पवित्र भूमि उस वृक्षके लिए सुहावना थाल्हा है। बगीचोंमें अपूर्व वृक्ष हुआ करते हैं। चित्रकूटके चारों ओर जो विचित्र वन है, वही बड़ा बगीचा है ॥२॥ जिस प्रकार मालिन जल-सिंचनके समय किसी खास वृक्षके प्रति पक्षपात नहीं करती और न तो किसीकी उपेक्षा, उसी प्रकार मन्दाकिनी नदी रूपी मालिन अपने श्रेष्ठ जलसे, वहाँ निवास करनेवाले सभी अच्छे-बुरे (ऊँच-नीच) नर-नारियोंका हमेशा समान भावसे पोषण करती है ॥३॥ चित्रकूट पर्वतके सुन्दर शिखर ही उस वृक्षकी शाखाएँ हैं और उसके ऊपरके वृक्ष ही उत्तम पत्ते हैं। झरनोंसे झरनेवाला श्रेष्ठ और मीठा जल ही मृदु मलय वायु है, और हवा ही उसकी कोमलता है ॥४॥ वहाँ बिहार करनेवाले मुनीश्वर ही तोता, कोयल और भौंरे हैं। उन मुनीश्वरोंकी नाना प्रकारकी साधनाएँ ही उस वृक्षके पुष्प हैं और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये ही चार सुन्दर फल हैं ॥५॥ उस वृक्षकी सुखदायिनी छाया संसारकी जन्ममृत्यु-रूपी कड़ी धूपको हरनेवाली है। जानकी-वल्लभ श्रीरामने वहाँ निवास करके उसके प्रभावको और भी स्थायी कर दिया है ॥६॥ साधकरूपी उत्तम बटोही बड़े भाग्यसे उसे प्राप्त करते हैं और पाते ही उनकी नाना प्रकारकी आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥७॥ वह गुण, कर्म और कालसे रहित एवं एकरस रहनेवाला है। कृपालु सीता, राम और लक्ष्मण उनके रक्षक हैं। तुलसीदास कहते हैं कि

यदि तू श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम चाहता है, तो उपाधि-रहित नेमसे चित्रकूट पर्वतका सेवन कर।

विशेष

१—'बारी' शब्दका प्रयोग विहार, संयुक्तप्रान्त और अवधमें बगीचेके अर्थमें ही किया जाता है। यथा 'बारी बगीचा' 'खेती-बारी'। वास्तवमें यह शब्द ऐसे बगीचोंके लिए आता है, जिनमें श्रेणी-बद्ध वृक्ष क्यारियोंमें नहीं लगे रहते; अथवा कुछ वृक्ष श्रेणीबद्ध लगे हुए होते हैं, और कुछ यत्र-तत्र लगे रहते हैं। ऐसे बगीचेको भी 'बारी' ही कहते हैं। 'वियोगी हरि' ने 'बारी' शब्दका अर्थ किया है, 'खेतों या वृक्षोंके चारों तरफ लगाये हुए कांटेदार पेड़, जिनसे पशु आदिसे उनकी रक्षा रहती है।' यह अर्थ करनेमें आपने बुन्देलखंडी भाषा-की शरण ली है।

२—'थप्यो थिर प्रभाव'—श्रीरामजीके निवाससे चित्रकूटकी महिमा बहुत बढ़ गयी, इसीसे वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे चित्रकूटमें रहनेकी प्रार्थना की थी। यथाः—

'चलहु सफल सुभ सबकर करहू। राम देहु गौरव गिरिवरहू॥'

जहाँ-जहाँ श्रीरामजीका चरण पड़ा, वह भूमि धन्य हो गयी। जैसेः—

'धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ-जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा॥'

३—'मंदाकिनि-मालिनि···बात' सब टीकाकारोंने इसका अर्थ बड़ा ही विचित्र किया है। मालिनके ही जलसे चित्रकूट वृक्षका सिंचन कराया है। वियोगी हरिजी भला कब चूकने लगे? इन्होंने तो ऐसा अर्थ लिखा है जिससे कोई बात ही स्पष्ट नहीं होती।

राग कान्हरा

[२४]

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल मगु, विलसत बढ़त मोह-माया-मलु॥१॥
भूमि बिलोकु राम-पद अंकित, वन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु।
सैल-सृंग भवभंग-हेतु लखु, दलन कपट-पाखंड-दंभ-दलु॥२॥

जहँ जनमे जग-जनक जगतपति, बिधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच छलु ।
सकृत प्रबेस करत जेहि आस्रम, बिगत-बिषाद भये पारथ नलु ॥३॥
न करु बिलम्ब बिचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगिले पलु ।
मंत्र सो जाइ जपहि जो जपि भे, अजर अमर हर अचइ हलाहलु ॥४॥
रामनाम-जप-जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु ।
करिहैं राम भावतो मन को, सुख-साधन, अनयास महाफलु ॥५॥
कामद मनि कामता-कलप तरु, सो जुग-जुग जागत जगतीतलु ।
तुलसी तोहि बिसेषि बूझिये, एक प्रतीति-प्रीति एकै बलु ॥६॥

शब्दार्थ—भवभंग=संसार-बन्धनसे छुटकारा । सकृत=एक बार । पारथ=पृथाके पुत्र युधिष्ठिर आदि । नलु=राजा नल । अचई=पीकर । कामद=सब इच्छाएँ पूरी करनेवाला । जगतीतलु=पृथिवीतलपर ।

भावार्थ—हे चित, अब तू चेतकर चित्रकूटको चल । कलिने कुपित होकर कल्याण-मार्गों (ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि) का लोप कर दिया है । इससे मोह, माया और पापोंकी वृद्धि विशेषरूपसे शोभा पा रही है ॥१॥ चल, रे चित्त, तू श्रीरामजीके चरणोंसे अंकित भूमिको देख; श्रीरघुनाथजीके विहार-स्थल वनका अवलोकन कर । वहाँ कपट, पाखंड और दम्भके समूहका नाश करनेवाले तथा संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके कारणस्वरूप पर्वतके शिखरोंको देख ॥२॥ जहाँ जगत्पिता जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और महेशने छल-प्रपंच छोड़कर जन्म लिया है, जिस आश्रममें एक बार प्रवेश करते ही युधिष्ठिरादि पाण्डवों तथा राजा नलका दुःख दूर हो गया था ॥३॥ वहाँ चलनेमें देर न कर और अच्छी बुद्धिसे विचार तो कर कि शेष आयुका प्रत्येक पल बीती हुई आयुके वर्षके समान है । वहाँ जाकर तू उस मन्त्रको जप जिसे जपकर शंकरजी हलाहल विष पीनेपर भी अजर और अमर हो गये ॥४॥ यदि तू वहाँ नित्यप्रति रामनामका जपरूपी यज्ञ करता रहेगा, तपस्विनी नदीके पवित्र जलमें स्नान करता रहेगा तथा उसका जल पीता रहेगा, तो श्रीरामजी तेरी मनोवाञ्छा पूरी कर देंगे और इस सुखमय साधनसे तुझे अनायास ही महाफल (अपने चरणोंमें भक्ति) प्रदान करेंगे ॥५॥ चित्रकूटमें कामतानाथ पर्वत ही सब इच्छाएँ पूरी करनेवाला कल्पवृक्ष और चिन्तामणि है; वह युग-युगसे पृथिवीतलपर प्रकाशमान है । यों तो चित्रकूटका प्रभाव प्रत्येक

मनुष्यको जानना चाहिए, पर हे तुलसीदास, तुझे विशेषरूपसे समझना चाहिए; क्योंकि तुझे उस एकहीका विश्वास, प्रेम और भरोसा है ॥६॥

विशेष

१—'जहँ जनमे हरिहर'—चित्रकूटमें महर्षि अत्रि और उनकी पतिव्रता धर्मपत्नी अनुसूया देवीने पुत्र-कामनासे घोर तपस्या की। ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगनेको कहा। अनुसूयाने यह वर माँगा कि मेरे गर्भसे तुम्हारे समान पुत्र उत्पन्न हों। तीनों देवता 'तथास्तु' कहकर अन्तर्द्धान हो गये। उसके बाद ब्रह्माने चन्द्रमाके रूपमें, विष्णुने दत्तात्रेयके रूपमें और शिवने दुर्वासाके रूपमें अनुसूयाके गर्भसे जन्म लिया।

२—'परिहरि प्रपंच छलु'—का आशय यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवने अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य (उत्पत्ति, पालन और संहार) छोड़कर निश्छल भावसे जन्म लिया।

३—'पारथ नलु'—जुएमें हारकर राजा नल और युधिष्ठिरादि पाण्डव वन-वन भटकते हुए चित्रकूटमें पहुँचे थे। उन लोगोंने कामतानाथकी पूजा की थी और अपनी मनोभिलाषा पूर्ण करनेके लिए प्रार्थना की थी। उस समय पाण्डवोंने यह संकल्प किया था कि यदि हम लोग युद्धमें दुर्योधनको हरा देंगे तो फिर आकर कामतानाथगिरिका पूजन करेंगे। परिणाम यह हुआ कि राजा नल और धर्मराज युधिष्ठिरकी मनोभिलाषा पूरी हो गयी। यह कथा चित्रकूट-माहात्म्यमें विस्तारपूर्वक है।

४—'महाफलु'—का अर्थ है 'राम-पद-प्रेम'। क्योंकि अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये चारों फल हैं। यदि यहाँ इसका अर्थ केवल मोक्ष किया जाय, जैसा कि अधिकांश टीकाकारोंने किया है—तो भी ठीक नहीं। क्योंकि गोस्वामीजी मोक्षके भूखे नहीं थे। भक्त तो कभी 'राम-पद-प्रेम' के सिवा दूसरी वस्तु चाहता ही नहीं। देखिये भरतजी क्या कहते हैं:—

'अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह वरदानु न आन॥'

इसके सिवा गोस्वामीजीने जिन-जिन देवताओंकी स्तुति की है, सबसे

'राम-पद-प्रेम' ही माँगा है—मोक्ष नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थकारको 'महाफलु'का अर्थ 'राम-पद-प्रेम' ही अभिप्रेत है।

हनुमत्-स्तुति

राग धनाश्री

[२५]

जयति-अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधु, विबुध-कुल कैरवानन्दकारी।
केसरी-चारु-लोचन-चकोरक-सुखद, लोकगन सोक-संतापहारी ॥१॥
जयति जय बालकपि केलि-कौतुक उदित चंडकर-मंडल-ग्रास-कर्त्ता।
राहु-रवि-सक्र पवि-गर्व-खर्बीकरन सरन भयहरन जय भुवन-भर्त्ता॥२॥
जयति रनधीर, रघुबीर-हित, देवमनि, रुद्र-अवतार, संसार-पाता।
विप्र-सुर-सिद्ध-मुनि-आशिषाकारवपु, बिमलगुन, बुद्धि-बारिधि-विधाता३
जयति सुग्रीव सिच्छादि रच्छन-निपुन, बालि-बल-सालि-बध-मुख्यहेतू।
जलधि-लंघन सिंह सिंहिका-मद-मथन, रजनिचर-नगर-उत्पात-केतू॥४॥
जयति भूनन्दिनी-सोच-मोचन विपिन-दलन घननादवस विगत संका।
लूम लीला अनल-ज्वालमाला-कुलित, होलिकाकरन लंकेस-लंका॥५॥
जयति सौमित्रि-रघुनंदनानंदकर, ऋच्छ-कपि कटक-संघट-विधायी।
बद्ध-वारिधि-सेतु, अमर-मंगल हेतु, भानुकुल-केतु-रनविजयदायी ॥६॥
जयति जय वज्र तनु दसन नख मुख विकट, चंड-भुजदंड तरु-सैल-पानी।
समर-तैलिक-यंत्र तिल-तमीचर-निकर, पेरि डारे सुभट घालि घानी ॥७॥
जयति दसकंठ-घटकरन-बारिद-नाद-कदन-कारन, कालनेमि-हंता।
अघट घटना-सुघट सुघट-विघटन विकट, भूमि-पाताल-जल-गगन-गंता॥८
जयति विस्व-विख्यात बानैत-विरुदावली, विदुष बरनत वेद विमल बानी।
दास तुलसी-त्रास-समन सीतारमन, संग सोभित राम-राजधानी ॥९॥

शब्दार्थ—विबुध = देवता । कैरवानन्दकारी = कुमुदिनीको विकसित करनेवाले। चंड-कर = प्रचण्ड किरणवाले सूर्य। ग्रासकर्त्ता = निगल जानेवाले। सक्र = इन्द्र। पवि = वज्र।

खर्वीकरन = तोड़नेवाले । पाता = रक्षक । वपु = शरीर । भूनन्दिनी = जानकीजी । आकुलित = आर्त्त । विधायी = विधानकर्त्ता । तैलिक यन्त्र = कोल्हू । तमीचर = राक्षस । घालि = डालकर । घटकरन = कुम्भकर्ण । कदन = नाश । सुघट विघटन = सम्भवको असम्भव करनेवाले । विख्यात = प्रसिद्ध । विदुष = पण्डित ।

भावार्थ—हे हनुमानजी, तुम्हारी जय हो । तुम अंजनीके गर्भरूपी समुद्रसे उत्पन्न होकर चन्द्रमाके समान देवकुलरूपी कुमुदको विकसित करनेवाले हो । तुम अपने पिताके शरीरके सुन्दर नेत्ररूपी चकोरोंको सुख देनेवाले और समस्त लोकोंका शोक-सन्ताप हरनेवाले हो ॥१॥ तुम्हारी जय हो, जय हो । तुमने बचपनमें उदयकालीन प्रचण्ड रवि-मण्डलको लाल खिलौना समझकर निगल लिया था । उस समय तुमने राहु, सूर्य, इन्द्र और उनके वज्रका गर्व तोड़ दिया था । हे शरणागतोंका भय हरनेवाले ! हे चौदहो भुवनके स्वामी ! तुम्हारी जय हो ॥२॥ हे युद्धक्षेत्रमें धैर्य धारण करनेवाले महावीरजी, तुम्हारी जय हो ! तुम श्रीरामजीके हितार्थ देव-शिरोमणि रुद्रके अवतार हो और संसारके रक्षक हो । तुम्हारा शरीर ब्राह्मण, देवता, सिद्ध और मुनियोंके आशीर्वादका साकार रूप है । तुम निर्मल गुण और बुद्धिसागर तथा विधाता हो ॥३॥ हे उचित शिक्षा आदिसे सुग्रीवकी रक्षा करनेमें चतुर हनुमानजी, तुम्हारी जय हो । तुम महापराक्रमी बालिके मरवानेके मुख्य कारण हो । तुम समुद्र लाँघते समय सिंहिका नामकी राक्षसीका मद-मर्दन करनेवाले सिंह हो । निशाचरोंकी लंकापुरीमें उत्पात करनेके लिए केतु हो ॥४॥ हे जानकीजीकी चिन्ताओंको दूर करनेवाले, अशोक वनको उजाड़नेकी नीयतसे निःशंक होकर अपनेको मेघनादके ब्रह्मास्त्रमें बँधवानेवाले, तुम्हारी जय हो । तुमने अपनी पूँछकी लीला द्वारा आगकी ज्वालमालासे आर्त्त रावणकी लंकापुरीमें होली-दहन-सा मचा दिया था ॥५॥ हे राम और लक्ष्मणको आनन्दित करनेवाले, तुम्हारी जय हो ! तुम रीछ और बन्दरोंकी सेना संघटित करनेके विधायक होकर समुद्रपर पुल बाँधनेवाले हो, देवताओंका कल्याण करनेवाले हो और सूर्यकुल-केतु (ध्वजा) श्रीरामजीको संग्राममें विजय-लाभ करानेवाले हो ॥६॥ तुम्हारी जय हो, जय हो । तुम्हारा शरीर, दाँत, नख और विकट मुँह वज्रके समान हैं । तुम्हारे भुजदंड बड़े प्रचंड हैं । तुम वृक्षों और पर्वतोंको हाथोंसे उठानेवाले हो । तुमने समर-रूपी तेल पेरनेके कोल्हूमें राक्षस-समूह और

बड़े-बड़े योद्धारूपी तिलोंकी घानी डालकर पेर डाला है ॥७॥ हे रावण, कुम्भकर्ण और मेघनादके नाशके कारण, तथा कालनेमि राक्षसको मारनेवाले, तुम्हारी जय हो। तुम असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव कर दिखानेमें बड़े ही विकराल हो। तुम पृथ्वी, पाताल, जल और आकाशमें गमन करनेवाले हो ॥८॥ हे जगत्प्रसिद्ध वाणैत, तुम्हारी जय हो। पण्डित और वेद विमल वाणीसे तुम्हारी गुणावलीका वर्णन करते हैं। तुम तुलसीदासके भयको नाश करनेवाले श्रीसीतारमणके साथ अयोध्यापुरीमें सदा शोभायमान रहते हो ॥९॥

विशेष

१—'जयति अंजनी गर्भ-अंभोधि···'में रूपक अलङ्कार है।

२—'केसरी'–नामक बानरकी स्त्रीका नाम अंजनी था। एक दिन अंजनी श्रृङ्गार किये खड़ी थीं। इतनेमें पवनदेव वहाँ आये और उसके रूपलावण्यपर मुग्ध हो गये। उन्हींके वीर्यसे अंजनीके गर्भसे हनुमानजीका जन्म हुआ। इसीसे इन्हें 'केसरी-नन्दन' भी कहते हैं? यहाँ उसी केसरीका नाम आया है।

३—'ग्रासकर्त्ता'–आमावस्याका दिन था और प्रातःकालका समय। हनुमानजीको बहुत भूख लगी थी। वह उगते हुए सूर्यको लाल फल जानकर उनकी ओर लपके और देखते-देखते पकड़कर निगल गये। उस दिन ग्रहण भी था। सूर्यको न देखकर राहु बहुत निराश हुआ और इन्द्रके पास पहुँचकर बोला, आज मैं क्या खाऊँगा? सूर्यको किसी दूसरेने ही खा डाला। यह सुनते ही इन्द्र दौड़े। उन दोनोंको आते देखकर हनुमानजीने उनको भी निगलनेके लिए हाथ बढ़ाया। इतनेमें इन्द्रने उनपर वज्र चलाया, पर वज्र उनकी ठुड्डीमें लगा। इससे वह मूर्च्छित हो गये और वज्र भी टूट गया। तभीसे महावीरजीका नाम हनुमान पड़ा। यह कथा वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें लिखी है।

४—'राहु रवि···खर्बीकरन'—जिस समय राहु देवराज इन्द्रके साथ आ रहा था, उस समय हनुमानजी उसको काला फल समझकर उसकी ओर लपके थे। इससे राहु भयभीत होकर भाग गया था। सूर्यको वह पहले ही निगल चुके थे। उनका प्रभाव देखकर इन्द्र भी डर गये थे। जो वज्र पहाड़ोंको

तोड़ डालता, उससे महावीरजीकी केवल दाढ़ी मात्र जरा-सी टेढ़ी हो गयी, इससे वज्रका भी गर्व चूर हो गया।

५—'रुद्र अवतार'—शिवजीने श्रीरामजीसे दासभावसे सेवा करनेके लिए वर माँगा था। तदनुसार ही समय पाकर वे हनुमानके रूपमें श्रीरामजीके सेवक बने। इसीसे हनुमानजी एकादश रुद्र माने जाते हैं।

६—'आशिषाकार वपु'—जिस समय इन्द्रके वज्रसे हनुमानजी मूर्च्छित हो गये थे, उस समय उनके पिता पवनने कुपित होकर अपनी गति बन्द कर दी थी। इससे विश्व-ब्रह्माण्ड थर्रा उठा। इन्द्रादिक देवताओंके प्रार्थना करनेपर ब्रह्मा बहुत-से देवताओं और मुनियोंको साथ लेकर वायुके पास गये और महावीरके मस्तकपर हाथ फेरा। उनकी कृपासे महावीरकी मूर्च्छा दूर हो गयी। उसके बाद देवताओं और मुनियोंने हनुमानजीको आशीर्वाद दिया। इसीसे उन्हें 'आशिषाकार वपु' कहा गया है। यह कथा भी वाल्मीकीय-रामायणके उत्तरकाण्डमें है।

७—'बालि···बधमुख्यहेतू'—जब भगवान् सीताको ढूँढ़ते हुए ऋष्यमूक पर्वतके पास पहुँचे तो पहले हनुमानजी उनसे मिले और उनको ले जाकर सुग्रीवसे मैत्री करायी। वह मैत्री बालि-बधका कारण हुई।

८—'सिंहिका-मद-मथन'—सिंहिका राक्षसी समुद्रमें रहती थी और आकाशमार्गसे जानेवाले जीवोंकी परछाईं जलमें देखकर उन्हें पकड़कर खा जाती थी। उसने हनुमानजीको भी पकड़कर निगलना चाहा। किन्तु हनुमानजीने एक मुक्का मारकर उसका प्राण लिया।

९—'दसकंठ···कारन'—यदि हनुमानजी महारानी जानकीजीकी खबर श्रीरामजीको न सुनाते तो रावणादिका बध न होता। इसीसे रावणादिके बधके कारण कहे गये हैं। दूसरी बात यह भी है कि युद्धके समय जब रावण विजय प्राप्त करनेके लिए यज्ञका अनुष्ठान करने लगा, तो विभीषणने रामचन्द्रकी सेनामें इसकी सूचना दी। कहा कि यदि रावण इस अनुष्ठानमें सफल हो जायगा तो उसपर विजय पाना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इसलिए उसके यज्ञको विध्वंस करना चाहिए। इस कामका भार हनुमानजीने अपने ऊपर लिया और थोड़ी-सी सेना साथ ले जाकर उस यज्ञको विध्वंस कर दिया। पश्चात् रावण युद्ध-क्षेत्रमें

आकर मारा गया। इस प्रकार हनुमानजी उसकी मृत्युके कारण बने। रणमें कुम्भकर्णको बलहीन करनेके भी मूल कारण हनुमानजी ही थे।—लक्ष्मणजीको शक्तिबाणसे मूर्च्छित देखकर हनुमानजी संजीवनी बूटी लानेके लिए धौलागिरि-को ही उठा लाये थे। उस बूटीके द्वारा मूर्च्छा दूर होनेपर लक्ष्मणजीने दूसरे ही दिन मेघनादको मारा था। इससे वह मेघनादके भी वधके कारण माने जाते हैं।

१०—'कालनेमिहंता'—यह रावणके पक्षका बड़ा ही मायावी राक्षस था। जब हनुमानजी लक्ष्मणजीके लिए संजीवनी लाने गये थे तो इसने मार्गमें साधुका वेष धारण करके उन्हें छलनेका विचार किया। हनुमानजीको उसकी माया मालूम हो गयी और तुरन्त ही उन्होंने उसकी जान ले ली, इसीसे वह कालनेमिहंता कहलाते हैं।

११—'अघट घटना···विघटन'—समुद्रको लाँघना असम्भव है, किन्तु हनुमानजीने उसे सम्भव कर दिखाया था। पूँछकी आगसे हनुमानजीके भस्म हो जानेकी पूरी सम्भावना थी, पर उन्होंने उस सम्भव कार्यको असम्भव कर दिया और उस आगसे लंकापुरीको जलाकर असम्भवको सम्भव भी कर दिया।

(२६)

जयति मर्कटाधीस, मृगराज-विक्रम,
महादेव, मुद-मंगलालय, कपाली।
मोद-मद-कोह-कामादि-खल-संकुला,
घोर संसार-निसि किरनमाली ॥१॥
जयति लसदंजनाऽदितिज, कपि-केसरी-
कश्यप-प्रभव, जगदार्त्तिहर्त्ता।
लोक-लोकप-कोक कोकनद-सोकहर,
हंस हनुमान कल्यान कर्त्ता ॥२॥
जयति सुविसाल-विकराल विग्रह,
वज्रसार सर्वांग भुजदंड भारी।
कुलिसनख, दसनवर लसत, बालधि बृहद,
बैरि-सस्त्रास्त्रधर कुधरधारी ॥३॥

जयति जानकी-सोच-संताप मोचन,
राम-लछमनानंद-बारिज-विकासी ।
कीस-कौतुक-केलि लूम-लंका-दहन,
दलन कानन तरुन तेजरासी ॥४॥
जयति पाथोधि-पाषान-जलजानकर,
जातुधान-प्रचुर-हर्ष-हाता ।
दुष्ट रावन-कुंभकरन-पाकारिजित-
मर्मभित्, कर्म-परिपाक-दाता ॥५॥
जयति भुवनैकभूषन, विभीषन-वरद,
विहित कृत राम-संग्राम साका ।
पुष्पकारूढ़ सौमित्रि-सीता-सहित,
भानु-कुल-भानु-कीरति-पताका ॥६॥
जयति पर-जंत्रमंत्राभिचार-ग्रसन,
कारमन-कूट-कृत्यादि-हंता ।
साकिनी-डाकिनी-पूतना-प्रेत-
बैताल-भूत-प्रमथ-जूथ-जंता ॥७॥
जयति वेदांतविद विविध-विद्या-विसद,
वेद-वेदांगविद ब्रह्मवादी ।
ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य-भाजन विभो,
विमल गुन गनसि सुक नारदादी ॥८॥
जयति काल-गुन-कर्म-माया-मथन,
निश्चल ग्यान व्रत-सत्यरत, धर्मचारी ।
सिद्ध-सुरवृंद-जोगींद्र सेवित सदा,
दास तुलसी प्रनत भय-तमारी ॥९॥

शब्दार्थ—मर्कटाधीश = बन्दरोंके राजा । मृगराज = सिंह । कपाली = शिवजी । कोह = क्रोध । किरनमाली = सूर्य । लसदंजनाऽदितिज = (लसत् + अंजना + अदिति + ज) अंजनी-रूपी अदितिसे जायमान होकर सुशोभित । कोक = चकवा । कोकनद = कमल । हंस = सूर्य । वालधि = पूँछ । कुधर = पहाड़ । पयोधि = समुद्र । जातुधान = राक्षस । हाता = हन्ता ।

पाकारिजित = पाक नामक दैत्यके शत्रु इन्द्रको जीतनेवाला मेघनाद। मर्मभित् = मर्म स्थानको भेदनेवाला। परिपाक = फल। वरद = वर देनेवाले। साका = यश। अभिचार = मोहन-उच्चाटन आदि प्रयोग तथा जादू-टोना। कारमन = किसीको जंत्र-मंत्र द्वारा मार डालनेके लिए प्रयोग। कृत्यादि = प्राणनाशिनी देवी आदि। जंता = जीतनेवाले। विभो = समर्थ। तमारी = सूर्य।

भावार्थ—हे बन्दरोंके राजा हनुमानजी, तुम्हारी जय हो। तुम सिंहके समान पराक्रमी, देवताओंमें श्रेष्ठ, आनन्द और कल्याणके स्थान तथा कपाल-धारी शिवके अवतार हो। मोह, मद, क्रोध, काम आदि दुष्टोंसे परिपूर्ण घोर संसाररूपी रात्रिके लिए तुम सूर्य हो ॥१॥ हे अंजनीरूपी अदिति (देव-माता) से उत्पन्न होकर सुशोभित होनेवाले, तुम्हारी जय हो। तुम्हारा जन्म बन्दर केशरीरूपी कश्यप प्रजापतिसे हुआ है। तुम संसारके दुःखोंको हरनेवाले हो। हे कल्याणकारी हनुमानजी! तुम लोक और लोकपालरूपी चकवा तथा कमल-का शोक हरनेवाले सूर्य हो ॥२॥ तुम्हारी जय हो। तुम्हारा शरीर बड़ा विशाल और विकराल है; तुम्हारे भारी भुजदण्ड और सर्वांगकी रचना वज्रके सार पदार्थसे हुई है। वज्रके समान तुम्हारे सुन्दर नख और दाँत सुशोभित हो रहे हैं। तुम्हारी पूँछ बहुत लम्बी है; तुम शत्रुओंका संहार करनेके लिए अस्त्र-शस्त्र धारण किये रहते हो; तुम पर्वतको भी हाथमें लिये रहते हो ॥३॥ हे सीताजीकी चिन्ताओं और दुःखोंको हरनेवाले, तुम्हारी जय हो। तुम राम-लक्ष्मणके आनन्दरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेवाले हो। तुम बन्दर स्वभावसे हँसी-खेलमें ही अपनी पूँछसे लंका-दहन करने तथा अशोक-वनको बर्बाद करनेके लिए मध्याह्नकालीन सूर्य हो ॥४॥ तुम्हारी जय हो! तुम समुद्रपर पत्थरका जहाज (पुल) तैयार करके राक्षसोंके बड़े भारी हर्षके हंता हो। तुम दुष्ट रावण, कुम्भकर्ण और मेघनादके मर्मस्थानोंको भेदकर उन्हें उनके कर्मोंका फल देनेवाले हो ॥५॥ हे त्रिभुवनके अपूर्व भूषण! तुम्हारी जय हो! तुम विभीषणको वर देनेवाले और संग्राममें श्रीरामजीके साथ यशःपूर्ण कार्य करनेवाले हो। तुम पुष्पक विमानपर बैठे हुए लक्ष्मण और सीताके सहित सूर्यवंशके सूर्य श्रीरामचन्द्रकी कीर्ति-पताका हो ॥६॥ तुम्हारी जय हो! तुम दूसरोंके द्वारा किये गये यन्त्र-मन्त्र अभिचार (मोहन-उच्चा-टन) प्रयोगोंको ग्रसनेवाले तथा किसीको मार डालनेके लिए गुप्त प्रयोगों तथा

प्राणघातिनी कृत्या आदि देवियोंका हनन करनेवाले हो । तुम शाकिनी, डाकिनी, पूतना, प्रेत, वैताल, भूत और प्रमथ आदिके समूहको जीतनेवाले हो ॥७॥ तुम्हारी जय हो ! तुम वेदान्त शास्त्रके ज्ञाता, अनेक विद्याओंमें पारंगत, चारों वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्वण) और वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) के जानकार तथा ब्रह्म-निरूपण करनेवाले हो । हे विभो ! तुम ज्ञान-विज्ञान और वैराग्यभाजन हो । शुकदेव और नारद आदि तुम्हारे निर्मल गुणोंका गान करते हैं ॥८॥ तुम्हारी जय हो । तुम काल (क्षण, दिन, मास, वर्ष आदि), गुण (सत्त्व, रज, तम), कर्म (कायिक, वाचिक, मानसिक अथवा संचित, प्रारब्ध, और क्रियमाण, या शुभ और अशुभ अथवा कर्म, अकर्म और विकर्म) तथा मायाको दूर करनेवाले हो । तुम्हारा ज्ञान और व्रत अचल है । तुम सत्यमें रत रहते और धर्मपर चलते हो । सिद्ध, देव-समूह तथा बड़े-बड़े योगी तुम्हारी सदा सेवा किया करते हैं । हे भव-भयरूपी निशाका नाश करनेके लिए सूर्यरूप हनुमानजी ! तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता है ॥९॥

विशेष

१—'विभीषण-वरद'—लंका-दहनके समय विभीषणने अपनी दुःख-गाथा श्रीहनुमानजीको सुनायी थी, उसे सुनकर हनुमानजीने विभीषणको आशीर्वाद-रूप वरदान देते हुए कहा था कि परम कृपालु श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारा दुःख अवश्य दूर करेंगे ।

२—'माया'—क्या है, इसे गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें देखियेः—

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥
(रामचरितमानस)

(२७)

जयति मंगलागार संसार-भारापहर, बानराकार विग्रह पुरारी ।
राम रोषानल-ज्वालमाला-मिष ध्वांतचर-सलभ-संहारकारी ॥१॥
जयति मरुदंजनामोद-मंदिर, नतग्रीव सुग्रीव-दुःखैक-बंधो ।
जातुधानोद्धत-क्रुद्ध-कालाग्निहर, सिद्ध-सुर-सज्जनानंद-सिंधो ॥२॥

जयति रुद्राग्रनी, विस्व-विद्याग्रनी, विस्व विख्यात-भट चक्रवर्ती ।
सामगाताग्रनी कामजेताग्रनी, रामहित, रामभक्तानुवर्ती ॥३॥

जयति संग्राम-जय, रामसंदेसहर, कौसला-कुसल-कल्यानभाषी ।
राम-विरहार्क-संतप्त-भरतादि, नरनारि शीतल करन कल्पसाषी॥४॥

जयति सिंहासनासीन सीतारमन, निरखि निर्भर हरष नृत्यकारी ।
राम संभ्राज सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस रामपुर-बिहारी ॥५॥

शब्दार्थ—मिष = बहानेसे । ध्वांतचर = राक्षस । सलभ = पतङ्ग, पतिंगे । मरुदंजनामोद (मरुत + अंजन + आमोद) पवन और अंजनीको प्रमुदित करनेवाले । नतग्रीव = गर्दन झुकाये हुए । भट = योद्धा । चक्रवर्ती = सम्राट् । सामगाताग्रनी = सामवेदका गान करनेवालोंमें श्रेष्ठ । संदेसहर = संदेशिया या संदेशा कहनेवाला । विरहार्क = विरहरूपी सूर्य । निर्भर = पूर्ण, अत्यन्त । संभ्राज = सुशोभित ।

भावार्थ—हे मंगलके गृह तथा संसारका भार हरनेवाले हनुमानजी, तुम्हारी जय हो ! तुम्हारे शरीरका आकार बन्दरकी तरह है, पर हो तुम साक्षात् विश्व-स्वरूप । तुम श्रीरामजीके क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालमालाके बहाने निशाचर-रूपी पतंगोंका संहार करनेवाले हो ॥१॥ हे पवन और अंजनीके आमोद-मन्दिर ! तुम्हारी जय हो ! नीची गर्दन किये हुए सुग्रीवके दुःखके तुम अद्वितीय साथी थे । तुम उद्धत राक्षसोंके क्रुद्ध कालाग्निका नाश करनेवाले तथा सिद्धों, देवताओं और सज्जनोंके लिए आनन्दके समुद्र हो ॥२॥ तुम्हारी जय हो ! तुम एकादश रुद्रमें अग्रणी, समस्त संसारकी विद्यामें अग्रगण्य तथा संसार-प्रसिद्ध योद्धाओंके चक्रवर्ती राजा (सम्राट्) हो । तुम सामवेदका गान करनेवालोंमें अग्रणी हो, कामदेवको जीतनेवालोंमें सबसे पहले गिने जाने योग्य हो । तुम श्रीरामजीके हितकारी और रामभक्तोंकी रक्षा करनेवाले हो ॥३॥ तुम्हारी जय हो ! तुम समरमें विजय-लाभ करनेवाले, श्रीरामजीका सन्देशा (जानकीके पास) ले जानेवाले, अयोध्याकी कुशल और कल्याण (भरतजी तथा अयोध्यापुर-वासियोंसे) कहनेवाले हो । तुम रामचन्द्रके विरह-रूपी सूर्यसे सन्तप्त भरत आदि स्त्री-पुरुषोंको शीतल करनेके लिए कल्पवृक्ष हो ॥४॥ हे राज्यसिंहासनपर सुशोभित जानकीनाथ श्रीरामजीको देखकर अत्यन्त हर्षके साथ नृत्य करनेवाले ! तुम्हारी जय हो ! हे

रामकी पुरी अयोध्यामें बिहार करनेवाले हनुमानजी ! तुम रामचन्द्रकी शोभाके सहित (समाज-सहित) इस तुलसीदासके अन्तःकरणमें सदा विराजमान रहो ।

विशेष

१—'रुद्र'—एकादश रुद्रके नाम ये हैं:—अज, एकपात्, अहिब्रध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हरण, ईश्वर ।

२—'रामभक्तानुवर्त्ती—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि हनुमान-जी राम-भक्तोंकी अधीनतामें रहनेवाले हैं; अर्थात् वह अपनेको रामभक्तोंके हाथमें विका हुआ समझते हैं ।

(२८)

जयति वात-संजात, विख्यात विक्रम, बृहद्-
बाहु, बलविपुल, बालधि बिसाला ।
जातरूपाचलाकार विग्रह, लसल्लोम
विद्युल्लता ज्वालमाला ॥१॥

जयति बालार्क वर-वदन, पिंगल-नयन,
कपिस-कर्कस-जटाजूटधारी ।
विकट भृकुटी, बज्र दसन नख, बैरि-मद-
मत्त-कुंजर-पुंज-कुंजरारी ॥२॥

जयति भीमार्जुन-व्याल सूदन-गर्व-
हर, धनंजय-रथ-त्राण- केतू ।
भीष्म द्रोण-कर्णादि-पालित, काल-
दृक सुयोधन-चमू-निधन-हेतू ॥३॥

जयति गतराजदातार, हन्तार
संसार-संकट, दनुज-दर्पहारी ।
ईति अति भीति-ग्रह-प्रेत-चौरानल-
व्याधि-बाधा-शमन-घोरमारी ॥४॥

जयति निगमागम व्याकरन करन लिपि,
काव्य कौतुक-कला-कोटि-सिंधो ।
साम-गायक, भक्त-कामदायक,
वामदेव, श्रीराम-प्रिय-प्रेम-बंधो ॥५॥

जयति घर्मांसु-संदग्ध-संपाति,
नवपच्छ-लोचन-दिव्य-देहदाता ।
कालकलि-पाप संताप-संकुल सदा,
प्रनत तुलसीदास तात-माता ॥६॥

शब्दार्थ—बात=पवन । संजात=उत्पन्न। बालधि=पूँछ। जातरूपाचलाकार=(जातरूप+अचल+आकार) सुवर्णके पर्वत (सुमेरु) का आकार। लसल्लोम (लसत्+लोम) रोम सुशोभित है। पिंगल=पीला। कपिस=भूरा। जूट=जूड़ा। व्यालसूदन=गरुड़। धनंजय=अर्जुन। ईति=खेतीकी छ बाधाएँ—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी और राजाका आक्रमण। घोरमारी=महामारीकी बीमारी। घर्मांसु (घर्म+अंशु) प्रखर किरणवाले। नवपच्छ=नया पंखा। तात=पिता।

भावार्थ—हे पवन-कुमार ! तुम्हारी जय हो ! तुम्हारा पराक्रम विख्यात है, भुजाएँ विशाल हैं, बल असीम है और पूँछ बड़ी लम्बी है। तुम्हारा शरीर सुमेरु पर्वतके आकारका है, उसपर विद्युल्लताकी ज्वालमालाके समान रोम सुशोभित हो रहे हैं ॥१॥ जय हो ! तुम्हारा श्रेष्ठमुख प्रभातकालीन सूर्यके समान है, नेत्र पीले हैं और तुम भूरे रंगका कठोर जटाजूट धारण किये रहते हो। तुम्हारी भौंहें टेढ़ी हैं, दाँत और नख वज्रके समान हैं। तुम शत्रुरूपी मदमत्त हाथियोंके लिए सिंहके समान हो ॥२॥ तुम्हारी जय हो ! तुम भीम, अर्जुन और गरुड़के गर्वको चूर्ण करनेवाले तथा अर्जुनके रथकी पताकापर बैठकर उसकी रक्षा करनेवाले हो। तुम भीष्म, द्रोणाचार्य और कर्ण आदिसे रक्षित, कालकी दृष्टिके समान दुर्योधनकी सेनाका संहार करनेके मुख्य कारण हो ॥३॥ जय हो ! तुम सुग्रीवके गये हुए राज्यको दिलानेवाले, सांसारिक संकटोंका नाश करनेवाले और दानवोंके दर्पको कुचल डालनेवाले हो। ईति, अत्यन्त डर, ग्रह, प्रेत, चोर, आग तथा रोगकी बाधाओं एवं महामारीका नाश करनेवाले हो ॥४॥ तुम्हारी जय हो ! तुम वेद, शास्त्र और व्याकरणको लिपिबद्ध करनेवाले (अथवा उनपर भाष्य लिखने-

वाले) तथा काव्यके दस अंगों एवं करोड़ों कलाओंके समुद्र हो। तुम सामवेदका गान करनेवाले तथा भक्तोंकी कामना पूरी करनेवाले शिवरूप हो और रामजीके प्रिय प्रेमी बन्धु हो ॥५॥ तुम्हारी जय हो ! तुम सूर्यकी प्रखर किरणोंसे जले हुए सम्पाति नामक गीधको नवीन पर (पंखे) नेत्र और दिव्य शरीर देनेवाले हो। कलिकालके पाप-सन्तापोंसे सदा परिपूर्ण यह तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता है; क्योंकि पिता-माता तुम्हीं हो ! ॥६॥

विशेष

१—'जटाजूटधारी'—हनुमानजी भगवान् शिवजीके अवतार हैं, इसीसे उन्हें जटाजूटधारी कहा गया है। अन्यथा बानर रूपके लिए जटाजूटधारी कहना असंगत होता।

२—'भीमार्जुन-व्यालसूदन गर्वहर'-महाभारतमें कथा है कि पाण्डवोंके वनवासकालमें एक दिन भीम अपने बलके मदमें मस्त कहीं जा रहे थे। रास्तेमें उन्हें एक बन्दर मिला। भीमने उससे रास्ता छोड़नेके लिए कहा। बन्दरने कहा,—मैं बूढ़ा हूँ, उठने बैठनेमें कष्ट होता है, तुम्हीं मेरी पूँछ हटाकर चले जाओ। भीमसेनने क्रुद्ध होकर उसे घसीटकर रास्तेसे दूर कर देना चाहा। पर पूरी शक्ति लगानेपर भी उस बन्दरकी पूँछ नहीं हिली। इससे भीमको मन ही मन बहुत लज्जित होना पड़ा। पीछे जब उन्हें यह मालूम हुआ कि यह बन्दर हनुमान है, तो उन्होंने उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। इसी प्रकार एक बार भीमने हनुमानजीसे कहा कि आपने जिस रूपसे राम-रावण युद्धमें भाग लिया था, उस रूपका मुझे दर्शन दें। हनुमानने कहा,—मेरा वह रूप बड़ा ही विकराल है, अतः तुम उसे देखकर डर जाओगे। यह सुनकर भीमने गर्वके साथ फिर आग्रह किया। तुरन्त ही हनुमानजीने वह रूप धारण कर लिया। भयके कारण भीमसेनकी आँखें बन्द हो गयीं। वह थर-थर काँपने लगे। दो बार हनुमानजीकी महिमा देखकर उनका गर्व मिट गया और वह हाथ जोड़कर उनके चरणोंपर गिर पड़े।

इसी प्रकार एक बार अर्जुनका गर्व भी चूर हुआ था। महाभारत-युद्धमें जब अर्जुन महापराक्रमी कर्णके रथपर बाण चलाते, तब उसका रथ बहुत दूर

चला जाता था, किन्तु कर्णके बाणसे अर्जुनका रथ कई अंगुलमात्र हटकर रह जाता था। इसपर सारथी रूपमें बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण हर बार कहा करते, धन्य हो कर्ण! भगवान्‌का यह वचन अर्जुनके लिए असह्य हो उठा। उन्होंने सोचा कि मेरे बाणसे कर्णका रथ इतनी दूर चला जानेपर भी श्रीकृष्णने मुझे एक बार भी शाबासी नहीं दी, किन्तु उनके बाणसे मेरा रथ कुछ अंगुल खिसकनेपर ही यह हर बार उसकी प्रशंसा करते हैं। अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनका यह भाव समझ गये। उन्होंने हनुमानजीसे ध्वजा छोड़कर हट जानेके लिए इशारा किया। हनुमानजीके हटते ही कर्णके बाणसे अर्जुनका रथ बहुत दूर जा गिरा। अर्जुनने व्याकुल होकर भगवान्‌से इसका कारण पूछा। भगवान्‌ने कहा,—हनुमानजीके पराक्रमसे तुम्हारा रथ स्थिर रहता है, इस समय वह ध्वजाके ऊपरसे हट गये हैं। कुशल थी कि मैं बैठा हुआ था; नहीं तो तुम्हारा रथ न-जानें कहाँ जाकर गिरता। भगवान्‌की बात सुनकर अर्जुनका अभिमान दूर हो गया।

स्कन्दपुराणमें लिखा है कि एक बार विष्णु भगवान्‌ने हनुमानजीको बुलानेके लिए गरुड़से कहा। हनुमानने गरुड़से कहा,—आप चलें, मैं थोड़ी देरके बाद यहाँसे चलूँगा। गरुड़ने साथ ही चलनेके लिए कहा। हनुमानने कहा,—पीछे चलनेपर भी मैं आपसे पहले वहाँ पहुँच जाऊँगा। गरुड़को यह बात बहुत बुरी लगी, क्योंकि उन्हें अपनी तीव्र गतिका बड़ा गर्व था। वह शीघ्र पहुँचनेके लिए बड़ी तेजीसे चले। उन्होंने भगवान्‌के पास पहुँचकर देखा :—हनुमानजी विराजमान हैं। यह देखकर वह बहुत लज्जित हुए।

३—'करनलिपि'—हनुमानजीने सूर्य भगवान्‌से विद्याध्ययन किया था। इन्होंने वेदों और शास्त्रोंपर भाष्य, पिंगलकी टीका तथा वेदांगोंपर भी कई ग्रंथ लिखे थे। हनुमन्नाटक, हनुमत् ज्योतिष आदि कई ग्रंथ आज भी संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध हैं।—चित्रकाव्यके आदि आविष्कारक भी यही थे।

४—'सम्पाति'—यह गीधराज जटायुका छोटा भाई था। एक दिन दोनों भाई होड़ लगाकर सूर्यको छूनेके लिए आकाशमें उड़े। जटायु बुद्धिमान् था, इसलिए वह सूर्यमण्डलके समीप जाकर उनका तेज न सह सकनेके कारण लौट आया—; परन्तु अभिमानी सम्पाति आगे ही बढ़ता गया। परिणाम यह

हुआ कि सूर्यकी उत्तप्त किरणोंसे उसके पर जल गये और वह माल्यवान पर्वत-पर आ गिरा। उसी समय सुग्रीवकी आज्ञासे बानर और रीछ महारानी सीता-जीकी खोजमें निकले थे। सम्पातिने जानकीजीका पता बतलाया। हनुमानजी-की कृपासे उसे नये पंख, नवीन नेत्र प्राप्त हो गये और साथ ही उसका शरीर भी दिव्य हो गया।

(२९)

जयति निर्भरानंद-संदोह कपिकेसरी,
केसरी - सुवन भुवनैकभर्त्ता।
दिव्य भूम्यंजना-मंजुलाकर-मने,
भक्त-संताप-चिंतापहर्त्ता ॥१॥

जयति धर्मार्थ-कामापवर्गद विभो,
ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी।
वचन-मानस-कर्म सत्य-धर्मव्रती,
जानकीनाथ-चरनानुरागी ॥२॥

जयति बिहगेस-बलबुद्धि-बेगाति-
मद-मथन, मनमथ-मथन, ऊर्ध्वरेता।
महानाटक-निपुन, कोटि-कविकुल-
तिलक, गान गुन-गर्व-गंधर्वजेता ॥३॥

जयति मंदोदरी-केस-कर्षन,
विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा दुःख-संजात-रोषांतकृत
जातना जंतु कृत जातुधानी ॥४॥

जयति रामायन-स्रवन-संजात-रोमांच,
लोचन सजल, सिथिल बानी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर, पाहि,
दास तुलसी सरन, सूल पानी ॥५॥

शब्दार्थ—संदोह = समूह । मंजुलाकरमने = (मंजुल + आकर-मने) खानसे निकली हुई मनोहर मणि । कामापवर्गद = (काम + अपवर्ग + द) काम और मोक्षके दाता । कर्षन = खींचनेवाले । विद्यमान = मौजूदगीमें । भूमिजा = जानकीजी । रोषांतकृत = (रोष + अन्तकृत) क्रोधके कारण प्रलय करनेवाले (अन्तकृत) यम । जातुधानी = राक्षसी । मकरंद = पुष्परस, मधु । मधुकर = भ्रमर । पाहि = त्राहि या रक्षा करो ।

भावार्थ—तुम्हारी जय हो ! तुम अतिशयानन्दके समूह, बानरोंमें साक्षात् सिंह, केशरीके पुत्र और संसारके एकमात्र स्वामी हो । तुम अंजनीरूपी दिव्य पृथिवीकी खानसे निकली हुई मनोहर मणि हो और भक्तोंके सन्तापों और चिन्ताओंको हरनेवाले हो ॥१॥ हे विभो ! तुम्हारी जय हो ! तुम धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके देनेवाले हो और तुम्हें ब्रह्मलोक आदिके वैभवसे भी विराग है । तुमने मन, वचन और कर्मसे सत्यको ही अपना धर्मव्रत बना रखा है । तुम श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले हो ॥२॥ जय हो ! तुम गरुड़के बल, बुद्धि और वेगके बड़े भारी गर्वको हरनेवाले तथा कामदेवका नाश करनेवाले ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हो । तुम महानाटकके निपुण रचयिता और अभिनेता हो, करोड़ों महाकवियोंके कुल-तिलक हो और गान-विद्याके गुणका गर्व करनेवाले गन्धर्वोंको जीतनेवाले हो ॥३॥ जय हो ! तुम वीरोंके सिरमौर महा अभिमानी रावणकी उपस्थितिमें उसकी स्त्री मन्दोदरीका केश पकड़कर खींचनेवाले हो । तुमने जगज्जननी जानकीजीके दुःखसे उत्पन्न क्रोधके वश हो राक्षसियोंकी ऐसी यातना की थी, जैसी यमराज तमाम प्राणियोंकी किया करता है ॥४॥ तुम्हारी जय हो ! रामायण सुननेसे तुम्हारा शरीर पुलकित हो जाता है, नेत्र सजल हो जाते हैं और कंठ गद्गद हो जाता है । हे श्रीरामजीके चरण-कमलोंके रसके भ्रमररूप हनुमानजी ! त्राहि, त्राहि ! हे त्रिशूलधारी रुद्ररूप हनुमानजी ! तुलसी-दास तुम्हारी शरण है ।

विशेष

१—'ऊर्ध्वरेता'—ऋग्वेदमें दो तरहके ब्रह्मचारियोंका उल्लेख है; ऊर्ध्व-रेतस् और अमोघवीर्य । जिस ब्रह्मचारीका वीर्य नीचेकी ओर न आकर ऊर्ध्व-गामी हो जाता है, उसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं । यह साधना सर्वश्रेष्ठ और दुर्लभ है । अमोघवीर्य उसे कहते हैं जिस ब्रह्मचारीका वीर्य कभी भी निष्फल न

जाय। अर्थात् उससे गर्भाधान अवश्य हो जाय। हनुमानजी सर्वोच्च कोटिके अखंड ब्रह्मचारी माने जाते हैं।

२—'महानाटक'—हनुमानजीने एक वृहद्नाटकमें राम-चरित वर्णन किया था। कोई अधिकारी न मिलनेके कारण उन्होंने उसे समुद्रमें डाल दिया। दामोदर मिश्रने उसके रहे-सहे अंशका संकलन करके वर्त्तमान हनुमन्नाटक निर्माण किया।

३—'मन्दोदरी-केस-कर्षन'—हनुमानजीके आदर्श-चरितके वर्णनमें यह प्रसंग यानी एक स्त्रीका केश पकड़कर खींचना खटकता है। पर वास्तवमें यहाँ खटकनेकी कोई बात नहीं है। क्योंकि वह प्रभुकी आज्ञासे रावणका यज्ञ भंग करने गये थे और उसीपर रावणका परास्त होना निर्भर था। जब उन्होंने यज्ञ भंग करनेकी और कोई सूरत न देखी, तो यह काम करनेके लिए उन्हें विवश होना पड़ा। उन्होंने सोचा कि रावण अपनी स्त्रीका अपमान कदापि न देख सकेगा और यज्ञ छोड़कर अवश्य उठ खड़ा होगा। वही हुआ भी। विवश होनेपर अनन्य भक्तके लिए अनुचित और उचितका विचार छोड़कर प्रभुकी आज्ञा-पालन करना स्वाभाविक है। इसके सिवा कहींपर यह उल्लेख पाया जाता है कि हनुमानजीने जिस मन्दोदरीका केस कर्षण किया था, वह मायाकी बनी हुई कल्पित मन्दोदरी थी।

राग सारङ्ग

(३०)

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की॥१॥
अघटित-घटन, सुघट-विघटन; ऐसी विरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच विमोचन, मूरति मोद निधान की॥२॥
तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा विलोकनि, खानि सकल कल्यान की॥३॥

शब्दार्थ—गति = भरोसा, सहारा। पैज = प्रतिज्ञा। रेखा = लकीर, लीक। अघटित =

असम्भव । सुघट = सम्भव । विघटन = बिगाड़ देनेवाले । विरुदावलि = गुणावली । आनकी = दूसरेकी । चितवन = विलोकनि ।

भावार्थ—जिसे केवल हनुमानजीका ही सहारा है, जिसकी प्रतिज्ञा सदासे पूरी होती आयी है; यह सिद्धान्त वज्र या पत्थरके ऊपरकी लकीरके समान अमिट है ॥१॥ हनुमानजी अघटित या असम्भव घटनाको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेवाले हैं; ऐसी गुणावली दूसरे किसीकी नहीं है । आनन्द-निधान श्रीहनुमानजीकी मूर्तिका स्मरण करते ही तमाम संकट और शोक नष्ट हो जाते हैं ॥२॥ हे तुलसीदास ! हनुमान्‌जीकी कृपापूर्ण चितवन सब प्रकारके कल्याणोंकी खानि है; क्योंकि (जिसपर इनकी कृपा-दृष्टि रहती है) उसपर पार्वती, शिव, लक्ष्मण, राम और जानकीकी कृपा रहती है ॥३॥

राग गौरी

(३१)

ताकिहै तमकि ताकी ओर को ।
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी-किसोर को ॥१॥
जन-रंजन अरिगन-गंजन मुख-भंजन खल बरजोर को ।
वेद-पुरान-प्रगट पुरुषारथ सकल-सुभट-सिरमोर को ॥२॥
उथपे-थपन, थपे उथपन पन, बिबुध बृन्द बंदिछोर को ।
जलधि लाँघि दहि लंक प्रबल बल दलन निसाचर घोर को ॥३॥
जाको बाल-विनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को ।
जाकी चिबुक-चोट चूरन किय रद-मद कुलिस कठोर को ॥४॥
लोकपाल अनुकूल बिलोकिबो चहत बिलोचन-कोर को ।
सदा अभय, जय, मुद-मंगलमय जो सेवक रनरोर को ॥५॥
भगत-काम तरु नाम राम परिपूरन चंद चकोर को ।
तुलसी फल चारों करतल जस गावत गई बहोर को ॥६॥

शब्दार्थ—ताकिहै = देखेगा । तमकि = क्रुद्ध होकर । जनरंजन = भक्तोंको प्रसन्न करनेवाला । अरिगन = शत्रुओं । गंजन = नाश करनेवाला । बरजोर = बलवान । को = कौन ।

उथपे=उखड़े हुए। रद=दाँत। विलोचन-कोर=हनुमानजी। रनरोर=युद्धक्षेत्रमें शोर करनेवाले रणबाँकुरे। गयी-बहोर=गयी हुई वस्तुको फिरसे दिलानेवाले।

भावार्थ—जिसे सब प्रकारसे केशरी-कुमार हनुमानजीका ही भरोसा है, उसकी ओर क्रुद्ध होकर कौन देखेगा ? ॥१॥ भक्तोंको प्रसन्न करने, शत्रुओंका संहार करने तथा दुष्टोंका मुँह तोड़ने योग्य बलवान् और कौन है ? इनका पुरुषार्थ वेदों और पुराणोंमें प्रकट है। सब शूरवीरोंमें शिरोमणि इनके समान और कौन है ? ॥२॥ इनके सिवा उखड़े हुए (सुग्रीव, विभीषण-सरीखे) लोगोंको राज्यसिंहासनपर स्थापित करनेवाला, सिंहासनपर स्थित (बालि, रावण आदि) महा बलवान् राजाओंको राज्यच्युत करनेवाला, प्रणपूर्वक बन्दी देवताओंको छुड़ानेवाला कौन है ? समुद्र लाँघकर लंकाको जलानेवाला तथा बड़े बलवान् एवं भयानक राक्षसोंका नाश करनेवाला कौन है ? ॥३॥ जिनके बाल-विनोदका मन ही मन स्मरण करके अब भी प्रातःकालीन सूर्य डरा करते हैं और जिनकी ठुड्डीकी चोटने कठोर बज्रके दाँतोंका घमण्ड चूर कर दिया था ऐसा और कौन है ? ॥४॥ लोकपाल भी उन हनुमानजीकी कृपादृष्टि चाहा करते हैं। रणमें हल्ला करनेवाले हनुमानजीका जो सेवक है, वह सदा निर्भय रहता तथा आनन्द मंगलमय विजय-लाभ करता है ॥५॥ पूर्णचन्द्रवत् श्रीरामजीकी मुखच्छविको चकोरकी भाँति निहारनेवाले हनुमानजीका नाम भक्तोंके लिए कल्पवृक्षके समान है। हे तुलसीदास ! गयी हुई वस्तुको फिरसे दिला देनेवाले श्रीहनुमानजीका जो यश गाता है, उसकी हथेलीपर चारों फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) धरे रहते हैं ॥६॥

विशेष

१—'विलोचन कोर'—यह हनुमानजीके लिए कहा गया है। इसका शाब्दिक अनुवाद कोरदार आँखोंवाले किया जा सकता है। पर इसमें रसका वह परिपाक कहाँ जो 'विलोचन कोर' में है ? साहित्य-रसज्ञ ही कविके इस प्रयोगका ठीक-ठीक रसास्वादन कर सकते हैं।

२—'डरत दिवाकर' और 'रद-मद कुलिस' को २५ पदके विशेष विवरणमें देखिये।

राग-बिलावल

(३२)

ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले ।
साहेब कहूँ न राम से, तोसे न उसीले ॥१॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले ।
जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुनगन कीले ॥२॥
हाँक सुनत दसकन्ध के भये बन्धन ढीले ।
सो बल गयो किधौं भये अब गरब गहीले ॥३॥
सेवक को परदा फटे तू समरथ सीले ।
अधिक आपुते आपुनो सुनि मान सहीले ॥४॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले ।
तिहूँकाल तिनको भलौ जे राम रँगीले ॥५॥

शब्दार्थ—उसीले=वसीला, सेगा; जिसके द्वारा राजाके पास किसीकी पहुँच होती है, वह उसका वसीला कहलाता है । कीले=कील दिया, बाँध दिया । बंधन=अङ्गोंके जोड़ । सीले=सी दो, टाँके लगा दो । साँसति=कष्ट ।

कथा-प्रसंग—जब गोस्वामीजी चिरकालतक अंजनी-ललाका भजन करते रह गये, किन्तु उनपर श्रीरामजीकी कृपा न हुई, तब उन्होंने खिन्न होकर ऊपरके पदकी रचना की थी ।

भावार्थ—हे हठीले हनुमान ! तुझे ऐसा नहीं चाहिये । रामजीके समान कहीं स्वामी नहीं हैं और तेरे समान वसीला नहीं है ॥१॥ तेरे देखते-देखते मुझ सिंह-शावकको कलियुगरूपी मेढक निगले जा रहा है । मैं जानता हूँ कि कलिने तेरे मन और गुणोंको भी कील दिया है ॥२॥ तेरी हुंकार सुनते ही रावणके बन्धन ढीले पड़ गये थे; कह नहीं सकता कि अब तुझमें वह बल रहा ही नहीं अथवा तू गर्वीला हो गया ॥३॥ सेवकका पर्दा फटनेपर तू उसे सी लेनेमें समर्थ है; अर्थात् सेवककी पोल खुलती देखकर तू उसकी रक्षा कर सकता है; क्योंकि तू अपनेसे अधिक अपने सेवककी सुनता और उसका मान सहनेवाला है ॥४॥ तुलसीदासका कष्ट सुनकर उसे दूर करनेका यश तू ही ले । क्योंकि जो रामके रँगीले हैं, उनका तो तीनों कालमें कल्याण ही है अर्थात् अब

मैं रामके रंगमें रँग गया हूँ, इसलिए मेरा भला तो कभी-न-कभी अवश्य ही होगा—हाँ, यश लेना हो तो तू ले ले ॥५॥

विषेश

सुना जाता है कि एक बार उस समयके बादशाहने गुसाईंजीसे कुछ करामात दिखानेके लिए कहा। गुसाईंजीने उत्तर दिया कि मैं राम-नामके सिवा और कोई करामात नहीं जानता। बादशाहने समझा कि यह गुस्ताखी कर रहा है। अतः उसने इन्हें जेलमें बन्द कर दिया। उसी समय गोस्वामीजीने यह पद बनाया था। किन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्धमें हम अपनी राय ऊपर कथा-प्रसंगमें व्यक्त कर चुके हैं।

(३३)

समरथ सुअन समीर के, रघुवीर-पियारे।
मोपर कीबी तोहि जो करि लेहि भिया रे ॥१॥
तेरी महिमा ते चलैं चिंचिनी-चिंया रे।
अँधियारो मेरी बार क्यों, त्रिभुवन उजियारे ॥२॥
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ औगुन आपने करि डारि दिया रे ॥३॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि आजु लौं जग जागि जिया रे ॥४॥
जो तोसों होतौ फिरौ मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यों वदन देखावतो कहि वचन इया रे ॥५॥
तोसों ज्ञान-निधान को सरवग्य बिया रे।
हौं समुझत साईं-द्रोह की गति छार छिया रे ॥६॥
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे ॥७॥

शब्दार्थ—भिया = भैया। चिंचिनी = इमली। चिंया = बीज। खोंची = बाजारों या देहातोंमें किसी व्यक्ति-विशेष, साधु-अभ्यागत अथवा मन्दिरके पुजारीके भोजनके लिए

घरघरसे थोड़ा-थोड़ा अन्नादि देनेका जो प्रबन्ध किया जाता है उसे खोंची कहते है । इया = यार अथवा दोस्त । बिया = दूसरा । छार = राख । छिया = छिः छिः, छीछालेदर, नरक ।

भावार्थ—हे सामर्थ्यवान पवनकुमार ! हे रघुनाथजीके प्यारे ! तुम्हें मुझपर जो कुछ करना हो सो भैया कर लो ॥१॥ तुम्हारी महिमासे इमलीके चियें भी सिक्केकी जगह चल जाते हैं । फिर मेरे ही लिए हे तीनों लोकके उजागर, तुमने इतना अन्धेर क्यों कर रखा है ॥२॥ पहले तुमने मेरी किस करनीसे अपना भक्त जानकर मेरा सम्मान किया था, और अब किस पाप और अवगुणसे मुझे अपने हाथसे छोड़ दिया ? ॥३॥ मैंने तो तुम्हारा ही नाम लेकर खोंचीका अन्न माँगा और खाया । तुम्हारी बलैया लेता हूँ, मैं तो तुम्हारे ही बलपर आजतक संसारमें उजागर होकर जीवित रहा हूँ ॥४॥ यदि तुमसे विमुख होनेका कारण मेरा हृदय होता, तो फिर मैं यह वचन कहकर तुम्हें अपना मुँह कैसे दिखाता ? ॥५॥ तुम्हारे समान महाज्ञानी ओर सर्वज्ञ दूसरा कौन है, मैं जानता हूँ कि स्वामीके साथ शत्रुता करनेका परिणाम बर्बाद होना है ॥६॥ तुम्हारे स्वामी रामजी और स्वामिनी जानकीजी सरीखी हैं । वहाँ (उनके दरबारमें) तुलसीदासको तुम्हारे सिवा किसका और किस बातका सहारा है ॥७॥

विशेष

१—'भिया'—यह बनारसी और मिर्जापुरी बोलीका ठेठ शब्द है ।

२—'खोंची'—का अर्थ शब्दार्थमें लिखा गया है । कई टीकाकारोंने इसका अर्थ 'भीख' लिखा है । पर वास्तवमें यह शब्द उक्त अर्थसे कुछ भिन्न है ।

(३४)

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन-दुखारी ।
इनको बिलगु न मानिये, बोलहिं न बिचारी ॥१॥
लोक-रीति देखी सुनी, ब्याकुल नर-नारी ।
अति बरषे अनबरषे हूँ, देहिं दैवहिं गारी ॥२॥
नाकहि आये नाथ सों, साँसति भय भारी ।
कहि आयो कीबी छमा, निज ओर निहारी ॥३॥

समै साँकरे सुमिरिये, समरथ हितकारी।
सो सब विधि ऊबर करै, अपराध बिसारी ॥४॥
बिगरी सेवक की सदा, साहबहिं सुधारी।
तुलसी पर तेरी कृपा, निरुपाधि निनारी ॥५॥

शब्दार्थ—बिलगु = बुरा। नाकहिं = नाकोंदम। निहारी = देखकर। साँकरे = कष्टकर। ऊवर करै = उबारता या उद्धार करता है। निरुपाधि = उपाधि-रहित, विघ्न-बाधा-रहित। निनारी = स्पष्ट।

भावार्थ—अत्यन्त आर्त्त, अत्यन्त स्वार्थी, अति दीन और अति दुखिया, इनकी बातोंपर बुरा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि ये सोच-विचारकर नहीं बोलते ॥१॥ लोककी यह रीति देखने और सुननेमें आयी है कि व्याकुल स्त्री-पुरुष अधिक वर्षा होनेपर और बिलकुल ही वर्षा न होनेपर दैवको गालियाँ देते हैं ॥२॥ हे नाथ, विशेष कष्ट और भयसे नाकोंदम आ जानेपर ही मैंने तुम्हें इतनी (खरी-खोटी) सुनायी है। अब तुम अपनी दयालुताकी ओर देखकर मुझे क्षमाकर दो ॥३॥ कष्टकर समयमें लोग अपने हितू और सामर्थ्यवान्‌का स्मरण किया करते हैं, और वह हितू सब अपराधोंको भूलकर उसकी सब प्रकारसे रक्षा करता है ॥४॥ सेवककी बिगड़ी हुई बातोंको सदैव स्वामीको ही सुधारना पड़ता है। फिर तुलसीदासपर तो तुम्हारी कृपा स्पष्ट है, उसमें किसी तरहकी विघ्न-बाधा नहीं है, यह स्पष्ट है ॥५॥

(३५)

कटु कहिये गाढ़े परे, सुनि समुझि सुसाईं।
करहिं अनभलेउ को भलो, आपनी भलाई ॥१॥
समरथ सुभ जो पाइये, वीर पीर-पराई।
ताहि तकैं सब ज्यों नदी, बारिधि न बुलाई ॥२॥
अपने अपने को भलो, चहैं लोग-लुगाई।
भावै जो जेहि तेहि भजै, सुभ-असुभ सगाई ॥३॥
बाँह बोलिदै थापिये, जो निज बरिआईं।
बिन सेवा सों पालिये, सेवक की नाईं ॥४॥

चूक चपलता मेरियै, तू बड़ो बड़ाई ।
होत आदरे ढीठ है, अति नीच निचाई ॥५॥
बंदिछोर विरुदावली, निगमागम गाई ।
नीको तुलसी दासको, तोरियै निकाई ॥६॥

शब्दार्थ—सुभ = मंगलरूप । पीर पराई = दूसरोंकी व्यथा । लोग = पुरुष । लुगाई = स्त्री (राजस्थानका शब्द है) । सगाई = सम्बन्ध । बोलिदै = बल या सहारा देकर । बरिआई = जबर्दस्ती ।

भावार्थ—अच्छा स्वामी सुन और समझ कर ही क्लेशके समय कठोर वचन कहा जाता है, और अच्छे स्वामी अपने स्वभावानुसार बुरे सेवकका भी भला कर देते हैं ॥१॥ यदि समर्थ, मंगलरूप और दूसरोंकी व्यथा दूर करनेमें बहादुर स्वामी मिल जाते हैं, तो उन्हें सब लोग वैसे ही देखते हैं जैसे नदी बिना बुलाये ही समुद्रकी ओर दौड़ती है (अर्थात् जैसे नदियाँ समुद्रसे मिलनेकी स्वाभाविक ही इच्छा करती हैं, वैसे ही सबलोग अच्छे स्वामीका सेवक होनेके इच्छुक होते हैं) ॥२॥ जितने स्त्री-पुरुष हैं, सब अपनी-अपनी भलाई चाहते हैं । जिसे जो अच्छा लगता है, शुभ और अशुभके सम्बन्धसे वह उसीको भजता है । तात्पर्य यह कि जो जैसी शुभ-अशुभ कामना करता है, वैसे ही देवताकी वह पूजा करता है ॥३॥ जब तुमने जबर्दस्ती अपनी भुजाओंका सहारा देकर मुझे रख लिया है, तो सेवा न करनेपर भी तुम्हें सेवकहीकी तरह उसका पालन करना चाहिये ॥४॥ भूल-चूक और चंचलता सब मेरी ही है,—तुम तो बड़े और बड़ाईके योग्य हो । आदर करनेसे नीच लोग नीचता करनेमें ढीठ हो जाते हैं ॥४॥ हे बन्दियोंको छुड़ानेवाले हनुमान्‌जी ! वेद और शास्त्रने तुम्हारी गुण-गाथा गायी है । तुलसी दासको केवल तुम्हारी ही अच्छाई भली है । यानी तुम दयालु हो, अतः तुलसी दासका कल्याण हो जायगा ।

राग गौरी

(३६)

मंगल-मूरति मारुत-नंदन । सकल-अमंगल-मूल-निकंदन ॥१॥
पवनतनय संतन हित-कारी । हृदय विराजत अवध-विहारी ॥२॥

मातु-पिता, गुरु, गनपति, सारद। सिवा-समेत संभु, सुक, नारद ॥३॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू ॥४॥
बंदौं राम-लखन-वैदेही। जे तुलसी के परम सनेही ॥५॥

शब्दार्थ—निकंदन = उखाड़नेवाला। सिवा = पार्वती। सुक = शुकदेवजी। निबाहू = निर्वाह।

भावार्थ—हे पवनकुमार! तुम मंगलमूर्त्ति हो और सब संकटोंको जड़से उखाड़ देनेवाले हो ॥१॥ हे हनुमानजी! तुम साधु पुरुषोंका हित करनेवाले हो। तुम्हारे हृदयमें रामचन्द्रजी सदा निवास करते हैं ॥२॥ माता, पिता, गुरु, गणेश, सरस्वती, पार्वतीके सहित शिव, शुकदेव तथा नारदके ॥३॥ चरणोंकी वन्दना करके सब लोगोंसे मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि रामजीके चरणोंमें मेरा जो प्रेम है, उसका निर्वाह हो जाय ॥४॥ मैं राम, लक्ष्मण और जानकीजीकी वन्दना करता हूँ, क्योंकि ये तुलसीदासके परम स्नेही हैं ॥५॥

विशेष

१—गुसाईंजीने इस पदमें हनुमानजी, माता-पिता, गुरु, गणेश, शारदा, शिवपार्वती, शुकदेव, नारदादिके चरणोंकी वन्दना करके रामपद-प्रेम माँगा है। अन्तमें उन्होंने राम-लक्ष्मण-सीताकी भी वन्दना कर सूचित किया है कि अब आगेके पदोंमें केवल लक्ष्मण, जानकी और रामकी वन्दना की जायगी।

लक्ष्मण-स्तुति

दण्डक

(३७)

लाल लाड़िले लखन, हित हौ जनके।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी,
पालक कृपालु अपने पनके ॥१॥

धरनी-धरनहार भंजन-भुवनभार,
अवतार साहसी सहसफन के ।
सत्यसंध, सत्यव्रत, परम धरमरत,
निरमल करम बचन अरु मनके ॥२॥

रूप के निधान, धनु-बान पानि, तून कटि,
महावीर विदित, जितैया बड़े रन के ।
सेवक-सुख-दायक, सबल, सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुनगनके ॥३॥

भावते भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घनके ।
बल्लभ उर्मिला के, सुलभ सनेह बस,
धनी धन तुलसी से निरधन के ॥४॥

शब्दार्थ—लाड़िले = दुलारे । सहसफन = शेषनाग । तून = तरकस । घन = बादल । बल्लभ = पति ।

भावार्थ—हे लाड़ले लखनलाल ! तुम राम-भक्तोंका हित करनेवाले हो । याद करनेपर संकट हर लेते हो और सब तरहसे कल्याण करते हो । तुम अपनी प्रतिज्ञाको पालनेवाले तथा कृपालु हो ॥१॥ तुम पृथिवीको धारण करनेवाले तथा चौदहो भुवनोंका भार दूर करनेवाले पराक्रमी शेषनागके अवतार हो । तुम अपने प्रण और व्रतको सत्य करनेवाले, धर्ममें अत्यन्त रत तथा निर्मल मन, वचन और कर्मवाले हो ॥२॥ तुम सुन्दरताके घर हो, हाथमें धनुष-बाण लिये रहते हो, कमरमें तरकस कसे रहते हो, विख्यात महायोद्धा हो और बड़े-बड़े युद्धोंमें विजय-लाभ करनेवाले हो ॥ तुम सेवकोंको सुख देनेवाले, महा बलवान्, हर प्रकारसे योग्य तथा जानकीनाथके गुणोंका गान करनेवाले हो ॥३॥ तुम भरतजीके प्रिय, सुमित्रा और सीताजीके दुलारे तथा रामरूपी श्यामघनके चतुर चातक हो । तुम महाराणी उर्मिलाके पति हो, प्रेमसे सहजमें मिलनेवाले हो और तुलसीदास-जैसे निर्धनको राम-पद-प्रेमरूपी धन देनेके लिए बड़े धनी हो ॥४॥

विशेष

१—'धरनी-धरनहार—लक्ष्मणजी शेषावतार हैं। पुराणोंमें लिखा है कि यह पृथिवी वासुकिनागके फनपर स्थित है। इसीसे लक्ष्मणजीको 'धरनी-धरनहार' कहा गया है।

२—'रूपके निधान'—इनकी सुन्दरताके सम्बन्धमें लिखा है:—

कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे।
भरत रामहीकी अनुहारी। सहसा लखि न सकहि नर-नारी॥
लखन सत्रुसूदन इक रूपा। नख सिखतें सब अंग अनूपा।
मनभावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥

—रामचरितमानस !

राग धनाश्री

(३८)

जयति लछमनानंत भगवंत भूधर, भुजग-
राज भुवनेस, भूभारहारी।
प्रलय-पावक-महाज्वालमाला-वमन,
समन-संताप लीलावतारी॥१॥

जयति दासरथि, समर-समरथ, सुमित्रा-
सुवन, सत्रुसूदन, राम-भरत बंधो।
चारु-चंपक-वरन वसन-भूषन-धरन,
दिव्यतर, भव्य, लावन्य-सिन्धो॥२॥

जयति गाधेय-गौतम-जनक-सुख-जनक,
विस्व-कंटक-कुटिल-कोटि-हंता।
वचन-चय-चातुरी-परसुधर-गरब-हर,
सर्वदा राम भद्रानुगंता॥३॥

जयति सीतेस-सेवा सरस, विषय रस-
निरस, निरुपाधि धुरधर्मधारी।

विपुलबलमूल सार्दूल विक्रम जलद—
नाद-मर्दन, महावीर भारी ॥४॥

जयति संग्राम-सागर-भयंकर-तरन,
रामहित-करन बरबाहु-सेतू ।
उर्मिला-रवन, कल्याण-मंगल-भवन,
दास तुलसी-दोष-दवन-हेतू ॥५॥

शब्दार्थ—ज्वालमाला = लपटें । वमन = उगलना । दासरथि = दशरथके पुत्र । गाधेय = गाधिके पुत्र विश्वामित्र । जनक = उत्पन्न करनेवाले । कंटक = काँटा । कुटिल = दुष्ट । चय = समूह । परसुधर = परशुराम । भद्र = कल्याणरूप । अनुगंता = पीछे-पीछे चलनेवाले । सरस = रत । निरस = उदासीन । सार्दूल = सिंह । तरन = पार करनेवाले ।

भावार्थ—जय हो ! हे लक्ष्मणजी, आप अनन्त, ऐश्वर्यवान्, पृथिवीको धारण करनेवाले शेषनाग, समस्त संसारके स्वामी, पृथ्वीका भार उतारनेवाले, प्रलयकालकी अग्निकी विकराल लपटें उगलनेवाले तथा लीलापूर्वक अवतार लेकर संसारके दुःखोंका नाश करनेवाले हैं ॥१॥ हे दशरथके पुत्र लक्ष्मणजी ! आपकी जय हो । आप युद्धमें समर्थ, सुमित्राके पुत्र, शत्रुघ्न, राम और भरतके भाई हैं । हे सौन्दर्यके समुद्र लक्ष्मणजी ! आपके सुन्दर शरीरका रंग चम्पा-पुष्पके समान है; आप अत्यन्त दिव्य वस्त्र और आभूषण धारण किये रहते हैं ॥२॥ आपकी जय हो ! आप विश्वामित्र, गौतम, महाराज जनकको आनन्द देनेवाले, संसारके कंटकस्वरूप करोड़ों कुटिलोंका हनन करनेवाले, चातुरीपूर्ण बातोंसे ही परशुरामजीका गर्व हरनेवाले तथा सर्वदा कल्याणरूप रामजीके पीछे-पीछे चलनेवाले हैं ॥३॥ जय हो ! आप रामचन्द्रजीकी सेवामें रत तथा विषय-रससे उदासीन रहनेवाले, उपाधि-रहित या कामना-रहित धर्मकी धुरीको धारण करनेवाले, अपार बलके मूल स्थान, सिंहवत् पराक्रमवाले, मेघनादका मर्दन करनेवाले तथा बहुत बड़े महावीर हैं ॥४॥ जय हो ! आप भयंकर युद्धरूपी समुद्रको पार करनेवाले, रामजीकी भलाई करनेके लिए आपकी श्रेष्ठ भुजाएँ पुलस्वरूप हैं । हे उर्मिलानाथ ! आप कल्याण और मंगलके घर हैं तथा तुलसीदासके दोषोंको नाश करनेके मुख्य कारण हैं । ॥५॥

विशेष

१—'गाधेय गौतम···जनक'—लक्ष्मणजीने सुबाहु आदि राक्षसोंको मारकर विश्वामित्रको, रामचन्द्र द्वारा अहल्याको शापमुक्त कराकर गौतमको तथा जनकपुरमें धनुष-यज्ञके समय निराश महाराज जनकको साहस देकर आनन्द प्रदान किया था।

२—सीतेस सेवा···निरस'—लक्ष्मणजी भगवान् रामचन्द्रकी सेवामें इस प्रकार तल्लीन रहते थे कि उन्होंने संसारमें और किसीको कुछ समझा ही नहीं। उन्होंने वनवासके समय १४ वर्षतक अखंड ब्रह्मचर्य निभाया था। विषय-वासनाओंसे वह किस प्रकार उदासीन रहते थे, उनमें कितनी अपूर्व निष्ठा थी, इसका मुख्य प्रमाण नीचेकी कथा है—

मेघनादको वर था कि जो आदमी बारह वर्ष अन्न, नींद और स्त्री-प्रसंग त्याग किये रहेगा, वही उसका वध कर सकेगा। उसने इस वरदानकी बात अपनी स्त्री सुलोचनासे कही थी। अतः जब उसकी कटी हुई भुजा सुलोचनाके सामने आकर गिरी, तब उसने विलापके साथ कहा, यह क्या हो गया? उस समय मेघनादकी भुजाने लिख दिया कि मेरा वध लक्ष्मणजीने किया है। वह अगणित वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन कर चुके हैं। उनकी महिमाका वर्णन करना शेष और शारदाके लिए भी असम्भव है।

भरत-स्तुति

(३९)

जयति भूमिजारमन-पदकंज-मकरंद-रस-रसिक-मधुकर भरत भूरिभागी।
भुवन-भूषन-भानु-बंस-भूषन, भूमिपालमनि रामचन्द्रानुरागी ॥१॥
जयति विबुधेस-धनदादि दुर्लभ महाराज-सम्राज-सुख-प्रद-विरागी।
खड्ग-धाराव्रती-प्रथम रेखा प्रगट सुद्धमति-जुवति पति-प्रेमपागी ॥२॥
जयति निरुपाधि भक्तिभाव-जंत्रित-हृदय,बंधु-हित चित्रकूटाद्रि-चारी
पादुका नृप-सचिव-पुहुमि-पालक परम धरम-धुर-धीर वरवीर भारी३

जयति संजीवनी-समय-संकट हनूमान धनुवान-महिमा वखानी।
वाहुवल विपुल परमिति पराक्रम अतुल, गूढ़ गति जानकी-जान जानी
जयति-रन-अजिर गंधर्व-गन-गर्वहर फिर किये राम गुनगाथ-गाता।
मांडवी-चित्त-चातक-नवांबुद-वरन, सरन तुलसीदास अभय-दाता॥५॥

शब्दार्थ—भूरि = बहुत। विबुधेस = इन्द्र। धनदादि = कुबेर इत्यादि। महाराज सम्राज = महासाम्राज्य। प्रेमगामी = तल्लीन। जंत्रित = वशीभूत। चित्रकूटाद्रि (चित्रकूट + अद्रि) = चित्रकूट पर्वत। पादुका = खड़ाऊँ। पुहुमि = पृथिवी। परमिति = प्रमाण जानकी-जान = रामचन्द्र। रन-अजिर = रणांगण, युद्धभूमि। गाता = गानेवाला, गायक। मांडवी = भरतजीकी अर्द्धाङ्गिनी। नवांबुद (नव + अम्बुद) = नवीन मेघ।

भावार्थ—श्रीरामजीके चरणारविन्दोंका मकरन्द पान करनेके रसिक भ्रमर तथा अत्यन्त भाग्यशाली भरतलालकी जय हो! आप संसारके भूषणस्वरूप सूर्य-वंशके आभूषण हैं, और राजाओंमें शिरोमणि रामचन्द्रजीके प्रेमी हैं॥१॥ आपकी जय हो! आपने ऐसे सुखप्रद महासाम्राज्यको छोड़ दिया, जो इन्द्र और कुबेर आदिके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। आप तलवारकी धारके समान व्रती महात्माओं-में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं, और आपकी शुद्ध बुद्धि-रूपी युवती स्त्री रामरूपी पतिके प्रेममें तल्लीन है॥२॥ आपकी जय हो! आप निष्काम भक्तिभावके वशी-भूत हृदयसे प्रिय भाई रामचन्द्रके लिए चित्रकूट पर्वतपर पैदल गये, रामजीके पादुका-रूपी राजाके मंत्री बनकर पृथिवीका पालन करते रहे तथा परमधर्मके धुरीको धारण करनेवाले एवं बड़े भारी वीर हैं॥३॥ जय हो! संजीवनी बूटी लाते समय संकट आनेपर हनुमान्‌जीने आपके धनुषबाणकी महिमाका बखान किया था, आपके बाहुबलकी अधिकता और अतुलित पराक्रमका यही प्रधान प्रमाण है। आपकी गूढ़गति केवल जानकी-वल्लभ रामजी जानते हैं॥४॥ आप युद्ध-स्थानमें गन्धर्वोंका गर्व हरनेवाले तथा फिरसे उन्हें भी रामजीकी गुणावलीके गायक बनानेवाले हैं। आप महाराणी मांडवीके चित्त-चातकके लिए नवीन मेघवर्ण हैं और शरणागत तुलसीदासको अभयदान देनेवाले हैं। आपकी जय हो!

विशेष

१—**'पादुका नृप सचिव'—भरतजी प्रतिदिन श्रीरामजीकी पादुकाका**

पूजन करते थे और जबतक रामजी वनवास समाप्त करके अयोध्यापुरीमें नहीं आये तबतक उस पादुकासे आज्ञा लेकर मन्त्रीकी भाँति राज्यकार्य करते रहे ।

२—'संजीवनी-समय-संकट'—हनुमान्‌जी मूर्च्छित लक्ष्मणजीके लिए संजीवनी बूटी लेकर आकाश मार्गसे लौट रहे थे । भरतजीने उन्हें देखकर यह अनुमान किया कि कोई मायावी राक्षस जा रहा है । इसलिए उन्होंने हनुमान्‌जीपर एक बाण चला दिया । बाण लगते ही वह 'हा राम ! हा राम !' कहते हुए जमीनपर गिर पड़े । राम शब्द सुनते ही भरतजीको बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने सोचा कि यह तो राक्षस नहीं, कोई रामभक्त है । अतः तुरन्त ही उन्होंने दौड़कर हनुमान्‌जीको उठाकर हृदयसे लगा लिया । उसी समय हनुमान्‌जीने उनके बाणकी महिमा कही थी ।

३—'गूढ़गति···जानी'—इस विषयमें जनकजीने महाराणी सुनयनासे कहा है :—

भरत महामहिमा सुनु रानी । जानहिं राम न सकहिं बखानी ॥

(रामचरितमानस)

४—'गन्धर्व गन गर्वहर'—एक बार गन्धर्वोंने भरतजीके ननिहाल केकय देशपर जिसे आजकल कश्मीर कहते हैं—आक्रमण किया था । भरतजीने जाकर उन्हें हराया और उन गन्धर्वोंको—जो कि रामचन्द्रजीके विमुख थे—रामगुण-गायक बना दिया ।

शत्रुघ्न-स्तुति

राग धनाश्री

(४०)

जयति जय सत्रु-करि-केसरी सत्रुहन, सत्रुतम-तुहिनहर किरनकेतू ।
देव-महिदेव-महि-धेनु-सेवक सुजन-सिद्ध-मुनि-सकल-कल्यान-हेतू ॥१॥
जयति सर्वांग सुन्दर सुमित्रा-सुवन, भुवन विख्यात-भरतानुगामी ।
वर्म चर्मासि-धनु-बान-तूनीर-धर सत्रु-संकट-समन यत्प्रनामी ॥२॥

जयति लवनाम्बुनिधि-कुंभ-संभव महादनुज-दुर्जन दवन, दुरितहारी।
लक्ष्मणानुज, भरत-राम-सीता-चरन-रेनु-भूषित-भाल-तिलकधारी॥३॥
जयति स्रुतिकीर्त्ति-वल्लभ सुदुर्लभ सुलभ नमत नर्मद भुक्ति मुक्तिदाता
दास तुलसी चरन-सरन सीदत विभो पाहि दीनार्त्त-संताप-हाता ॥४॥

शब्दार्थ—करि = हाथी। किरन-केतू = किरणोंकी ध्वजा यानी सूर्य। महिदेव = ब्राह्मण। वर्म = कवच। चर्मासि = (चर्म + असि) ढाल और तलवार। लवनाम्बुनिधि = (लवण + अम्बुनिधि) लवणासुररूपी समुद्र। कुंभ-संभव = अगस्त्य। दुरित = पाप। श्रुतिकीर्त्ति = शत्रुघ्न-जीकी स्त्री। नर्मद = सुखदाता। सीदत = दुःख पा रहा है।

भावार्थ—शत्रुरूपी हाथियोंका नाश करनेके लिए सिंहवत् शत्रुघ्नजीकी जय हो, जय हो! आप शत्रुरूपी अन्धकार और पालेका हरण करनेके लिए साक्षात् सूर्य हैं। आप देवता, ब्राह्मण, पृथिवी, गऊ, भक्त, संत, सिद्ध और मुनियोंका कल्याण करनेवाले हैं। ॥१॥ आपका अंग-प्रत्यंग सुन्दर है; आप सुमित्राके पुत्र हैं और भरतजीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं यह बात जगत् विख्यात है। जय हो! आप कवच, ढाल, तलवार, धनुष, बाण और तरकस धारण करनेवाले तथा शत्रुओं द्वारा आये हुए संकटका नाश करके उनसे प्रणाम करानेवाले या उन्हें अपने पैरोंपर गिरानेवाले हैं॥२॥ आप लवणासुररूपी समुद्रको पान कर जानेवाले अगस्त्यके समान हैं। आप बड़े-बड़े राक्षसों और दुष्टोंका संहार करनेवाले तथा पापोंका हरण करनेवाले हैं। आपकी जय हो! आप लक्ष्मण-जीके छोटे भाई तथा भरत, राम और सीताकी चरण-रजका तिलक अपने सुन्दर मस्तकपर धारण करनेवाले हैं॥३॥ हे श्रुतिकीर्ति-वल्लभ! आपकी जय हो। आप ईश्वर-विमुखोंके लिए दुर्लभ और भक्तोंके लिए सुलभ हैं, प्रणाम करते ही सुख देनेवाले तथा भोगैश्वर्य और मुक्ति देनेवाले हैं। हे विभो! तुलसीदास आपके चरणोंकी शरणमें आनेपर दुःख पा रहा है। हे दीनों और आर्त्तोंका दुःख दूर करनेवाले शत्रुघ्नजी मेरी रक्षा कीजिये॥४॥

विशेष

१—लवणासुर मथुराका राजा था। इसके अत्याचारोंसे गो-ब्राह्मण तथा संत-महात्मा तंग आ गये थे। शत्रुघ्नने उसका वध करनेके लिए रामचन्द्रजीसे

आज्ञा माँगी, आज्ञा पाते ही उन्होंने मथुरामें जाकर उसका वध करके प्रजाकी दुश्चिन्ता दूर कर दी।

२—'यत्प्रणामी' श्री वियोगीहरिने इसका अर्थ किया है 'उस शत्रुघ्नजीको मैं प्रणाम करता हूँ।' किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ है 'जिसमें प्रणाम करनेकी क्षमता हो'। जैसे नाम और नामी है, वैसे ही प्रणाम और प्रणामी है।

श्रीसीता-स्तुति

राग-केदारा

(४१)

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

शब्दार्थ—अंब = माता। द्याइबी = दिलाना। अघी = पापी। अघाइ = परिपूर्ण। बिगरिऔ = बिगड़ी हुई बात भी। जन = दास। तव = तुम्हारे।

भावार्थ—हे माता, कभी अवसर मिलनेपर कुछ कारुणिक बात चलाकर प्रभुजीको मेरी भी याद दिलाना ॥१॥ कहना, एक दीन, सर्व साधनोंसे रहित, कृश, मलिन और पूरा पापी मनुष्य अपनेको आपकी दासी (तुलसी) का दास (तुलसीदास) कहलाकर आपका नाम लेकर यानी आपका भक्त बननेका ढोंग रचकर पेट भरता है ॥२॥ किन्तु यदि प्रभुजी पूछें कि वह कौन है, तब तुम मेरा नाम और (ऊपर कहे अनुसार) मेरी दशा उन्हें बताना। कृपालु प्रभुजीके इतना सुन लेनेसे ही मेरी बिगड़ी हुई बात भी बन जायगी ॥३॥ हे जगज्जननी

जानकीजी ! यदि आप इस दासकी वचन द्वारा इतनी सहायता कर देंगी, तो तुलसीदास आपके स्वामीकी गुण-गाथा गा-गाकर भव-सागरसे पार हो जायगा—तर जायगा ॥४॥

विशेष

१—'किये वचन सहाइ'—में गोस्वामीजीका गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। वास्तवमें महारानीजीके कहनेमात्रसे ही मनुष्यको परमात्माकी समीपता प्राप्त हो जाती है। क्योंकि वह किसीके सम्बन्धमें श्रीरामजीसे तभी कहेंगी, जब उनमें उसके प्रति दया उत्पन्न होगी, और उनमें दया उत्पन्न होनेपर श्रीरामजीके हृदयमें दया उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कारण यह कि श्रीसीता और रामका अभेदसम्बन्ध है। देखिये:—

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

—रामचरितमानस।

इस पदमें करुण-रसकी अपूर्व और अटूट धारा है।

(४२)

कबहुँ समय सुधि द्याइबो, मेरी मातु जानकी
जन कहाइ नाम लेत हौं किये पन चातक ज्यों, प्यास प्रेम-पान को ॥१॥
सरल प्रकृति आपु जानिये करुना निधान की।
जिन गुन, अरिकृत अनहितौ, दास-दोष सुरति चित रहत न दिये दानकी
बानि बिसारनसील है मानद अमान की।
तुलसीदास न बिसारिये, मन करम बचन जाके, सपनेहुँ गति न आनकी॥

शब्दार्थ—अरिकृत = शत्रु द्वारा किया हुआ। अनहितौ = अनिष्ट भी। सुरति = स्मरण। बिसारनसील = भूलनेकी। मानद = मान देनेवाले। अमान = निरादर।

भावार्थ—हे मातेश्वरी जानकी, कभी समय पाकर भगवान्‌को मेरी सुध कराना। मैं चातककी भाँति प्रणपूर्वक उनका दास कहाकर उनका नाम जप रहा हूँ। मुझे उनका प्रेम-रस पीनेकी प्यास है ॥१॥ करुणा-निधान श्रीरामजीके सरल स्वभावको आप जानती हैं। उन्हें अपना गुण, सेवकका अपराध दिये हुए दान तथा शत्रु द्वारा किये हुए अनिष्टोंका भी स्मरण नहीं रहता ॥२॥

उनकी आदत ही भूल जानेकी है। जो प्राणी कहीं भी सम्मान नहीं पाता, उसे भी वह मान दिया करते हैं। जिस तुलसीदासको मन, वचन और कर्मसे स्वप्नमें भी दूसरेका सहारा नहीं है, उसे वह (अपने भुलक्कड़ स्वभावानुसार) भूल न जायँ ॥३॥

विशेष

१—'अनहितौ'—इस शब्दमें कविने भगवान्‌के करुणानिधानत्वकी सार्थकता दिखलायी है। इसीसे उसने इसपर विशेष जोर देनेके लिए 'अरिकृत अनहितौ' यानी 'शत्रु द्वारा किये हुए अनिष्टोंको भी' लिखा है। 'भी' से सूचित हो रहा है कि और बातोंका भूल जाना तो साधारण बात है, पर शत्रु द्वारा किये हुए अनिष्टोंको भूल जाना कारुणिकताकी पराकाष्ठा है।

श्रीराम-स्तुति

(४३)

जयति सच्चिद्‌व्यापकानन्द परब्रह्म-पद, विग्रह-व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस, विमल गुन-गेह नर-देह-धारी ॥१॥
जयति कोसलाधीस-कल्यान कोसलसुता,कुसल कैवल्य-फल चारुचारी
वेद बोधित करम-धरम-धरनी-धेनु, विप्र सेवक साधु-मोदकारी ॥२॥
जयति ऋषि-मखपाल, समन सज्जन-साल, सापबस मुनि-वधू पापहारी।
भंजि भव-चाप, दलि दाप भूपावली, सहित भृगुनाथ नतमाथ भारी॥३
जयति धारमिक-धुर, धीर रघुवीर गुरु-मातु-पितु-बंधु-वचनानुसारी।
चित्रकूटाद्रि विन्ध्याद्रि दंडक विपिन, धन्यकृत पुन्यकानन बिहारी ४
जयति पाकारिसुत-काक करतूति-फलदानि खनि गर्त्त गोपित विराधा
दिव्य देवी वेष देखि लखि निसिचरी जनु विडंबित करी विस्वबाधा५
जयति खर-त्रिसिर-दूषन चतुर्दस-सहस-सुभट-मारीच-संहारकर्त्ता।
गृध्र-सबरी-भगति-बिवस करुनासिंधु,चरित निरुपाधि, त्रिविधार्तिहर्त्ता
जयति मद-अंध कुकबंध बधि, बालि बलसालि बधि, करन सुग्रीव राजा
सुभट मर्कट भालु-कटक संघट सजत, नमत पद रावनानुज निवाजा॥७

जयति पाथोधि-कृत-सेतु कौतुक हेतु, काल-मन-अगम लइ ललकि लंका
सकुल, सानुज,सदल दलित दसकंठ रन, लोक-लोकप किये रहित-संका
जयति सौमित्रि-सीता-सचिव-सहित चले पुष्पकारूढ़ निज राजधानी ।
दास तुलसी मुदित अवधवासी सकल, राम भे भूप वैदेहि रानी ॥९॥

शब्दार्थ—व्यक्त = प्रकट । कोसलाधीस = दशरथ । कोसलसुता = कौशल्या । बोधित = विहित । मखपाल = यज्ञकी रक्षा करनेवाले । साल = पीड़ा देनेवाले, चुभनेवाले । पाकारिसुत = इन्द्रका पुत्र जयन्त । काक = कौआ । खानि = खोदकर । विराधा (विराध) = एक राक्षस । मर्कट = बन्दर । कटक = सेना । सजत = सुसज्जित करना । निवाजा = निहाल किया । ललकि = धुनमें आकर । सकुल = कुलके सहित । वैदेहि = जानकीजी ।

भावार्थ—सत्, चित्, व्यापक और आनन्दस्वरूप परब्रह्म उपाधिधारी श्रीरामजीकी जय हो ! आपने लीला करनेके लिए ही व्यक्त अर्थात् साकार शरीरमें अवतार लिया है । आप व्याकुल ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सिद्धोंके संकोचवश विशुद्ध गुणविशिष्ट मानव-शरीर धारण करनेवाले हैं ॥१॥ आपकी जय हो ! आप महाराज दशरथके कल्याणार्थ तथा महारानी कौशल्याकी कुशलके लिए मोक्षके सुन्दर चार फल हैं । (अर्थात् राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चारों भाई सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य और सालोक्य मुक्तियोंके रूपमें उत्पन्न हुए हैं ।) आप वेद-विहित धर्म-कर्म तथा पृथिवी, गो, ब्राह्मणके सेवकों और साधुओंको आनन्दित करनेवाले हैं ॥२॥ आपकी जय हो ! आप ब्रह्मर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करनेवाले, साधु-महात्माओंके पीड़कोंका नाश करनेवाले तथा शापके कारण पत्थरके रूपमें पड़ी हुई गौतम-पत्नी अहिल्याको पापमुक्त करनेवाले हैं । आप शिवजीके धनुषको तोड़कर राजाओंके दर्पको चूर्ण करनेके साथ ही परशुरामके उन्नत मस्तकको नीचे झुकानेवाले हैं ॥३॥ आपकी जय हो ! आप गुरु, माता, पिता और भाईके वचन माननेवाले, धार्मिकताके धुरा, धीर और रघुकुलमें असाधारण वीर हैं । आपने चित्रकूटपर्वत और विन्ध्य पर्वतको धन्य कर दिया है और दंडक वनमें विहार करके उसे पुनीत बना दिया है ॥४॥ हे काकवेषी इन्द्रके पुत्र जयन्तको उसकी करनीका फल देनेवाले, गड्ढा खोदकर विराध राक्षसको गाड़नेवाले तथा दिव्य देवीके वेषमें सूर्पणखाको देखते ही पहचानकर मानो संसारके बाधास्वरूप रावणको अपमानित करनेवाले (सूर्पणखा-

की नाक और कान काटनेवाले) श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी जय हो ! ॥५॥ आप खर, त्रिशिरा, दूषण, उनकी चौदह हजार सेना तथा मारीचके संहारकर्त्ता हैं। आप गृद्ध और शबरीकी भक्तिके वशमें हो जानेवाले, करुणाके समुद्र, निष्कलंक चरित्रवाले तथा तीन प्रकारके (दैहिक, दैविक, भौतिक) दुःखोंको हरनेवाले हैं ॥६॥ आपकी जय हो ! आपने मदान्ध और दुष्ट कबन्धको मारा तथा महाबलवान् बालिका वध करके सुग्रीवको राजा बनाया। आपने अच्छे-अच्छे योद्धा बन्दरों और रीछोंकी सेना संघटित करके सजायी और पैरोंपर गिरते ही बिभीषणको निहाल कर दिया ॥७॥ जय हो ! आपने लीलाके ही लिए समुद्रपर पुलका निर्माण किया, जो लंकापुरी कालके मनके लिए भी अगम थी, उसे आप धुनमें आकर ले बीते और कुल-सहित, भाई-सहित और दल-बल-सहित रावणको रणभूमिमें कुचलकर तीनों लोकों एवं इन्द्र-कुबेरादि लोकपालोंको निःशंक कर दिया ॥८॥ श्रीरामजीकी जय हो ! (उसके बाद) आप लक्ष्मण, सीता और सुग्रीव हनुमान् आदि मंत्रियों-सहित पुष्पक विमानपर बैठकर अपनी राजधानी अयोध्याको चले। तुलसीदास कहते हैं कि रामचन्द्रजीके राजा होनेपर तथा सीताजीके रानी होनेपर समस्त अयोध्यानिवासी आह्लादित हो गये ॥९॥

विशेष

१—गुसाईंजीने इस पदमें रामावतारके चरित्रका आद्योपान्त स्मरण किया है। यहाँ रामावतारकी एक भी मुख्य घटना छूटने नहीं पायी है।

२—'ऋषि-मखपाल'—विश्वामित्रके आश्रमके पास राक्षसोंने इतना उत्पात मचा रखा था कि वह बेचारे निर्विघ्न तपस्या ही नहीं करने पाते थे। अतः वह यज्ञकी रक्षाके लिए राम-लक्ष्मणको अयोध्यासे अपने आश्रममें ले गये। रामजीने लक्ष्मणको साथ लेकर मुनिके यज्ञकी रक्षा की और बहुत-से उत्पाती राक्षसोंको मार डाला।

३—'मुनिवधू पापहारी'—परम सुन्दरी अहिल्या गौतम ऋषिकी स्त्री थी। एक दिन सन्ध्याके समय जब कि गौतम ऋषि सन्ध्यावन्दनके निमित्त बाहर गये थे, देवराज इन्द्र गौतमका रूप धारण करके अहिल्याके पास पहुँचा। वह उसके सौन्दर्यपर मुग्ध था। उसके रतिदान माँगनेपर पहले तो अहिल्याने

कुसमय समझकर अस्वीकार कर दिया, पर पातिव्रत धर्म समझकर पीछे उसे उसके प्रस्तावसे सहमत होना पड़ा। सम्भोगके बाद ही गौतम ऋषि आ गये। उन्होंने योगबलसे सब रहस्य जान लिया और क्रुद्ध होकर इन्द्रको शाप दिया कि तेरे एक सहस्र भग हो जायँ, तथा अहिल्याको शाप दिया कि तू पत्थर हो जा। पश्चात् जब उनका क्रोध शान्त हुआ तो उन्होंने दोनोंके शापका प्रतिकार बतलाया। कहा, जब श्रीरामजी शिव-धनुषको तोड़ेंगे, तब इन्द्रके सहस्र भग सहस्र-नेत्रोंके रूपमें परिणत हो जायँगे और श्रीरामजीके चरणस्पर्शसे अहिल्या-का उद्धार हो जायगा।

४—'भृगुनाथ नतमाथ'—रामजीके धनुष तोड़नेपर परशुरामने आकर बहुत क्रोध किया था। उन्हें अपने बल-वीर्यका बड़ा घमण्ड था। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओंको जीतकर समूची पृथिवीका दान कर दिया था। किन्तु रामजीके सामने अन्तमें उन्हें भी सिर झुकाना पड़ा था।

५—'पाकारिसुत'—इन्द्रका पुत्र जयन्त कौएका वेष धारण करके श्रीरामजीका बल देखने आया और सीताके चरणोंमें चोंच मारकर भागा। श्रीरामजीने सींकका धनुष-बाण बनाकर उसे मारा। उसने नकली वेष धारण किया था, इसलिए श्रीरामजीने उसपर नकली बाण चलाकर ही अपने बाणके प्रभुत्वका दिग्दर्शन कराना उचित समझा। अभागा जयन्त व्याकुल होकर भागने लगा, पर जब पीछे फिरकर देखता तो बाण उसके पीछे लगा रहता। ब्रह्मलोक, शिवलोक, इन्द्रपुर तथा और तमाम लोकोंमें घूम आया, किन्तु कहीं उसे शरण न मिली। अन्तमें उसे श्रीरामजीकी शरण लेनी पड़ी। भगवान्‌को दया आ गयी, अतः उन्होंने उसके प्राण नहीं लिये, केवल एकाक्ष करके छोड़ दिया। कहते हैं तभीसे कौओंके एक ही पुतली होती है।

६—विराध और कबन्ध ये दोनों राक्षस थे। भगवान्‌ने इनका बध किया था।

७—'दिव्य देवी वेष देखि लखि निसिचरी'—में 'देखि' 'लखि' ये दोनों शब्द एक ही अर्थके बोधक होनेके कारण पुनरुक्तिसे दूषित दिखाई पड़ते हैं; किन्तु यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं है। देखना, बाह्य चक्षुका विषय है और 'लखने' में मनश्चक्षुके विषयकी झलक है। श्रीरामजीने सूर्पणखाको देवी रूपमें देखा,

इसके लिए तो कविने देखि लिखा और यह देवी नहीं सूर्पणखा राक्षसी है, यह जान लिया, इसके लिए उन्होंने 'लखि' शब्दका प्रयोग किया।

८—'करुना'—भक्तवर बैजनाथजीने 'करुणा'के सम्बन्धमें लिखा है:—

सेवक दुखतें दुखित ह्वै, स्वामि विकल ह्वै जाइ।
दुःख निवारे सीघ्र ही, 'करुना' गुन सों आइ॥

(४४)

जयति राज-राजेन्द्र राजीवलोचन, राम,
नाम कलि-कामतरु, साम साली।
अनय-अंभोधि-कुंभज, निसाचर-निकर-
तिमिर घनघोर खर किरनमाली॥१॥
जयति मुनिदेव नरदेव दसरत्थके,
देव-मुनिवंद्य किय अवध-वासी।
लोकनायक-कोक-सोक-संकट-समन,
भानुकुल-कमल-कानन-विकासी॥२॥
जयति सिंगार-सर तामरस-दामदुति-
देह, गुनगेह, विस्वोपकारी।
सकल सौभाग्य-सौंदर्य सुषमारूप,
मनोभव कोटि गर्वापहारी॥३॥
जयति सुभग सारंग सुनिखंग सायक सक्ति,
चारु चर्मासि वर वर्मधारी।
धर्मधुरधीर, रघुवीर, भुज-बल अतुल,
हेलया दलित भूभार भारी॥४॥
जयति कलधौत मनि-मुकुट, कुंडल, तिलक,
झलक भलिभाल, विधु-वदन-सोभा।
दिव्य भूषन, वसन पीत, उपवीत,
किय ध्यान कल्यान-भाजन न को भा॥५॥

जयति भरत-सौमित्रि-सत्रुघ्न-सेवित, सुमुख,
सचिव-सेवक-सुखद, सर्वदाता।
अधम, आरत, दीन, पतित, पातक-पीन
सकृत नतमात्र कहि 'पाहि' पाता ॥६॥
जयति जय भुवन दसचारि जस जगमगत,
पुन्यमय, धन्य जय राम राजा।
चरित-सुरसरित कवि-मुख्य गिरि निःसरित,
पिवत, मज्जत मुदित सँत-समाजा ॥७॥
जयति वर्नाश्रमाचारपर नारि-नर,
सत्य - सम-दम-दया-दानसीला।
विगत दुख - दोष, संतोष सुख सर्वदा,
सुनत, गावत राम राजलीला ॥८॥
जयति वैराग्य-विज्ञान-वारांनिधे,
नमत नर्मद, पाप-ताप-हर्त्ता।
दास तुलसी चरन सरन संसय-हरन,
देहि अवलंब वैदेहि-भर्त्ता ॥९॥

शब्दार्थ—राजीवलोचन = कमलनेत्र । अनय = अनीति । निकर = समूह । खर = तीक्ष्ण । कोक = चकवा । तामरस = कमल । दाम = माला । मनोभव = कामदेव । सारंग = धनुष । सुनिखंग = सुन्दर तरकस । हेलया = लीलापूर्वक । कलधौत = सुवर्ण । को = कौन । भा = हुआ । पीन = मोटा, पुष्ट । पाता = उद्धार करनेवाले । कविमुख्य = मुख्य कवि यानी आदिकवि महर्षि वाल्मीकि । दानसीला = दानी स्वभाववाले । वारांनिधे = समुद्र । नर्मद = आनन्ददाता ।

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! आपकी जय हो ! आप राजराजेश्वरोंमें इन्द्र हैं, आप कमलनेत्र हैं, आपका नाम 'राम' कलियुगके लिए कल्पवृक्ष है, आप साम्य भाव रखनेवाले, अनीतिरूपी समुद्रको सोख जानेके लिए अगस्त्य हैं और दानव-दल-रूपी सघनान्धकारका नाश करनेके लिए मध्याह्नकालीन सूर्य हैं ॥१॥ हे मुनि, देवता और मनुष्योंके स्वामी दशरथ-लला ! आपकी जय हो ! आपने अपनी विभूतिसे अवधवासियोंको ऐसा बना दिया कि देवता और मुनि भी

उनकी वन्दना करने लगे। आप लोकपाल-रूपी चक्रवाकोंके शोक-सन्तापका नाश करनेवाले तथा सूर्यवंश-रूपी कमल-वनको विकसित करनेवाले हैं ॥२॥ जय हो ! आपके शरीरकी शोभा शृंगार-रूपी सरोवरमें उत्पन्न हुए नीले कमलों-की आभाके समान है। आप गुणोंके धाम हैं और संसारका उपकार करनेवाले तथा सब प्रकारके सौभाग्य, सौन्दर्य एवं शोभायुक्त रूपसे करोड़ों कामदेवोंका गर्व हरनेवाले हैं ॥३॥ जय हो ! आप सुन्दर धनुष, तरकस, बाण, शक्ति, ढाल, तलवार और श्रेष्ठ कवचधारी, धर्मका भार वहन करनेमें धीर तथा रघुवंशमें सर्वश्रेष्ठ वीर हैं। आपकी भुजाओंमें अतुलित बल है जो कि लीलापूर्वक पृथिवीके भारी भारस्वरूप राक्षसोंको दलित करनेवाला है ॥४॥ श्रीरामजीकी जय हो ! आप मणि-जटित सुवर्णका मुकुट और मकराकृति कुण्डल धारण किये हैं। आपके सुन्दर ललाटपर तिलक झलक रहा है। आपके मुखकी शोभा चन्द्रमाके समान है। आप दिव्य आभूषण, पीताम्बर और यज्ञोपवीत धारण किये रहते हैं। आपके इस स्वरूपका ध्यान करके ऐसा कौन है जो कल्याणका भागी नहीं हुआ ॥५॥ जय हो ! आप भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नसे सेवित एवं सुमुख-सुमंत आदि मन्त्रियों और भक्तोंको सुखदायिनी सब वस्तुएँ देनेवाले, अधम, दुखी, दीन, पतित और महान् पापियोंके केवल एक बार 'रक्षा करो' कहकर प्रणाम करनेसे ही उद्धार करनेवाले हैं ॥६॥ जय हो ! जिनका यश चौदहो भुवनोंमें जगमगा रहा है, जो पुण्यमय और धन्य हैं, उन महाराज श्रीरामजीकी जय हो ! जिनकी कथा-रूपी गंगा आदिकवि महर्षि बाल्मीकि-रूपी पर्वतसे निकली है और जिसे पान करके तथा जिसमें स्नान करके सन्त-समाज हर्षित होता है, उन रामजीकी जय हो ॥७॥ हे रामजी ! आपकी जय हो ! आपके शासनकालमें चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ, संन्यास) अपने-अपने आचारपर चलनेवाले थे, समस्त स्त्री-पुरुष सत्य, शम, दम, दया और दानी स्वभाववाले, दुःखों और दोषोंसे रहित, सदा सन्तोषी और सुखी थे तथा आपके राज्यकी लीला सुना और गाया करते थे ॥८॥ हे वैराग्य और विज्ञानके समुद्र श्रीरामजी ! आपकी जय हो ! हे पाप-सन्तापहर्त्ता ! आप प्रणाम करते ही आनन्द देनेवाले हैं। अतः हे संशयको दूर करनेवाले जानकी-नाथ ! यह तुलसीदास आपकी शरणमें है, इसे अपने चरणोंका सहारा दीजिये ॥

विशेष

१—'कलधौत मनि-मुकुट'—से सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी राज्यसिंहासनासीन प्रभुमूर्तिका ही ध्यान करते थे; क्योंकि मुकुट उसी अवस्थाका द्योतक है। उनकी यह भावना अन्य स्थलोंपर भी प्रकट होती है। कविने और भी कई जगह रूपका वर्णन किया है, पर मुकुट-रहित। किन्तु ध्यानके लिए भक्तोंको यही रूप अधिक प्रिय है।

२—'शम-दम-दया दान'—शम नाम है अन्तःकरण, मन, बुद्धि आदिके निग्रहका, दम नाम है बाह्येन्द्रियों (कान आँख आदि) के निग्रहका, दया नाम है मन-वचन-कर्मसे जीवमात्रको पीड़ा न पहुँचाने का और दान नाम है अन्न-वस्त्रादि देनेका।

३—'वारांनिधे—शब्दपर वियोगी हरिजीने यह टिप्पणी दी है:—'यह पद संस्कृत व्याकरणसे अशुद्ध है। 'वारिणाम् निधि' अथवा 'वारिनिधि' शुद्ध है…' (प्रथम संस्करण हरितोषिणी टीका); किन्तु वियोगी हरिजीके इस भ्रमको आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्लने पुस्तकके परिचयमें दूर कर दिया है। 'वारांनिधि' शब्द व्याकरणसे अशुद्ध नहीं है। संस्कृतमें 'वारि' और 'वार' दोनों शब्द जल-वाचक हैं। इस 'वार' शब्दका सम्बन्धका रूप 'वारां' होगा, जिसमें अलुक् समासकी रीतिसे 'निधि' शब्द जोड़ा गया है।

राग गौरी

(४५)

श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय दारुनं।
नवकंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद कंजारुनं ॥१॥

कंदर्प अगनित अमित छबि, नवनील नीरद सुंदरं।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि सुचि नौमि जनक-सुतावरं ॥२॥

भजु दीनबंधु दिनेस दानव-दैत्य-वंस-निकंदनं।
रघुनंद आनँदकंद कोसलचंद दसरथ-नंदनं ॥३॥

सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषनं।
आजानुभुज सर-चाप-धर, संग्राम-जित-खर दूषनं ॥४॥
इति वदति तुलसीदास संकर-सेष मुनि-मन रंजनं।
मम-हृदय-कंज-निवास कुरु, कामादि खल-दल-गंजनं ॥५॥

शब्दार्थ—कंजारुन=(कंज+अरुन) लाल कमल। कन्दर्प=कामदेव। नीरद=बादल। उदारु=सुन्दर। आजानुभुज=घुटनोंतक लम्बी भुजावाले। रंजन=प्रसन्न करनेवाले। गंजन=नाशकर्ता।

भावार्थ—रे मन! संसारके भयंकर भयको हरनेवाले कृपालु श्रीरामचन्द्रको भज। उनके नेत्र नव-विकसित कमलके समान हैं; मुख कमल-सदृश है; हाथ और चरण भी लाल कमलके सदृश हैं ॥१॥ उनकी छबि अगणित कामदेवोंसे बढ़कर है और शरीर नवीन नीले मेघ जैसा सुन्दर है। मेघ-रूपी शरीरपर पीताम्बर मानो बिजलीकी तरह चमक रहा है, ऐसे पवित्ररूप जानकीनाथ श्रीरघुनाथजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ रे मन! दीनोंके बन्धु, सूर्यके समान तेजस्वी, दैत्य-दानव-वंशका मूलोच्छेद करनेवाले, आनन्दकन्द कोशलदेश-रूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान दशरथ-नन्दन श्रीरामजीका भजन कर। वह सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, मस्तकपर सुन्दर तिलक और मनोहर अंग-प्रत्यंगमें आभूषण धारण करनेवाले, आजानुबाहु, धनुष-बाणधारी तथा संग्राममें खर-दूषणको जीतनेवाले हैं ॥४॥ तुलसीदास इतना ही कहता है कि शंकर, शेष और मुनियोंके मनको प्रसन्न करनेवाले तथा काम-क्रोधादि दुष्टोंका नाश करनेवाले हे रघुनाथजी! आप मेरे हृदयकमलमें निवास कीजिये ॥५॥

विशेष

१—'मम हृदय-कंज…गंजन'—कहनेका आशय यह है कि आप कामादि खल-दल-गंजन हैं, अतः मेरे हृदयसे इन दोषोंको निकाल दीजिये। इनका नाश होते ही मेरा हृदय विकसित हो जायगा। इसीसे कविने हृदय-कंजका प्रयोग किया है।

राग रामकली

(४६)

सदा राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु,
राम जपु, मूढ़ मन, वार वारं।
सकल सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि सठ,
मानि विस्वास वद वेदसारं ॥ १ ॥

कोसलेन्द्र नव-नीलकंजाभतनु,
मदन-रिपु-कंज हृदि-चंचरीकं।
जानकीरवन सुखभवन भुवनैकप्रभु,
समर-भंजन, परम कारुनीकं ॥ २ ॥

दनुज-वन-धूमधुज पीन आजानुभुज,
दंड-कोदंड वर चंड वानं।
अरुन कर चरन मुख नयन राजीव,
गुन-अयन, वहु-मयन-सोभा-निधानं ॥ ३ ॥

वासनावृंद-कैरव-दिवाकर, काम-
क्रोध-मद-कंज कानन-तुषारं।
लोभ अति मत्त नागेन्द्र पंचाननं
भक्तहित हरन संसार-भारं ॥ ४ ॥

केसवं, क्लेसहं, केस-वन्दित पद-
दुंद मन्दाकिनी-मूलभूतं।
सर्वदानंद-संदोह, मोहापहं
घोर-संसार-पाथोधि-पोतं ॥ ५ ॥

सोक-सन्देह-पाथोदपटलानिलं,
पाप-पर्वत-कठिन-कुलिसरूपं।
संतजन-कामधुक-धेनु, विश्रामपद,
नाम कलि-कलुष-भंजन-अनूपं ॥ ६ ॥

धर्म-कल्पद्रुमाराम, हरिधाम-पथि-
संवलं, मूलमिदमेव एकं।
भक्ति-वैराग्य-विग्यान-सम-दान-दम,
नाम आधीन साधन अनेकं ॥ ७ ॥

तेन तप्तं, हुतं, दत्तमेवाखिलं,
तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृत-
मनिसमनवद्यमवलोक्य कालं ॥ ८ ॥

सुपच, खल, भिल्ल, जमनादि हरिलोकगत,
नाम बल विपुल मति मलिन परसी।
त्यागि सब आस, संत्रास, भवपास असि
निसित हरिनाम जपु दास तुलसी ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—वद = कह । नव-नीलकंजाभ = नवीन नीले कमलके समान आभा । हृदि = हृदयमें । चंचरीक = भ्रमर । चंड = प्रचंड । कैरव = कुमुदिनी । नागेन्द्र = गजेंद्र । पंचाननं = सिंह । क्लेसहं = क्लेशहन्ता । केस = क + ईश) ब्रह्मा और शिव । संदोह = समूह । पोतं = जहाज । पाथोदपटलानिलं = मेघसमूहके लिए पवनरूप । कल्पद्रुम + आराम = कल्पवृक्षका बगीचा । संवल = कलेवा, राहखर्च । मूलमिदमेव = (मूलम् + इदम् + एव) यही मूल है । पानकृतम् + अनिशं (बारम्बार) + अनवद्यम् (अखंड) + अवलोक्य (दिखने योग्य) । निसित = तीक्ष्ण, पैनी ।

भावार्थ—रे मूढ मन ! हमेशा और बारम्बार राम-नामका जप कर । रे शठ ! यह जप सब सौभाग्य और सुखोंकी खानि है, ऐसा जीमें जानकर तथा यही 'वेदोंका सार' है, इसपर विश्वास मानकर राम राम कहा कर ॥१॥ कोशलेन्द्र श्रीरामजीके शरीरकी आभा नवीन नीले कमलके समान है । वह शिवजीके हृदयमें विचरण करनेवाले भ्रमर हैं । वह सीता-वल्लभ, आनन्द-निधान, विश्व-ब्रह्मांडके एकमात्र स्वामी, युद्धमें खलोंके नाशकर्ता तथा अत्यन्त कारुणिक हैं ॥२॥ वह दैत्य-समूहरूपी वनके लिए अग्निके समान हैं और पुष्ट आजानु-भुज-दंडोंमें सुन्दर धनुष एवं तीखे बाण धारण किये हुए हैं । उनके हाथ, पैर, मुख और नेत्र लाल कमलके सदृश हैं; वह सर्वगुण-निधान तथा अनेक कामदेवोंकी शोभाके

घर हैं ॥३॥ वह वासना-समूहरूपी कुमुदिनीको मुरझानेके लिए सूर्य हैं और काम-क्रोध-मदादिरूपी कमलवनके लिए पाला हैं। वह अत्यन्त मदोन्मत्त लोभरूपी गजेंद्रके लिए सिंह तथा भक्तोंके हितार्थ संसारका भार उतारनेवाले हैं ॥४॥ उनका नाम केशव है, वह क्लेशोंका नाश करनेवाले हैं, उनके चरण ब्रह्मा और शिवसे वंदित तथा गंगाजीके उद्गमस्थान हैं। वह सर्वदा आनन्द-समूह, मोह-विनाशक और घोर संसार-समुद्रको पार करनेके लिए जहाज-स्वरूप हैं ॥५॥ वह शोक और संदेहरूपी मेघ-समूहको तितर-बितर करनेके लिए वायुरूप तथा पापरूपी कठिन पर्वतको तोड़नेके लिए वज्ररूप हैं। उनका नाम संतोंके लिए कामधेनुके समान मनवांछित फल देनेवाला, विश्रामप्रद और कलिकालके पापोंका नाश करनेमें अनुपम है ॥६॥ रामका नाम धर्मरूपी कल्पवृक्षका बगीचा है और प्रभुधाममें जानेवाले पथिकोंके लिए राह-खर्चके समान यही एक मूल आधार है। भक्ति, वैराग्य, विज्ञान, शम, दम, दान प्रभृति मुक्तिके अनेक साधन सब इस नामके ही अधीन हैं ॥७॥ अखंड कलिकालको देखकर जिसने बारम्बार श्रीराम-नामरूपी अमृतका पान किया, उसने तप कर लिया, यज्ञ कर लिया, सर्वस्व दान दे दिया और सब उत्तम कर्म कर डाला ॥८॥ बड़े-बड़े मलिन बुद्धिवाले चांडाल, खल, भील, यवन आदि नामके ही बलसे विष्णुलोकमें चले गये। अतः सारी आशाओं और भयको छोड़कर हे तुलसीदास, तू संसार-बंधनको काटनेके लिए तेज धारकी तलवारके समान भगवान्‌के नामका जप कर ॥९॥

विशेष

१—'कोसलेंद्र' वियोगी हरिजीने इस चरणमें, छन्दोभङ्ग बतलाते हुए टिप्पणीमें 'जयति कुसलेन्द्र' कर देनेकी सम्मति प्रकट की है। हम भी उनकी इस सम्मतिका समर्थन करते हैं; किन्तु यथार्थतः विनय-पत्रिकाके समस्त पद गीत-काव्य हैं, अतः इनमें छन्दोभंग देखनेकी आवश्यकता नहीं।

२—'वासना-वृन्द'—सारे कष्टोंकी जड़ है।

३—'काम-धुक-धेनु' कलियुगमें राम-नामके प्रतापसे सब-कुछ प्राप्त हो सकता है। गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है:—

ब्रह्म राम तें नाम बड़, वर-दायक वर-दानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥

× × × ×

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितुमाता॥
नहिं कलि करम न भगति विवेकू। राम-नाम अवलम्बन एकू॥

अथवा

कलियुग केवल नाम अधारा। जानि लेहि जो जाननि हारा।

४—'कर्मजालं'—यों तो कर्मके कई भेद हैं और उनका उल्लेख भी पीछे किया जा चुका है, किन्तु यहाँ कर्मसे अभिप्राय है वेद-विहित कर्म।

५—'जमन'—यवन। एक मुसलमानके मुखसे मरते समय 'हराम' शब्द निकला था। उसमें 'राम' शब्द आ जानेके कारण उसकी मुक्ति हो गयी।

(४७)

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुखदुंद गोविन्द आनंदघन॥१॥
अचरचर रूप हरि, सर्वगत, सर्वदा
वसत, इति वासना धूप-दीजै।
दीप निजबोध गत-कोह-मद मोह-तम,
प्रौढ अभिमान चितवृत्ति छीजै॥२॥
भाव अतिसय विसद प्रवर नैवेद्य सुभ
श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम तांबूल गत सूल संसय सकल,
विपुल भव-वासना-बीजहारी॥३॥
असुभ-सुभकर्म-घृतपूर्न दस बर्तिका,
त्याग-पावक, सतोगुनप्रकासं।
भक्ति-वैराग्य-विज्ञान दीपावली,
अर्पि नीराजनं जग-निवासं॥४॥

विमल हृदि-भवन कृत सांति परजंक सुभ,
सयन विस्राम श्रीराम राया।
छमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका,
यत्र हरि तत्र नहिं भेद, माया ॥५॥
एहि आरती-निरत सनकादि, स्रुति, सेष, सिव,
देवऋषि, अखिल मुनि तत्व-दरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल,
वदति इति अमल-मति दास तुलसी ॥६॥

शब्दार्थ—गोविंद = इन्द्रियोंके स्वामी। वासना = इच्छा, सुगन्ध। छीजै = नष्ट कर दे। प्रवर = श्रेष्ठ। ताम्बूल = पान। बर्तिका = बत्ती। नीराजनं = आरती। परजंक = पलँग। प्रमुख = प्रधान। निरत = तत्पर।

भावार्थ—हे मन! रघुकुलमें वीर श्रीरामजीकी आरती इस प्रकार कर। वह दुःख-द्वन्द्वों (रागद्वेषादि) के नाशक, इन्द्रियोंके स्वामी और आनन्दघन हैं ॥१॥ जड़-चेतन सब रूप परमात्माका है, वह सर्वगत और एकरस हैं—इस वासना (सुगन्ध) की धूप दे। धूपके बाद दीप चाहिये। सो आत्मज्ञानरूपी दीपकसे क्रोध-मद-मोहरूपी अन्धकारको दूर करके अभिमानभरी चित्तकी वृत्तियोंको नष्ट कर दे ॥२॥ पश्चात् तू मङ्गलमूर्ति लक्ष्मीपति भगवान्‌को परम सन्तोषकारी अपने अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ भावका नैवेद्य चढ़ा। फिर, दुःख और संशयोंसे रहित होकर अपार संसारके वासनारूपी बीजको नाश करनेवाले 'प्रेम'-का ताम्बूल अर्पण कर ॥३॥ उसके बाद शुभ और अशुभ-कर्मरूपी घीसे तर की हुई दस इन्द्रियरूपी बत्तियोंको त्यागरूपी आगसे जलाकर सतोगुण-रूपी प्रकाश कर। इस प्रकार भक्ति, वैराग्य और विज्ञानरूपी दीपावलीकी आरती अर्पित करके संसारमें निवास कर ॥४॥ आरती करनेके बाद अपने निर्मल हृदयरूपी गृहमें शान्तिरूपी कल्याणकारी पलँगके ऊपर महाराज रामचन्द्रजीको सुलाकर विश्राम करा। वहाँ क्षमा और करुणा सरीखी प्रमुख सेविकाओंको नियुक्त कर दे। जहाँ प्रभुजी रहते हैं, वहाँ न तो भेद-बुद्धि रहती है और न माया ही ॥५॥ सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार, वेद, शेष, शिव, नारद और समस्त तत्त्वदर्शी मुनि इस आरतीमें तत्पर रहते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि जो कोई ऐसी आरती

करता है वही तर जाता है और कामादि पापोंसे मुक्त हो जाता है—ऐसा निर्मल बुद्धिवाले तत्त्ववेत्ताओंका कथन है ॥६॥

विशेष

१—इस पदमें रूपक अलंकार है ।

२—इस पदमें आरतीके छ अंग (धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, आरती और शयन) दिखलाये गये हैं ।

३—'धूप'—धूपके ५,६,८,१२,१६ अंग हैं । प्रत्येकपर भिन्न-भिन्न अर्थ निकलता है । उदाहरणार्थ, पाँच अंगकी धूप लेनेपर यहाँ नियम (१ शौच, २ सन्तोष, ३ तप, ४ स्वाध्याय, ५ ईश्वर प्रणिधान) की धूपका बोध होगा ।

४—'चितवृत्ति'—चित्तकी वृत्तियोंके निरोध अथवा समूल नाश कर डालनेका ही नाम योग है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ।

५—'दस वर्त्तिका'—महाकवि तुलसीदासजीने दस इन्द्रियोंको ही दस बत्ती कहा है । उन दस इन्द्रियोंमें श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक् , पाणि, पाद, उपस्थ और गुद ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ।

(४८)

हरति सब आरती आरती राम की ।
दहन दुख-दोष, निर्मूलिनी काम की ॥१॥
सुभग सौरभ धूप दीपवर मालिका ।
उड़त अघ-बिहँग सुनि ताल करतालिका ॥२॥
भक्त-हृदि-भवन, अज्ञान-तम-हारिनी ।
विमल विज्ञानमय तेज-विस्तारिनी ॥३॥
मोह-मद - कोह-कलि - कंजहिमजामिनी ।
मुक्ति की दूतिका, देह-दुति दामिनी ॥४॥
प्रनत-जन-कुमुद-वन-इन्दु-कर-जालिका ।
तुलसि अभिमान-महिषेस बहु कालिका ॥५॥

शब्दार्थ—आरती = क्लेश । सुभग = सुन्दर । सौरभ = सुगन्ध । विस्तारिनी = फैलानेवाली । जामिनी = रात । दूतिका = दूती । प्रनत = शरणमें आये हुए । महिषेस = महिषासुर ।

भावार्थ—श्रीरामजीकी आरती सब क्लेशोंको हर लेती है। वह दुःख-दोषोंको जला डालती तथा कामनाओं या इच्छाओंको निर्मूल कर डालती है ॥१॥ वह सुन्दर सुगन्धयुक्त धूप श्रेष्ठ दीपकोंकी माला है। उस आरतीके समय हाथोंकी तालीका शब्द सुनकर पापरूपी पक्षी उड़ जाते हैं ॥२॥ वह भक्तोंके हृदय-मन्दिरसे अज्ञानान्धकारको दूर करनेवाली तथा (हृदयमें) निर्मल विज्ञान-मय प्रकाशको फैलानेवाली है ॥३॥ वह मोह, मद, क्रोध, कलिरूपी कमलोंको मुरझानेके लिए बर्फीली रात है, मुक्ति-रूपी नायिकासे मिलानेके लिए बिजलीके समान चमकदार शरीरवाली दूती है ॥४॥ वह शरणागत भक्त-रूपी कुमुदिनीके वनको विकसित करनेके लिए चन्द्रमाकी किरण-माला है। तुलसीदास कहते हैं कि वह अभिमानरूपी महिषासुरके लिए अगणित कालिका देवीके समान है ॥५॥

विशेष

१—'आरती आरती' में यमकालंकार है। जब एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थमें कई बार आता है, तो वहाँ यमकालंकार होता है। यथा :—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह विसेखी ॥

यहाँ एक विदेह तो जनकजीके लिए आया है और दूसरा 'शरीरज्ञान-शून्य' के लिए।

२—'देह-दुति दामिनी'—मुक्तिके पास पहुँचानेवाली दूतीके शरीरकी कान्ति बिजलीके समान कही गयी है। क्योंकि अज्ञान अन्धकारमय है और विज्ञान प्रकाशमय। मुक्ति ऐसी वस्तु नहीं, जो विज्ञानका प्रकाश हुए बिना प्राप्त हो सके। वेद-वाक्य है :—

"ऋते ज्ञानान्न-मुक्तिः"

अर्थात् ज्ञान हुए बिना मुक्ति नहीं होती। इसीसे ग्रंथकारने आरतीरूपी दूतीके शरीरको तीक्ष्ण प्रकाशपूर्ण कहा है।

३—'महिषेस बहु कालिका'—भगवती कालिकाने प्रमादी महिषासुर नामक दैत्यका वध करके संसारमें शान्ति स्थापित की थी। यह कथा देवी-भागवतमें विस्तारपूर्वक है।

हरिशंकरी पद

(४९)

देव—

दनुज-वन-दहन, गुन-गहन, गोविंद-
नंदादि-आनंद-दाताऽविनासी।
संभु, सिव, रुद्र, संकर, भयंकर, भीम,
घोर, तेजायतन, क्रोध-रासी ॥१॥
अनंत, भगवंत, जगदंत-अंतक-त्रास-
समन, श्रीरमन, भुवनाभिरामं।
भूधराधीस जगदीस ईसान,
विज्ञानघन, ज्ञान-कल्यान-धामं ॥२॥
वामनाव्यक्त, पावन, परावर विभो,
प्रगट परमातमा, प्रकृति-स्वामी।
चन्द्रसेखर, सूलपानि, हर, अनघ, अज,
अमित, अविछिन्न, वृषभेस-गामी ॥३॥
नील जलदाभ तनु स्याम, बहुकाम छवि,
राम राजीव लोचन कृपाला।
कंबु-कर्पूर-वपु, धवल, निर्मल मौलि,
जटा, सुर-तटिनि, सित सुमनमाला ॥४॥
वसन किंजल्कधर, चक्र-सारंग-दर-
कंज-कौमोदकी अति विसाला।
मार-करि मत्त मृगराज, त्रैनैन हर,
नौमि अपहरन संसार-जाला ॥५॥
कृष्ण, करुनाभवन, दवन कालीय खल,
विपुल कंसादि निर्वंसकारी।
त्रिपुर-मद-भंगकर, मत्त गज-चर्मधर,
अन्धकोरग-ग्रसन पन्नगारी ॥६॥

ब्रह्म, व्यापक, अकल, सकल-पर, परमहित,
　　ग्यान, गोतीत गुन-वृत्ति-हर्त्ता।
सिंधुसुत-गर्व-गिरि-बज्र, गौरीस, भव
　　दच्छ-मख अखिल विध्वंसकर्त्ता ॥७॥
भक्ति प्रिय, भक्तजन-कामधुक धेनु, हरि,
　　हरन दुर्घट विकट बिपति भारी।
सुखद, नर्मद, वरद, विरज, अनवद्यऽखिल,
　　विपिन-आनंद-वीथिन-विहारी ॥८॥
रुचिर, हरिसंकरी नाम-मंत्रावली
　　द्वन्द्वदुख हरनि, आनंदखानी।
विष्णु-सिव-लोक-सोपान-सम सर्वदा
　　वदति दास तुलसी विसद बानी ॥९॥

शब्दार्थ—अविनासी = जिसका कभी नाश न हो। जगदंत = संसारका अन्त करनेवाले। अंतक = काल। ईसान = ईशान कोणके स्वामी अर्थात् शिवजी। अनव = पापरहित। किंजल्क = कमल-केसर। दर = शंख। कौमोदकी = गदा। कालीय = कालिय दैत्य। उरग = सर्प। वरद = वर देनेवाले। वीथिन = गलियों। विसद = शुद्ध या पवित्र।

[गुसाईंजीने इस पदका नाम 'हरिशंकरी पद' रखा है; क्योंकि उन्होंने इस पदके एक पक्षमें विष्णुकी और दूसरेमें शिवकी एक साथ स्तुति करके हरिहरमें अभेद सिद्ध किया है।] आरम्भमें जो 'देव' शब्द है, उसे प्रत्येक पक्षका सम्बोधन समझना चाहिये।

भावार्थ—हे देव! आप दैत्यरूपी वनको जलानेवाले, सद्गुण-समूह, इन्द्रियोंके अधीश्वर तथा नन्द-उपनन्द आदिको आनन्द देनेवाले और अविनाशी हैं।

हे देव! आप शम्भु, शिव, रुद्र, शंकर आदि नामोंसे विख्यात हैं। आप बड़े ही भयंकर, महान् तेजस्वी तथा (खलोंके लिए) क्रोधकी राशि हैं ॥१॥

हे देव! आपका अन्त नहीं है; आप छ प्रकारके ऐश्वर्योंसे युक्त हैं, संसारका अन्त करनेवाले, कालके भयको दूर करनेवाले, लक्ष्मीजीके स्वामी और विश्वब्रह्मांडको आनन्द देनेवाले हैं।

हे देव ! आप कैलाशगिरिके मालिक, जगत्के स्वामी, ईशान, विज्ञानघन और ज्ञान तथा कल्याणके स्थान हैं ॥२॥

हे देव ! आप वामनरूप, अव्यक्त, पवित्र, जड़-चैतन्यके स्वामी, साक्षात् परमात्मा और प्रकृतिके स्वामी हैं ।

हे देव ! आप चन्द्रमाको मस्तकपर और त्रिशूलको हाथमें धारण करनेवाले, सृष्टिके संहारकर्त्ता, निष्पाप, अजन्मा, सीमा-रहित, अखंड और नन्दीपर सवार होकर चलनेवाले हैं ॥३॥

हे देव ! आपके श्यामल शरीरकी आभा नीले मेघके समान है, शोभा अनेक कामदेव-सदृश है, आप राम हैं, कमलनेत्र हैं और कृपालु हैं ।

हे देव ! आपका उज्ज्वल शरीर शंख और कपूरके समान निर्मल है; आपके मस्तकपर जटा-जूट और गंगाजी हैं । आप सफेद फूलोंकी माला पहने हुए हैं ॥४॥

हे देव ! आप कमल-केसरके समान पीताम्बर तथा चक्र, धनुष, शंख और अत्यन्त विशाल गदा धारण किये हैं ।

हे देव ! आप कामदेवरूपी हाथीके लिए सिंह, तीन नेत्रवाले और संसारका कष्ट दूर करनेवाले हैं । अतः हे हर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥५॥

हे देव ! आप कृष्ण हैं अर्थात् अपने रूप-माधुर्यसे सबको आकर्षित करनेवाले हैं, करुणाके स्थान हैं, कालिय नागका नाश करनेवाले हैं तथा कंस आदि बहुत-से दुष्टोंका निर्वंश करनेवाले हैं ।

हे देव ! आप त्रिपुर दैत्यका घमण्ड तोड़नेवाले, मतवाले हाथीका चमड़ा धारण करनेवाले तथा अन्धकासुररूपी सर्पको निगलनेके लिए गरुड़ हैं ॥६॥

हे देव ! आप ब्रह्म, सबमें व्याप्त, कला-रहित, सबसे परे, हितैषी, साधारण ज्ञान और इन्द्रियोंसे न्यारे तथा मायिक वृत्तियोंको हरनेवाले हैं ।

हे देव ! आप जलन्धरके गर्वरूपी पर्वतको चूर्ण करनेके लिए वज्ररूपी, पार्वतीके पति, संसारकी उत्पत्तिके स्थान और दक्ष प्रजापतिके सम्पूर्ण यज्ञका विध्वंस करनेवाले हैं ॥७॥

हे देव ! आपको भक्ति बहुत प्रिय है, आप अपने भक्तोंकी इच्छा पूरी करने-

के लिए कामधेनुके समान हैं, आप हरि हैं और दुर्घट, विकट तथा महान् विपत्तियोंको हरनेवाले हैं।

हे देव आप सुखदाता, आनन्ददाता, इच्छित वरदाता, विरक्त, तमाम विकारों और दोषोंसे रहित एवं आनन्द-वन काशीकी गलियोंमें विहार करनेवाले हैं ॥८॥

हे देव! इस मनोहर हरिशंकरीके नाम-मंत्रोंकी पंक्तियाँ राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न दुःखको हरनेवाली तथा आनन्दकी खानि हैं। तुलसीदास शुद्ध वाणीसे कहता है कि ये विष्णु तथा शिवलोकमें जानेके लिए सदैव सीढ़ीके समान हैं ॥९॥

विशेष

१—'वामन'—विष्णु भगवान्‌ने राजा बलिसे तीन पैर पृथिवी लेनेके लिए वामन (बौना) रूप धारण किया था।

२—'कालिय' नामक एक भयंकर सर्प था जो कि यमुनामें रहता था। उसके विषकी ज्वालासे वहाँका पानी हमेशा खौला करता था। भगवान् श्रीकृष्णने उसे नाथकर अपने वशमें कर लिया, पीछे वह यमुनाको छोड़कर समुद्रमें चला गया। यह कथा श्रीमद्भागवतमें है।

३—'अन्धक'—नामक एक दैत्य था। वह बहुत ही उपद्रवी और बलवान् था। वह हिरण्याक्षका पुत्र था। उसने ब्रह्मासे यह वर प्राप्त किया था कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मेरी मृत्यु कदापि न हो। यह वर मिलनेके बाद उसने तीनों लोकोंको जीत लिया। देवता लोग उसके भयसे मन्दराचल पहाड़पर चले गये। वह दुष्ट वहाँ भी पहुँचकर उन्हें दुःख देने लगा। देवताओंने आर्त स्वरमें शिवजीको पुकारा। शिवजीने आकर उसे मार डाला। यह कथा शिव-पुराणमें है।

३—'सिंधु-सुत'—या जलन्धर बड़ा प्रतापी राजा था। इसने देवलोकको जीत लिया था। शिवजीने इसे मारना चाहा, पर उन्हें सफलता नहीं मिली, क्योंकि जलन्धरकी स्त्री वृन्दा पतिव्रता थी। जब विष्णुने बलपूर्वक वृन्दाका सतीत्व नष्ट किया, तब शिवजीने जलन्धरको परास्त किया। उस समय वृन्दाने विष्णुको शाप दिया कि किसी समय मेरा पति रावणका अवतार लेकर तुम्हारी स्त्रीका हरण करेगा।

४—'दच्छमख'—दक्ष प्रजापतिकी एक कन्याका नाम सती था। उनका विवाह शिवजीके साथ हुआ था। एक बार ब्रह्माके यहाँ दक्ष पहुँचा। सब देवताओंने उठकर उसकी अभ्यर्थना की, पर शिवजी नहीं उठे। इससे दक्ष बहुत नाराज हुआ। इसका बदला लेनेके लिए उसने खूब धूमधामसे यज्ञ किया, और उसमें सब देवताओंको आमन्त्रित किया, पर शिवको नहीं पूछा। यज्ञका हाल सुनकर सती बिना बुलाये ही अपने पिताके घर चली गयीं। वहाँ उन्हें शिवजीका भाग दिखलाई नहीं पड़ा। इससे वह क्रुद्ध होकर अपने पिता-को कटु वाक्य कहने लगीं और योगाग्निमें जलकर भस्म हो गयीं। यह समाचार पाकर शिवजीने वीरभद्रको भेजा और उसने वहाँ जाकर शिवजीकी आज्ञासे दक्ष प्रजापतिका यज्ञ भंग कर दिया। पीछे शिवजीने प्रसन्न होकर यज्ञका पुनरुद्धार किया। यह कथा शिवपुराणमें विस्तारपूर्वक है।

५—विष्णु और शिवमें अभेदसम्बन्ध है। लिखा है:—

सदैव देवो भगवान् महादेवो न संशयः।
मन्यन्ते ये जगद् योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वरात्।

—इति कौर्म्मे, १३ अध्यायः

६—'संभु सिव रुद्र संकर'—पर्यायवाची शब्द हैं, पर सबका भिन्न-भिन्न आशय है।

७—'भयंकर भीम घोर'—का आशय भी अलग-अलग है। यथा 'भयंकर' का अर्थ 'भयजनक', 'भीम' का अर्थ 'भयके हेतु', 'घोर' का अर्थ 'विष' अर्थात् 'हलाहल पान करके आश्चर्यजनक भीषण काम करनेवाले' इत्यादि।

(५०)

देव—

भानुकुल-कमल-रवि, कोटि कंदर्प छबि,
काल-कलि-व्यालमिव वैनतेयं।
प्रबल भुजदंड परचंड कोदंड-धर,
तूनवर बिसिख बलमप्रमेयं ॥ १ ॥

अरुन राजीव दल-नयन, सुषमा-अयन,
स्याम तन-कांति वर वारिदाभं।
तप्त कांचन-वस्त्र, सस्त्र-विद्या-निपुन,
सिद्ध-सुर-सेव्य, पाथोजनाभं ॥२॥
अखिल लावन्य-गृह, विस्व-विग्रह, परम
प्रौढ़, गुनगूढ़, महिमा उदारं।
दुर्धर्ष, दुस्तर, दुर्ग, स्वर्ग-अपवर्ग-पति
भग्न संसार-पादप-कुठारं ॥३॥
सापवस मुनिवधू-मुक्तकृत, विप्रहित,
जग्य-रच्छन-दच्छ पच्छकर्ता।
जनक-नृप-सदसि सिवचाप-भंजन, उग्र
भार्गवागर्व-गरिमापहर्ता ॥४॥
गुरु-गिरा-गौरवामर-सुदुस्त्यज राज्य,
त्यक्त श्री सहित सौमित्रि-भ्राता।
संग जनकात्मजा, मनुजमनुसृत्य अज,
दुष्ट-बध-निरत, त्रैलोक्यत्राता ॥५॥
दंडाकारन्य कृतपुन्य पावन चरन,
हरन मारीच-मायाकुरंगं।
बालि बलमत्त गजराज इव केसरी,
सुहृद-सुग्रीव-दुख-रासि-भंगं ॥६॥
ऋच्छ, मर्कट विकट सुभट उद्भट समर,
सैल-संकास रिपु त्रासकारी।
बद्धपाथोधि सुर-निकर-मोचन, सकुल
दलन दससीस-भुजबीस मारी ॥७॥
दुष्ट विबुधारि-संघात, अपहरन महि-
भार, अवतार कारन अनूपं।
अमल, अनवद्य, अद्वैत, निर्गुन, सगुन,
ब्रह्म सुमिरामि नरभूप-रूपं ॥८॥

सेष-स्रुति-सारदा-संभु-नारद-सनक
गनत गुन अंत नहिं तव चरित्रं।
सोइ राम कामारि-प्रिय अवधपति सर्वदा
दास तुलसी - त्रास - निधि - वहित्रं ॥९॥

शब्दार्थ—वैनतेय = गरुड़। तून = तरकस। विसिख = बाण। पाथोजनाभं = जिसकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ हो अर्थात् विष्णु। अपवर्ग = मोक्ष। पादप = वृक्ष। कुठार = टाँगा, कुल्हाड़ा। सदसि = सभा। भार्गवागर्व = (भार्गव+आगर्व) परशुरामका गर्व। श्री = लक्ष्मी, सम्पत्ति। मनुजमनुसृत्य = (मनुजं+अनुसृत्य) मनुष्योंको अनुकरण करके। अज = अजन्मा। कुरंग = मृग। सुहृद = मित्र। उद्भट = श्रेष्ठ वीर। संकास = समान। अनवद्य = दोषरहित। वहित्रं = नौका।

भावार्थ—हे देव! आप सूर्य-कुलरूपी कमलके लिए सूर्य, करोड़ों कामदेवके समान शोभावाले, कलिकालरूपी सर्पके लिए गरुड़, बलवान् हाथोंमें प्रचंड धनुष धारण करनेवाले, तरकसमें सुन्दर बाण धरे और अनुपम बलशाली हैं॥१॥ आप लाल कमलके समान नेत्रवाले, सौन्दर्यके निधान, मेघकी सुन्दर आभाके सदृश कान्तिमय श्यामल शरीरवाले, तपे हुए सुवर्णके समान पीताम्बरधारी, शस्त्र-विद्यामें कुशल, सिद्धों और देवताओंके पूज्य तथा पाथोजनाभ हैं अर्थात् आपकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ है॥२॥ आप सम्पूर्ण सुन्दरताके घर हैं, विश्व ब्रह्माण्ड आपका शरीर है, आप अत्यन्त चतुर, गूढ़ गुणवाले, अपारमहिम, निर्भीक, दुस्तर, दुर्गम, स्वर्गापवर्गके स्वामी, तथा संसार-वृक्षको काटनेके लिए कुठाररूप हैं॥ ३॥ आपने गौतमकी स्त्रीको शापमुक्त किया है, आप ब्राह्मणोंका हित करनेवाले (ब्रह्मण्य), विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करनेमें सुदक्ष, स्वजनोंका पक्ष लेनेवाले, राजा जनककी सभामें शिव-धन्वाको खंड-खंड करनेवाले तथा उग्ररूप परशुरामजीकी महान् गर्व-गरिमाका हरण करनेवाले हैं॥४॥ आपने गुरुजनों (पिता-माता) के वचनोंका गौरव रखनेके लिए ऐसे राज्य और धनको त्याग दिया जिसे देवता लोग भी कठिनाईसे भी नहीं त्याग सकते हैं; आप अजन्मा होनेपर भी अपने भाई लक्ष्मण और जानकीजीको साथ लेकर मनुष्योंकी तरह लीला करते हुए दुष्टोंका वध करनेमें तत्पर तथा तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं॥५॥ आपने अपने पवित्र चरणोंसे दंडक वनको पुण्यमय

स्थान बना दिया, आप मृगरूपी मारीचकी माया हरनेवाले, बलवान् बालिरूपी मतवाले हाथीके लिए सिंहरूप और सुहृद सुग्रीवके दुःखोंको दूर करनेवाले हैं ॥६॥ आप विकट योद्धाओंमें श्रेष्ठवीर रीछ और बन्दरोंको साथ लेकर पर्वताकार शत्रुओंको संग्राममें भयभीत करनेवाले, समुद्रको बाँधनेवाले, देवताओंके समूहको मुक्त करनेवाले, तथा दस सिर और बीस विशाल भुजाओंवाले रावणको उसके कुल-सहित नष्ट करनेवाले हैं ॥७॥ आप देवताओंके दुष्ट शत्रु-समूहका नाश करके पृथिवीका भार उतारनेके लिए अवतार लेनेवाले और अनुपम कारणस्वरूप हैं। आप निर्मल, दोषरहित, अद्वैत, त्रिगुणोंसे रहित, सगुण तथा राजाके रूपमें साक्षात् ब्रह्म हैं। मैं आपका स्मरण करता हूँ ॥८॥ शेष, वेद, सरस्वती, शिवजी, नारद और सनकादि आपका गुणानुवाद गाते हैं, पर आपके चरित्रका अन्त नहीं होता। वही 'राम' जो कि शिवजीके प्रिय और अयोध्याके राजा हैं—तुलसीदासको भव-सागरसे उबारनेके लिए सर्वदा नौका-रूप हैं ॥९॥

विशेष

१—'गुनगूढ़'—रामजीका गुन कितना गूढ़ है इसे शिवजीने जगज्जननी पार्वतीजीसे इस प्रकार कहा है—

> उमा रामगुन गूढ़, पण्डित मुनि पावहिं विरति।
> पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्मरति॥
>
> —रामचरितमानस।

२—'पाथोजनाभं'—सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रकरणमें ऐसा उल्लेख है कि समुद्रमें शेषशायी भगवान् विष्णुकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उस कमलके ऊपर ब्रह्माजी पैदा होकर सृष्टिकी रचना करनेमें तत्पर हुए। इसीसे भगवान् विष्णु पाथोजनाभ कहे जाते हैं।

३—'दुर्ग'—वास्तवमें का अर्थ अर्थ है "जहाँ दुःखसे पहुँचा जा सके।"

४—'भार्गव'—परशुरामजी भृगुवंशके थे, इससे उन्हें भार्गव कहा जाता है।

५—'दण्डकारन्य कृतपुन्य'—दण्डकारण्यको शाप था। अतः इस वनमें कोई नहीं जाता था। भगवान् रामचन्द्रने इसे पवित्र कर दिया।

६—'कारण'—जिससे कोई वस्तु उत्पन्न होती है, उसे उस वस्तुका कारण कहते हैं। सृष्टिकी उत्पत्ति ईश्वरसे हुई, अतः परमात्मा कारण-स्वरूप हैं और सृष्टि कार्यरूप। जैसे घटका कारण मिट्टी है और मिट्टीका कार्य घट है।

(५१)

देव—

जानकीनाथ, रघुनाथ, रागादि-तम-
तरनि तारुन्यतनु तेजधामं।
सच्चिदानंद, आनंदकंदाकरं,
विस्व-विस्राम, रामाभिरामं॥ १॥
नीलनव-वारिधर-सुभग-सुभकांति, कटि
पीत कौसेयवर वसनधारी।
रत्न-हाटक-जटित-मुकुट-मंडित-मौलि,
भानु-सत-सदृस उद्योतकारी॥ २॥
स्रवन कुण्डल, भाल तिलक, भ्रूरुचिर अति,
अरुन अंभोज लोचन विसालं।
बक्र अवलोक त्रैलोक सोकापहं,
मार-रिपु हृदय-मानस-मरालं॥ ३॥
नासिका चारु, सुकपोल, द्विज बज्र दुति,
अधर बिंबोपमा, मधुर हासं।
कंठ दर, चिबुक वर, वचन गम्भीर तर,
सत्य संकल्प, सुरत्रास-नासं॥ ४॥
सुमन सुविचित्र नव तुलसिकादल-युतं
मृदुल वनमाल उर भ्राजमानं।
भ्रमत आमोदवस मत्त मधुकर-निकर,
मधुरतर मुखर कुर्वंति गानं॥ ५॥

सुभग श्रीवत्स, केयूर, कंकन, हार,
किंकिनी-रटनि कटि-तट रसालं।
वाम दिसि जनकजासीन-सिंहासनं
कनक-मृदुवल्लिवत तरु तमालं ॥ ६ ॥
आजानु भुजदंड, कोदंड-मंडित वाम
बाहु, दच्छिन पानि बानमेकं।
अखिलमुनि-निकर, सुर, सिद्ध, गंधर्व वर
नमत नर-नाग अवनिप अनेकं ॥ ७ ॥
अनघ, अविछिन्न, सर्वज्ञ, सर्वेस, खलु
सर्वतोभद्र-दाताऽसमाकं ।
प्रनतजन-खेद-विच्छेद-विद्या-निपुन
नौमि श्रीराम सौमित्रि साकं ॥ ८ ॥
युगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं
चिह्न कुलिसादि सोभाति भारी।
हनुमंत-हृदि विमल कृत परम मंदिर, सदा
दास तुलसी-सरन सोकहारी ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—आनंदकंदाकरं = (आनंद+कंद+आकरं) आनन्दके मेघोंकी खानि। रामाभिराम = लक्ष्मीको सुख देनेवाले। कौशेय = रेशमी। हाटक = सुवर्ण। वक्र = टेढ़ी, तिरछी। द्विज = दाँत। वज्र = हीरा। अधर = ओठ। मुखर = शब्दायमान। कुर्वंति = करते हैं। केयूर = अंगद, विजायठ। किंकिनी = करधनी। वल्लिवत = लताके समान। पानि = हाथ। अवनिप = राजा। खलु = निश्चयपूर्वक। विच्छेद = नाश। साकं = समेत। सद्म = घर। पद्मालय = लक्ष्मीका निवासस्थान।

भावार्थ—हे देव! आप जानकीनाथ, रघुनाथ, राग-द्वेषादि-रूपी अन्धकारका नाश करनेके लिए मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजके धाम हैं। आप सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आनन्दके मेघोंकी खानि, संसारके विश्राम-स्थल तथा सुखदायी राम हैं ॥१॥ आप नवीन नीले मेघके समान सुन्दर कान्तिवाले, कमरमें श्रेष्ठ वस्त्र रेशमी पीताम्बर धारण करनेवाले हैं। आपके मस्तकपर सैकड़ों सूर्यके समान प्रकाश करनेवाला रत्नजटित सोनेका मुकुट सुशोभित हो रहा है ॥२॥ आपके

कानोंमें कुण्डल, ललाटपर तिलक है; आपकी भौंहें अत्यन्त सुन्दर हैं और लाल कमलके समान बड़े-बड़े अरुणारे नेत्र हैं। आपकी तिरछी चितवन तीनों लोकोंका शोक हरनेवाली है; आप शिवजीके हृदय-रूपी मानसरोवरमें विचरण करनेवाले हंसरूप हैं ॥३॥ आपकी नासिका और कपोल सुन्दर हैं, दाँत हीरेकी तरह शुभ्र और चमकीले हैं, अधरोंकी लालिमा पके हुए बिम्बाफलके समान हैं, मुसकान मधुर है, कण्ठ शंखके समान है, चिबुक सुन्दर और वाणी अत्यन्त गम्भीर है। आप सत्य-संकल्प और देवताओंके भयका नाश करनेवाले हैं ॥४॥ आपके हृदयपर नवीन तुलसीदलसंयुक्त सुन्दर रंग-बिरंगे पुष्पोंकी कोमल वनमाला सुशोभित है और उस मालाकी सुगंधसे दीवाने भ्रमरोंका समूह आमोदवश अत्यन्त मधुर गुंजार करता हुआ घूम रहा है ॥५॥ आपके हृदयपर सुन्दर श्रीवत्सका चिह्न है, बाहुओंपर अंगद या विजायठ, हाथोंमें कंकण, गलेमें हार और कटि भागमें करधनी मधुर ध्वनि कर रही है। सिंहासनपर आपके वाम भागमें जानकीजी बैठी हैं; ऐसा जान पड़ता है मानो तमाल वृक्षके समीप कोमल सुवर्ण-लता शोभित हो रही है ॥६॥ घुटनेतक लम्बे आपके हाथ हैं; आपके बायें हाथमें धनुष तथा दाहिने हाथमें एक बाण है। आपको सम्पूर्ण मुनि-वृन्द, देवता, सिद्ध, श्रेष्ठ गन्धर्व, मनुष्य, नाग और अनेक रजवाड़े प्रणाम करते हैं ॥७॥ आप निष्पाप, अविच्छिन्न, सर्वज्ञ, सबके स्वामी, हम लोगोंको निश्चयपूर्वक सब प्रकारका कल्याण देनेवाले तथा भक्तोंके प्रणाम करते ही उनके कष्टोंको दूर करनेकी विद्यामें निपुण हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी ! मैं आपको लक्ष्मणजीके सहित नमस्कार करता हूँ ॥८॥ आपके युगल चरणकमल सुखके घर तथा लक्ष्मीजीके निवास-स्थान हैं। बज्र आदि चिह्नोंके कारण आपके चरणोंकी शोभा ही निराली है। आपके जिन चरणोंने हनुमान्‌जीके हृदयको उत्तम मन्दिर बनाकर पवित्र किया है, यह तुलसीदास सदैव उन शोकहारी चरणोंकी शरणमें हैं ॥९॥

विशेष

१—'तारुन्यतनु' का अर्थ वियोगी हरिजी तथा अन्य कई टीकाकारोंने 'तरुण शरीरवाले' लिखा है; पर यह अर्थ ठीक नहीं। क्योंकि श्रीरामजी सदैव किशोरावस्थामें रहते हैं और शिवजी युवावस्थामें—ऐसा उल्लेख पाया जाता है। गोस्वामीजीने भी 'विनय' के ६२ वें पदमें लिखा है:—

"बिसद किसोर, पीन, सुन्दर बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई।"

२—"वनमाल"—कमल, कुंद, पारिजात, मंदार और तुलसीकी पैरोंतक लटकती हुई मालाका नाम वनमाला है।

३—'चिह्न कुलिसादि'—भगवान्‌के दाहिने चरणमें २४ और वाम चरणमें २४, कुल ४८ चिह्न हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने इन चिह्नोंका वर्णन इस प्रकार किया है:—

स्वस्तिक ऊरध रेख कोन अठ श्रीहल-मूसल।
अहि बाणाम्बर वज्र सु-रथ यव कंज अष्टदल॥
कल्पवृक्ष ध्वज चक्र मुकुट अंकुश सिंहासन।
छत्र चँवर यम-दंड माल यवकी नरको तन॥
चौबीस चिह्न ये रामपद प्रथम सुलच्छन जानिये।
'हरिचंद' सोई वामपद जानि ध्यान उर आनिये॥
सरयू गोपद महि जम्बू घट जय पताक दर।
गदा अर्ध ससि तिल त्रिकोन षटकोन जीव वर॥
शक्ति सुधा सर त्रिबलि मीन पूरन ससि वीना।
वंशी धनु पुनि हंस तून चन्द्रिका नवीना॥
श्रीराम-वाम पद चिह्न सुभ ए चौबिस शिव-उक्त सब।
सोइ जनकनन्दिनी दक्ष पद भजु सब तजु 'हरिचंद' अब॥

(५२)

देव—

कोसलाधीस, जगदीस, जगदेक हित,
अमित गुन विपुल विस्तार लीला।
गायन्ति तव चरित सुपवित्र स्रुति-सेष-सुक-
संभु-सनकादि मुनि मननसीला॥ १॥
वारिचर-वपुष धरि भक्त-निस्तारपर,
धरनिकृत नाव महिमाति गुर्वी।

सकल यज्ञांसमय उग्र विग्रह क्रोड़,
मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी ॥२॥
कमठ अति विकट तनु कठिन पृष्ठोपरी,
भ्रमत मंदर कंडु-सुख मुरारी।
प्रगटकृत अमृत, गो, इंदिरा, इंदु,
वृंदारकावृंद-आनंदकारी ॥३॥
मनुज-मुनि-सिद्ध-सुर-नाग-त्रासक, दुष्ट
दनुज द्विज-धर्म मरजाद-हर्ता।
अतुल मृगराज-वपुधरित, विद्दरित अरि,
भक्त प्रहलाद-अहलाद-कर्ता ॥४॥

छलन बलि कपट-बटुरूप वामन ब्रह्म,
भुवन परजंत पद तीन करनं।
चरन-नख-नीर त्रैलोक-पावन परम,
विबुध-जननी दुसह-सोक हरनं ॥५॥

छत्रियाधीस-करि निकर-नर-केसरी,
परसुधर विप्र-ससि-जलद रूपं।
बीस भुजदंड दससीस खंडन चंड,
वेग सायक नौमि राम भूपं ॥६॥

भूमिभर-भार-हर, प्रगट परमातमा,
ब्रह्म नर-रूपधर भक्त-हेतू।
वृष्णि-कुल-कुमुद-राकेस राधारमन,
कंस-वंसाटवी-धूमकेतू ॥७॥

प्रबल पाखंड महि-मंडलाकुल देखि,
निंद्यकृत अखिल मख कर्म-जालं।
सुद्ध बोधैक घन, ज्ञान-गुन-धाम, अज,
बौद्ध अवतार वंदे कृपालं ॥८॥

कालकलिजनित मलमलिन मन सर्वनर
मोह-निसि निविड़ जमनांधकारं।
विष्णुजस पुत्र कलकी दिवाकर उदित
दास तुलसी हरन विपति भारं ॥९॥

शब्दार्थ—गायंति=गाते हैं। वारिचर=मत्स्य। वपुष=शरीर। गुर्वी=श्रेष्ठ। क्रोड़=शूकर। उर्वी=पृथिवी। कमठ=कच्छप। कंडु=खुजलाहट। इंदिरा=लक्ष्मी। वृंदारका-वृंद=देव-गण। मृगराज=नृसिंह। वटु=ब्रह्मचारी। ससि=शस्य, धान, धान्य। भूमि-भर=पृथिवीभर, समूची पृथ्वी। राकेस=चन्द्रमा। वंसाटवी=वंश-वन। धूमकेतू=अग्नि। कलकी=कल्कि।

भावार्थ—हे देव! हे कोशलपति! हे जगदीश! आप संसार के एकमात्र हितकारी हैं और अपने अमित गुणोंकी अपार लीलाका विस्तार करनेवाले हैं। आपके सुन्दर और पवित्र चरित्रको वेद, शेष, शुकदेव, शिव, सनकादि तथा मननशील मुनि गाते हैं ॥१॥ आपने अपने भक्तोंके उद्धारके लिए मत्स्यरूप धारण करके पृथिवीकी नौका बनायी; आपकी महिमा अपार है। आप समस्त यज्ञोंके अंशरूप हैं, और उग्र शरीरवाले शूकर रूपमें हिरण्याक्ष नामक दैत्यराजका मर्दन करके पृथिवीका उद्धार करनेवाले हैं ॥२॥ हे मुरारे! आप अत्यन्त विक-राल कछुएका शरीर धारण करके अपनी कठिन पीठपर घूमते हुए मन्दराचल पर्वतसे खुजलाहटका सुख प्राप्त करनेवाले तथा (समुद्रमंथन करके) अमृत, कामधेनु, लक्ष्मी और चन्द्रमाको उत्पन्न करके देवताओंको आनन्दित करनेवाले हैं ॥३॥ आप नृसिंहरूप धारण करके मनुष्य, मुनि, सिद्ध, देवता और नागोंको दुःख देनेवाले तथा ब्राह्मण-धर्मकी मर्यादा हरण करनेवाले महान् शत्रु दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपुको फाड़कर उसके पुत्र भक्त प्रह्लादको आह्लादित करनेवाले हैं ॥४॥ आपने बलिको छलनेके लिए वामन ब्रह्मचारीका कपटरूप धारण करके तीन पैरमें तीनों लोकोंको नाप लिया। नापते समय आपके चरण-नखसे तीनों लोकोंको परम पवित्र करनेवाला जल निकला जोकि गंगाके नामसे प्रसिद्ध हुआ। आपने छलसे बलिका राज्य ले लिया और उसे इन्द्रको देकर देवताओंकी माता अदितिका दुःसह शोक हर लिया॥५॥ आप क्षत्रिय राजारूपी हाथियोंके समूहको विदीर्ण करने-के लिए पुरुष-सिंहरूप तथा ब्राह्मणरूपी धान्यके लिए मेघरूप परशुरामका अवतार

धारण करनेवाले हैं। आप बीस भुजा और दस शिरवाले रावणको अपने प्रचंड और वेगवान बाणोंसे खंड-खंड करनेके लिए महाराज रामचन्द्रका अवतार धारण करनेवाले हैं; आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥६॥ समूची पृथिवीका भार उतारने तथा भक्तोंकी रक्षाके लिए आप परब्रह्म परमात्मा होकर भी नर-रूप धारण करनेवाले हैं। आप वृष्णि-कुल-कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमा-स्वरूप, राधा-रमण, तथा कंसके वंशरूपी वनको जलानेके लिए अग्निरूप हैं ॥७॥ पृथिवी मंडलको प्रबल पाखंडोंसे व्याकुल देखकर आपने यज्ञादि कर्मोंकी निन्दा की; ऐसे शुद्ध बोध-स्वरूप, विज्ञानघन, सकल-गुण-निधान, अजन्मा, कृपालु आपके बौद्धा-वतारकी मैं वन्दना करता हूँ ॥८॥ कलिकाल-जनित पापोंसे सब मनुष्योंके मन मलिन हो रहे हैं; आप इस मोहनिशाके म्लेच्छरूपी सघनान्धकारका नाश करनेके लिए उदय हुए सूर्यकी भाँति विष्णुयश नामक ब्राह्मणके यहाँ पुत्ररूपसे कल्कि अवतार धारण करनेवाले हैं। आप इस तुलसीदासको विपत्तियोंके भारको दूर कर दीजिये ॥९॥

विशेष

१—इस पदमें दशावतारकी चर्चा है। भगवान्के [illegible] अवतार ये हैं:—(१) मत्स्य, (२) वाराह, (३) कूर्म, (४) नृसिंह, (५) वामन, (६) परशुराम, (७) राम, (८) कृष्ण, (९) बुद्ध, (१०) कल्कि। इनमें प्रथम चार अवतार सत्ययुगमें, उसके बादके तीन अवतार (वामन, परशुराम और राम) त्रेतामें, उसके बादके दो अवतार (कृष्ण, बुद्ध) द्वापरके अन्तमें हुए हैं और अन्तिम कल्कि अवतार कलियुगके अन्तमें होगा। यह दशावतारी पद महाकवि जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' नामक काव्य-ग्रंथकी एक अष्टपदीसे मिलता-जुलता है। उस अष्टपदीका प्रारम्भ इस प्रकार है:—

"प्रलयपयोधि जले धृतवानसि वेदम्। विहित वहित्र चरित्रमखेदम् ॥
केशवधृत मीन शरीर, जय जगदीश हरे ॥१॥
क्षितिरति विपुलतरे तवतिष्ठति पृष्ठे। धरणि धरण किणचक्र गरिष्ठे ॥
केशवधृत कच्छप रूप, जय जगदीश हरे ॥२॥

वसति दशन-शिखरे धरणी तव लग्ना । शशिनि कलंक कलेव निमग्ना ॥
केशवधृत शूकर रूप , जय जगदीश हरे ॥३॥
तव कर कमलवरे नखमद्भुत शृंगम् । दलित हिरण्यकशिपु-तनु भृङ्गम् ॥
केशवधृत नरहरि रूप, जय जगदीश हरे ॥४॥
छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुत वामन । पदनख नीर जनित-जन पावन ॥
केशवधृत वामन रूप, जय जगदीश हरे ॥५॥
क्षत्रिय रुधिर मये जगदपगत पापम् । स्नपयसि पयसि शमित भवतापम् ॥
केशवधृत भृगुपति रूप, जय जगदीश हरे ॥६॥
वितरसि दिक्षुरणे दिग्पति कमनीयम् । दशमुख मौलिबलिं रमणीयम् ॥
केशवधृत राम शरीर, जय जगदीश हरे ॥७॥
वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम् । हलहति भीति मिलित यमुनाभम्॥
केशवधृत हलधर रूप, जय जगदीश हरे ॥८॥
निन्दसि यज्ञविधे रहहश्रुति जातम् । सदय हृदय दर्शित पशु घातम् ॥
केशवधृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे ॥९॥
म्लेच्छ निवह निधने कलयसि करवालम् । धूमकेतुमिव किमपि करालम् ॥
केशवधृत कल्कि शरीर, जय जगदीश हरे ॥१०॥

२—'जगदेकहित'—परमात्माका अवतार केवल संसारका कल्याण करनेके लिए ही हुआ करता है । गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
× ×
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

३—'अतुल मृगराज'—का अर्थ है, 'तुलना-रहित सिंह' अर्थात् 'नृसिंह' ।

४—'प्रबल पाखंड…कर्मजालं'—बौद्धावतारके पहले यज्ञोंमें पशुबलि इत्यादि की जाती थी, इसीसे भगवान् बुद्धने उसे पाखंड समझकर उसका खंडन किया था । इस रचनासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी धर्मके नाम-पर पशुबलि आदिको केवल ढोंग समझते थे ।

(५३)

देव—

सकल सौभाग्यप्रद सर्वतोभद्र-निधि
सर्व, सर्वेस, सर्वाभिरामं ।
सर्व-हृदि-कंज-मकरंद-मधुकर रुचिर,
रूप, भूपालमनि नौमि रामं ॥१॥

सर्वसुख-धाम गुनग्राम, विस्रामप्रद,
नाम सर्वास्पदं अति पुनीतं ।
निर्मलं, सांत, सुविसुद्ध, बोधायतन,
क्रोध-मद-हरन, करुना-निकेतं ॥२॥

अजित, निरुपाधि, गोतीतमव्यक्त, विभु-
मेकमनवद्यमजमद्वितीयं ।
प्राकृतं, प्रगट परमातमा, परमहित,
प्रेरकानंत वंदे तुरीयं ॥३॥

भूधरं, सुन्दरं, श्रीवरं, मदन-मद-
मथन सौन्दर्य-सीमातिरम्यं ।
दुष्प्राप्य, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर्क्य, दुष्पार,
संसारहर, सुलभ, मृदुभाव-गम्यं ॥४॥

सत्यकृत, सत्यरत, सत्यव्रत, सर्वदा,
पुष्ट, संतुष्ट, संकष्टहारी ।
धर्म वर्मनि ब्रह्मकर्मबोधैक, विप्र
पूज्य, ब्रह्मन्यजनप्रिय, मुरारी ॥५॥

नित्य, निर्मम, नित्यमुक्त, निर्मान, हरि,
ज्ञानघन, सच्चिदानंद मूलं ।
सर्वरच्छक सर्वभच्छकाध्यच्छ,
कूटस्थ, गूढ़ार्चि भक्तानुकूलं ॥६॥

सिद्ध-साधक-साध्य, वाच्य-वाचकरूप,
मन्त्र-जापक-जाप्य, सृष्टि-स्रष्टा ।
परम कारन, कंजनाभ, जलदाभतनु,
सगुन, निर्गुन, सकल दृश्य-द्रष्टा ॥७॥
व्योम व्यापक, विरज, ब्रह्म, वरदेस,
वैकुण्ठ, वामन, विमल ब्रह्मचारी ।
सिद्ध-वृंदारकावृंदवंदित सदा,
खंडि पाखंड-निर्मूलकारी ॥८॥
पूरनानंद संदोह, अपहरन
संमोह-अज्ञान, गुन-सन्निपातं ।
वचन-मन-कर्म-गत सरन तुलसीदास
त्रास पाथोधि इव कुंभजातं ॥९॥

शब्दार्थ—सर्व = सम्पूर्ण । सर्व (शर्व) = शिवजी । प्राकृतं = मनुष्य शरीर । प्रेरक = प्रेरणा करनेवाले । दुष्प्रेक्ष्य = कठिनतासे दर्शन देनेवाले । दुस्तर्क्य = तर्क द्वारा नहीं जाने जा सकनेवाले । निर्मम = मोह-ममता रहित । कूटस्थ = लोहारकी निहाईके समान अचल, विकाररहित जो सदा एक रूपमें स्थित रहे । जापक = जप करनेवाला । जाप्य = जिसके लिए जप किया जाय । व्योम = आकाश । सन्निपातं = मिश्रित त्रिदोष, विकारोत्पादक ।

भावार्थ—हे देव ! आप सब प्रकारके सौभाग्यको देनेवाले, सब प्रकारके कल्याणके समुद्र, सम्पूर्ण या विश्वरूप, अखिलेश्वर, सबको आनन्द देनेवाले और शिवजीके हृदय-कमलके परागको पान करनेके लिए भ्रमररूप हैं; राजाओंमें मणि-स्वरूप तथा मनको हरनेवाले श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥ हे देव ! आप सब प्रकारके सुखोंके स्थान, गुणोंके समूह और विश्रामप्रद हैं, आपका नाम प्रभुत्त्वसे परिपूर्ण तथा अत्यन्त पवित्र है । आप निर्मल, शान्त, विशुद्ध, ज्ञान-निधान, क्रोध-मदादिका हरण करनेवाले तथा करुणाके धाम हैं ॥२॥ आप अजेय, उपाधिरहित, इन्द्रिय-ज्ञानसे परे, अव्यक्त, विभु, एक, दूषण-रहित, अजन्मा और अद्वितीय हैं । आप मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए परमात्मा हैं, परम हितू हैं, सबके प्रेरक और अनन्त हैं; ऐसे तुरीय (ब्रह्म) रूप रामकी मैं वन्दना करता हूँ ॥३॥ आप (शेषरूपसे) पृथिवीको धारण करनेवाले, मनोहर, लक्ष्मीपति,

कामदेवकी सुन्दरताके अभिमानको चूर करनेवाले, सौन्दर्यकी सीमा और अत्यन्त रमणीय हैं। आप दुष्प्राप्य, बड़ी कठिनाईसे दर्शन देनेवाले, दुस्तर्क्य, दुष्पार, जन्म-मरणरूप संसारके हरनेवाले तथा कोमल भाव द्वारा सुलभतासे प्राप्त होनेवाले हैं ॥४॥ आप सत्यको उत्पन्न करनेवाले, सदैव सत्यमें रत रहनेवाले, सत्यव्रती, पुष्ट (दिव्य सामर्थ्यवान्), सन्तुष्ट और कष्टोंको हरनेवाले हैं। आप धर्मरूपी कवच धारण करनेवाले, ब्रह्मस्वरूप, कर्मज्ञानमें अद्वितीय, ब्राह्मणोंके पूज्य, ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले, भक्तोंके प्रिय तथा मुर नामक दानवके शत्रु हैं ॥५॥ आप नित्य, मोहममता-रहित, नित्यमुक्त, मान-रहित, विष्णु, ज्ञानघन, सच्चिदानन्द और सबके मूल कारण हैं। आप सबके रक्षक, सबको भक्षण करनेवाले (यमराज) के स्वामी, कूटस्थ, गूढ़ तेजवाले तथा भक्तोंपर कृपा करनेवाले हैं ॥६॥ आप ही सिद्ध, साधक और साध्य हैं, वाच्य और वाचक हैं, आप ही मंत्र, जापक और जाप्य हैं तथा आप ही सृष्टि और स्रष्टा हैं। आप परम कारण, पद्मनाभ, मेघकी आभाके समान शरीरवाले, सगुण और निर्गुण हैं। सब दृश्य भी आप ही हैं और उसके द्रष्टा भी आप ही हैं ॥७॥ आप आकाशकी तरह व्यापक, रजोगुण आदिसे रहित, साक्षात् ब्रह्म, वर देनेवालोंके स्वामी, बैकुंठ एवं निर्मल वामन ब्रह्मचारी हैं। आप सिद्ध और देव-समूह द्वारा सदैव वन्दित तथा पाखण्डका खंडन करके उसे निर्मूल करनेवाले (बुद्ध अवतार) हैं ॥८॥ आप पूर्ण आनन्दके समूह, मोह और अज्ञान-जनित तीनों गुणोंके या त्रिदोषके नाशक हैं। आप वचन, मन और कर्मसे शरणमें आये हुए इस तुलसीदासके भव-भयरूपी समुद्रको सोखनेके लिए अगस्त्य ऋषिके समान हैं ॥९॥

विशेष

१—'कर्मबोधैक'—कर्मकी गति ऐसी गहन है कि उसका पूर्ण ज्ञान केवल परमात्माको ही है। कर्मकी गहनताके विषयमें गीतामें भगवान्ने कहा है:—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

अथवा 'ब्रह्मकर्मबोधैक' का अर्थ 'वेदविहित कर्मके ज्ञानमें अद्वितीय' भी किया जा सकता है। क्योंकि 'ब्रह्म' शब्द कई जगह 'वेद' के लिए व्यवहृत हुआ है।

२—'निर्मान'—ईश्वर मानरहित हैं। यदि ऐसा न होता तो वह मत्स्य, शूकरादिका रूप न धारण करते।

३—'गूढ़ार्चि'—परमात्माने अवतार लेकर अपने ईश्वरत्वके तेजको छिपा रखा है, इसीसे उन्हें गूढ़ार्चि कहा गया है।

४—''सिद्ध साधक···द्रष्टा''—यहाँ गोस्वामीजीने अद्वैत वेदान्तानुसार ब्रह्मका निरूपण किया है। इसी प्रकार रामचरितमानसमें भी ग्रन्थकारने सृष्टि-को ईश्वरके रूपमें देखा है:—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

वास्तवमें ब्रह्मके सिवा विश्व-ब्रह्माण्डमें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे कहा भी है कि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

(५४)

देव—

विस्व-विख्यात, विस्वेस, विस्वायतन,
विस्वमरजाद, व्यालारिगामी।
ब्रह्म, वरदेस, वागीस, व्यापक, विमल,
विपुल वलवान, निर्वानस्वामी॥१॥

प्रकृति, महतत्व, शब्दादि गुन, देवता
व्योम, मरुदग्नि, अमलांबु, उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तातमा,
काल, परमानु, चिच्छक्ति गुर्वी॥२॥

सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि !
व्यक्तमव्यक्त, गतभेद, विष्णो ।
भुवन भवदंग, कामारि-वंदित, पद-
द्वंद्व मंदाकिनी-जनक, जिष्णो ॥३॥
आदिमध्यांत, भगवंत ! त्वं सर्वगत-
मीस, पस्यन्ति ये ब्रह्मवादी ।
जथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प स्रग,
दारुकरि, कनक-कटकांगदादी ॥४॥
गूढ़, गंभीर, गर्वघ्न, गूढ़ार्थवित्,
गुप्त, गोतीत, गुरु, ग्यान-ग्याता ।
ग्येय, ग्यानप्रिय, प्रचुर गरिमागार,
घोर-संसार-पर, पार-दाता ॥५॥
सत्य संकल्प, अतिकल्प, कल्पांतकृत,
कल्पनातीत, अहि-तल्पवासी ।
वनज-लोचन, वनज-नाभ, वनदाभ-वपु,
वनचरध्वज-कोटि लावन्यरासी ॥६॥
सुकर, दुष्कर, दुराराध्य, दुर्व्यसनहर,
दुर्ग, दुद्धर्ष, दुर्गार्त्तिहर्त्ता ।
वेदगर्भार्भकादभ्र-गुन गर्व,
अर्वागपर-गर्व-निर्वाप-कर्त्ता ॥७॥
भक्त अनुकूल, भवसूल-निर्मूलकर,
तूलअघ - नाम पावक-समानं ।
तरल तृष्णातमी-तरनि, धरनी धरन,
सरन-भयहरन, करुनानिधानं ॥८॥
बहुल वृंदारकावृंद - वंदारु-पद-
द्वंद्व, मंदार-मालोर-धारी ।
पाहि मामीस संताप-संकुल सदा
दास तुलसी प्रनत रावनारी ॥९॥

शब्दार्थ—व्यालारि = गरुड़ । वागीस = सरस्वतीके ईश, वाणीके अधिष्ठाता । निर्वान = मुक्ति । उर्वी = पृथिवी । गुर्वी = बहुत बड़ी । जिष्णो = सर्वजित । त्वं = तुम्हें । पश्यन्ति = देखते हैं । स्रग = माला । कटकांगदादी = (कटक + अंगद + आदि) कड़े, बाजूबन्द आदि गहने । तल्प = शय्या, सेज । वनज = कमल । वनदाभ = (वनद + आभ) मेघकी आभा । वपु = शरीर । वनचर-ध्वज = मकरकेतु, कामदेव । सुकर = सुलभ । दुर्गाति = कठिन दुःख । वेदगर्भार्भकादभ्र = (वेदगर्भ = ब्रह्मा + अर्भक = बालक + अदभ्र = बहुत) । निर्वाप = नाश । तरल = चंचल । तमी = रात्रि । वंदारु = वन्दनीय । माम् = मुझे ।

भावार्थ—हे देव ! आप संसार-प्रसिद्ध, जगत्के स्वामी, विश्वके गृह (विराट्रूप), जगत्की मर्यादा, और गरुड़पर चढ़कर चलनेवाले हैं । आप ब्रह्म हैं, वर देनेवाले देवताओंके स्वामी, सरस्वतीके ईश, व्यापक, निर्मल, अत्यन्त बलवान् और मुक्तिके स्वामी हैं ॥१॥ प्र कृति, महत्तत्त्व, शब्दादि, गुण, देवता, आकाश, वायु, अग्नि, निर्मल जल और पृथिवी, बुद्धि, मन, दसो इन्द्रियाँ, पंच-प्राण, चित्त, आत्मा, काल, परमाणु, श्रेष्ठ चित्-शक्ति आदि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (प्रकृतिसे लेकर चित्-शक्तितक) सब आपके ही रूप हैं ॥२॥ हे राज-राजेश्वर ! हे विष्णो ! आप भेद (सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे) रहित हैं । यह विश्व-ब्रह्माण्ड आपका अंग है । हे सर्वजित् ! आपके युगल-चरण शिवजी द्वारा वन्दित हैं, और ये ही चरण गंगाजीको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥३॥ हे भगवन् ! आप ही आदि, मध्य और अन्त हैं तथा सर्वगत ईश्वर हैं । जो ब्रह्मवादी हैं वे आपको वैसा ही देखते हैं जैसे वस्त्रमें तन्तु (सूत), घड़ेमें मिट्टी, सर्पमें माला, लकड़ीके बने हुए हाथीमें लकड़ी तथा कड़े, बाजू आदि गहनोंमें सुवर्ण ॥ ४ ॥ आप गूढ़, गम्भीर, गर्व-हन्ता, गूढ़ अर्थके जाननेवाले, गुप्त, इन्द्रियातीत, गुरु, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय स्वरूप, ज्ञानप्रिय, अगाध गरिमाके घर और घोर संसारसे परे एवं उससे पार कर देनेवाले हैं ॥५॥ आप सत्य-संकल्प और कल्पसे परे हैं । आप महाप्रलय करनेवाले, कल्पनातीत तथा शेष शैय्यापर निवास करनेवाले हैं । आप कमल-नेत्र, पद्मनाभ, मेघकी आभाके समान शरीरवाले और कामदेवोंके समान सौन्दर्यकी राशि हैं ॥६॥ आप (भक्तोंके लिए) सुलभ तथा (दुष्टोंके लिए) दुर्लभ हैं । आपकी आराधना बड़ी कठिनतासे होती है । आप बुरे व्यसनोंको नष्ट करनेवाले, दुर्गम (कठिनतासे

मिलनेवाले), दुर्द्धर्ष और कठिन दुःखोंको हरनेवाले हैं। ब्रह्माके पुत्र सनकादिकको अपनी परा और अपरा विद्याका बहुत गर्व था, उस गर्वका खर्व करनेवाले भी आप ही हैं ॥७॥ आप भक्तोंपर प्रसन्न रहनेवाले तथा सांसारिक दुःखोंको जड़से उखाड़ देनेवाले हैं। आपका नाम पापरूपी रुईको भस्म करनेके लिए अग्निके समान है। आप चंचल तृष्णारूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यरूप हैं, पृथिवीको धारण करनेवाले हैं, शरणागत जनोंका भय दूर करनेवाले तथा करुणा-निधान हैं ॥८॥ देव-समूह आपके दोनों चरणोंकी बहुत वन्दना किया करता है। आप मन्दारकी माला पहने रहते हैं। हे रावणके शत्रु श्रीरामजी! सदैव सन्तापोंसे परिपूर्ण तुलसीदास आपको प्रणाम करता है। हे प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये ॥९॥

विशेष

१—'शब्दादि'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों पंच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं।

२—'गुण'—सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं।

३—'व्योम···उर्वी'—आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल और पृथिवी ये पाँच महाभूत हैं। इन्हीं पंचभूतोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है।

४—'इन्द्रिय'—पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

५—'प्राण'—पाँच हैं; प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

६—'गतभेद'—परमात्मा सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे रहित है। (१) अपनी जातिवालोंसे जो सम्बन्ध है, उसे सजातीय सम्बन्ध कहते हैं; जैसे एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यसे सम्बन्ध। नित्य शुद्ध-बुद्ध चेतन और असंग परमात्माकी कोई जाति नहीं है, इसलिए वह सजातीय भेदसे रहित है। (२) अन्य-जातिवालोंसे जो सम्बन्ध है, उसे विजातीय सम्बन्ध कहते हैं; जैसे मनुष्यका पशुसे। (३) अपने अवयवों (अंगों) से जो सम्बन्ध है उसे स्वगत सम्बन्ध कहते हैं। जैसे हाथका सम्बन्ध पैरसे। गुसाईंजीने यही बात रामायणमें भी कही है :—

सकल विकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

७—'सर्प-स्रग'—ज्ञान-चक्षु खुल जानेपर मनुष्यकी प्राणिमात्रपर अभेद-दृष्टि हो जाती है और उसे ऐसा भान होने लगता है कि संसारकी प्रत्येक वस्तुका कारण ईश्वर है। देखिये, भक्त मीराबाईके ज्ञान-चक्षु खुल गये थे। एक बार महाराणाने मीराका प्राण लेनेके लिए पिटारीमें बन्द कराकर एक विषधर सर्प भेजा। दासीने मीराके हाथमें सर्पकी पिटारी देते हुए कहा कि महाराणाने आपके लिए उपहार भेजा है। मीराने प्रसन्न होकर उस पिटारीको ले लिया और बड़े प्रेमसे उसे खोलकर सर्पको उठाते हुए कहा,—बड़ी सुन्दर माला है। इसे मैं अपने गिरिधरलालको चढ़ाऊँगी। भक्त-मीराके लिए वह सर्प मालाके रूपमें परिणत हो गया। जब यह समाचार महाराणाको मालूम हुआ तो वह बहुत क्रुद्ध हुए। सोचा, मीरा जादूगरनी है। इससे पहले भी वह मीराका प्राण लेनेके लिए कई उपाय कर चुके थे। यह निशाना चूक जानेपर उनके क्रोधकी सीमा न रही। वास्तवमें भावना बड़ी बलवान् वस्तु है। देखिये न, दृढ़ भावना और अभेददृष्टिने सर्पको मालाके रूपमें परिणत कर दिया।

८—'वनचर-ध्वज'—'वन' नाम 'जल' का है। जलमें चलनेवाला अर्थात् मकर है ध्वजपर जिसके; अर्थात् कामदेव।

९—'वेदगर्भार्भकादभ्र···कर्ता'—एकबार सनकादिने अपने पिता ब्रह्मासे वेदान्तविषयक कुछ प्रश्न किया। सृष्टिके कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण ब्रह्माजी शीघ्र उनके प्रश्नका उत्तर न दे सके। इससे सनकादिको अपने गुणका गर्व हुआ। ब्रह्माके स्मरण करते ही भगवान् विष्णु हंसका रूप धारण करके वहाँ प्रकट हो गये। उन्होंने तुरन्त ही सनकादिकका अभिमान चूर कर दिया। यही हंस भगवान् निम्बार्क सम्प्रदायके आदि आचार्य माने जाते हैं।

(५५)

देव—

संत-संताप हर, विस्व विस्रामकर,
राम कामारि, अभिरामकारी।
सुद्ध बोधायतन, सच्चिदानन्दघन,
सज्जनानंद-वर्धन, खरारी ॥१॥

सील-समता-भवन, विषमता-मति-समन,
राम रामारमन, रावनारी।
खड्गकर, चर्मवर-वर्मधर, रुचिर कटि
तून सर-सक्ति सारंगधारी ॥२॥
सत्यसंधान, निर्वानप्रद, सर्वहित,
सर्वगुन-ज्ञान-विज्ञानसाली।
सघन-तम-घोर-संसार-भर-सर्वरी-
नाम दिवसेस खर-किरनमाली ॥३॥
तपन तीच्छन तरुन तीव्र तापघ्न, तप-
रूप, तनभूप, तमपर, तपस्वी।
मान-मद-मदन-मत्सर-मनोरथ-मथन,
मोह-अंभोधि-मंदर, मनस्वी ॥४॥
वेद-विख्यात, वरदेस, वामन, विरज,
विमल, वागीस, वैकुंठस्वामी।
काम-क्रोधादिमर्दन, विवर्धन, छमा,
सान्ति विग्रह, विहँगराज-गामी ॥५॥
परम पावन, पाप-पुंज-मुंजाटवी-
अनल इव निमिष निर्मूलकर्त्ता।
भुवन-भूषन, दूषनारि, भुवनेस, भू-
नाथ, स्रुतिमाथ जय भुवन-भर्त्ता ॥६॥
अमल, अविचल, अकल, सकल, संतप्त-कलि-
विकलता-भंजनानंदरासी ।
उरग-नायक-सयन, तरुन पङ्कज-नयन,
छीरसागर-अयन, सर्ववासी ॥७॥
सिद्ध-कवि-कोविदानंद-दायक पद-
द्वंद्व मंदात्ममनुजैर्दुरापं।
यत्र संभूत अतिपूत जल सुरसरी
दर्सनादेव अपहरति पापं ॥८॥

नित्य, निर्मुक्त, संयुक्त-गुन, निर्गुना-
नंद, भगवंत, न्यामक, नियंता।
विश्व-पोषन-भरन, विस्व-कारन-करन,
सरन, तुलसीदास त्रास-हंता ॥९॥

शब्दार्थ—खड्गकर = हाथमें तलवार। चर्मवर = श्रेष्ठ ढाल। वर्मधर = कवच धारण किये हुए। भर = अतिशय, सम्पूर्ण। सर्वरी = रात। तपन = तेज। तपरूप = तपोमय। तमपर = अविद्यासे परे। विवर्धन = विशेष वृद्धि करनेवाले। कोविद = विद्वान्। मंदात्म = पापी। दुराप = कठिनतासे प्राप्य। यत्र = जहाँसे। संभूत = उत्पन्न। दर्सनादेव = (दर्शनात् + एव) दर्शनसे अवश्यमेव। न्यामक = नियामक, कर्णधार, नियमोंके विधायक। नियंता = शासन करनेवाले।

भावार्थ—हे देव श्रीराम! आप सन्तोंका सन्ताप हरनेवाले, विश्वको विश्राम देनेवाले तथा शिवजीको आनन्द देनेवाले हैं। आप शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्द घन हैं और साधुजनोंका आनन्द बढ़ानेके लिए खर नामक दैत्यके शत्रु हैं ॥१॥ हे राम, आप शील और समताके घर, वैषम्य बुद्धिके नाशक, लक्ष्मीके पति तथा रावणके शत्रु हैं। आप अपने हाथोंमें तलवार और सुन्दर ढाल लिये रहते हैं; आप कवच धारण किये हुए हैं तथा सुन्दर कमरमें तरकस कसे हुए हैं। आप बाण, शक्ति और धनुष धारण करनेवाले हैं ॥२॥ आप सत्य-संकल्प, मोक्षदाता, सबके हितकारी, सर्व-गुण-सम्पन्न तथा ज्ञान-विज्ञानशाली हैं। आपका नाम अज्ञानरूपी सघन अन्धकारसे पूर्ण घोर संसाररूपी रात्रिका नाश करनेके लिए प्रचण्ड किरणोंसे युक्त सूर्यके समान है ॥३॥ आप तीक्ष्ण तेजवाले, प्रबल एवं तीव्र दुःखोंके नाशक, राजाका शरीर धारण करनेपर भी तपस्याकी मूर्त्ति, अविद्यासे परे और तपस्वी हैं। आप मान, मद, काम, मत्सर, कामना और मोहरूपी समुद्रको मथनेके लिए मन्दराचल पर्वत हैं; आप मनस्वी भी हैं ॥४॥ आप वेदोंमें विख्यात, वरदायी देवताओंके स्वामी, वामन, विरक्त, निर्मल, सरस्वतीके अधीश्वर, वैकुंठनाथ, काम-क्रोधादिके नाशक, क्षमाकी वृद्धि करनेवाले, शान्ति-मूर्त्ति और गरुडगामी हैं ॥५॥ आप परम पवित्र और पाप-पुंजरूपी मूँजके वनको अग्निके समान पलभरमें निर्मूल करनेवाले हैं। आप विश्व-ब्रह्माण्डके आभूषण, दूषण दैत्यके शत्रु, संसारके स्वामी, पृथिवीनाथ और वेदोंके मस्तक हैं। हे

विश्व-ब्रह्माण्डके अधीश्वर ! आपकी जय हो ॥६॥ आप मल-रहित, अविचल, कला-रहित, कलापूर्ण, कलिकालके तापसे तपे हुए प्राणियोंकी व्याकुलताका नाश करनेवाले तथा आनन्दकी राशि हैं। आप शेषनागके ऊपर सोते हैं, पूर्ण विकसित कमलके समान नेत्रवाले हैं, क्षीरसागरमें रहते हैं तथा सबमें निवास करते हैं ॥७॥ सिद्धों, कवियों, और विद्वानोंको आनन्द देनेवाले आपके जो दोनों चरण हैं, वे पापी मनुष्योंके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं। जहाँसे (आपके जिन चरणोंसे) उत्पन्न होकर अत्यन्त पवित्र जलवती गंगाजी अपने दर्शनमात्रसे मनुष्यके सब पापोंको हर लेती हैं ॥८॥ आप नित्य, मुक्त, दिव्य गुण-युक्त, तीनों गुणोंसे रहित आनन्द-स्वरूप, षडैश्वर्यवान्, नियामक और सबपर शासन करनेवाले हैं। आप संसारका भरण-पोषण करनेवाले, विश्वके आदि कारण और आधार तथा शरणागत तुलसीदासके भयको हरनेवाले हैं ॥९॥

विशेष

१—'अकल'—कला-रहित कहनेका यह अभिप्राय है कि परमात्मा (चन्द्रमा आदिकी तरह) घटते बढ़ते नहीं।

२—'सकल'—कला-सहित कहनेका यह आशय है कि परमात्मा सोलहो कला युक्त अर्थात् पूर्ण तेज-स्वरूप हैं।

(५६)

देव—
दनुजसूदन, दयासिन्धु, दम्भापहन,
दहन, दुर्दोष, दुष्पापहर्त्ता।
दुष्टतादमन, दमभवन, दुःखौघहर,
दुर्ग दुर्वासना नासकर्त्ता ॥१॥
भूरिभूषन, भानुमंत, भगवंत, भव-
भंजनाभयद, भुवनेसभारी।
भावनातीत, भववंद्य, भवभक्तहित,
भूमिउद्धरन, भूधरन-धारी ॥२॥

वरद, वनदाभ, वागीस, विस्वातमा,
विरज, वैकुंठ-मन्दिर-बिहारी ।
व्यापकं व्योम, वंदारु, वामन, विभो,
ब्रह्मविद्, ब्रह्म, चिंतापहारी ॥३॥
सहज सुंदर, सुमुख, सुमन, सुभ सर्वदा,
सुद्ध सर्वज्ञ, स्वछंदचारी ।
सर्वकृत, सर्वभृत, सर्वजित, सर्वहित,
सत्य-संकल्प, कल्पांतकारी ॥४॥
नित्य, निर्मोह, निर्गुन, निरंजन,
निजानंद निर्वान, निर्वानदाता ।
निर्भरानंद, निःकंप, निःसीम, निर्मुक्त,
निरुपाधि, निर्मम, विधाता ॥५॥
महामंगलमूल, मोद-महिमायतन,
मुग्ध-मधु-मथन, मानद, अमानी ।
मदनमर्दन, मदातीत, मायारहित,
मंजु मानाथ, पाथोज-पानी ॥६॥
कमल-लोचन, कलाकोस, कोदंडधर,
कोसलाधीस, कल्यानरासी ।
जातुधान-प्रचुर मत्तकरि-केसरी,
भक्तमन-पुन्य-आरन्यवासी ॥७॥
अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज,
अमित, अविकार आनंदसिंधो ।
अचल, अनिकेत, अविरल, अनामय,
अनारंभ, अंभोदनादहन-बंधो ॥८॥
दास तुलसी खेद खिन्न, आपन्न इह,
सोक-संपन्न, अतिसय सभीतं ।
प्रनत पालक राम, परम करुनाधाम,
पाहि मामुर्विपति, दुर्विनीतं ॥९॥

शब्दार्थ—दुर्दोष = बुरे ऐब, बड़े दुर्गुण । दमभवन = बाह्येन्द्रिय निग्रह । दुःखौघहर = दुःख-समूहको हरनेवाले । भूरि = बहुत । भुवनेस = ब्रह्मा आदि । भव = शिवजी । मुग्ध = मूढ़ । मानाथ = (मा + नाथ) लक्ष्मीके पति । पानी = पाणि, हाथ । अनिकेत = गृहरहित । अनामय = रोगादि रहित । अंभोदनाद = मेघनाद । मामुर्विपति = (माम् + उर्वि + पति) पृथिवीपति मुझे ।

भावार्थ—हे देव ! आप दैत्योंके नाशकर्ता, दयाके समुद्र, दम्भ-विनाशक, महान्-दोषोंको भस्म करनेवाले तथा महान्-पापोंको हरनेवाले हैं । आप दुष्टताका दमन करनेवाले, इन्द्रिय-निग्रहके स्थान (जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ); दुःखसमूहको हरने-वाले और कठिन दुर्वासनाओंके नाशकर्ता हैं ॥१॥ आप बहुत-से आभूषणोंको धारण करनेवाले, सूर्यके समान प्रभावान्, ऐश्वर्यवाले, संसारके जन्म-मरणका भंजन करके अभयवर देनेवाले तथा ब्रह्मा आदिसे भी बड़े हैं । आप भावनाओं-से परे, शिवजी द्वारा वन्दनीय, शिवभक्तोंके हितकारी, पृथिवीका उद्धार करनेवाले तथा गिरिवर-(गोवर्द्धन) धारी हैं ॥२॥ हे विभो ! आप वरदाता, मेघकी आभा-वाले, वाणीसे परे, विश्वकी आत्मा, विरक्त, वैकुण्ठ-मन्दिर-विहारी, आकाशकी तरह घट-घटमें व्यापक, वन्दनीय, वामन, ब्रह्म (वेद) वेत्ता, साक्षात् ब्रह्म, और चिन्ताओंको दूर करनेवाले हैं ॥३॥ आप सहज (स्वाभाविक ही) सुन्दर हैं, आपका सुन्दर मुख है और मन भी सुन्दर है। आप सदैव मंगलरूप, शुद्ध, और सर्वज्ञ तथा स्वच्छन्द विचरण करनेवाले हैं । आप सब कुछ करनेवाले, सबका भरण-पोषण करनेवाले, सर्वजित्, सबके हितू, सत्य-संकल्प तथा प्रलय करनेवाले हैं ॥४॥ आप नित्य हैं, मोह-रहित हैं, निर्गुण हैं, निरंजन हैं, अपनेमें ही आनन्द करनेवाले हैं, मोक्ष-स्वरूप हैं और मुक्तिदाता हैं । आप पूर्ण आनन्दरूप, अचल, मर्यादा-रहित, सर्वदा मुक्त, उपाधि-रहित तथा सबके विधानकर्ता या उत्पादक हैं ॥५॥ आप बड़े-बड़े कल्याणोंके आदिकारण, आनन्द और महिमाके घर, मूढ़ मधु दैत्यको मारनेवाले, सम्मानदाता तथा स्वयं मान-रहित हैं। आप कामदेवके नाशक, मदसे परे, माया-रहित, मनोहारिणी लक्ष्मीजीके स्वामी तथा हाथमें कमल लिये रहनेवाले हैं ॥६॥ आप कमलनेत्र हैं, कलाओंके भाण्डार हैं, धनुषधारी कोशलाधीश हैं, कल्याण-राशि हैं, अगणित राक्षसरूपी मतवाले हाथियोंके लिए सिंह हैं तथा भक्तोंके मनरूपी पवित्र वनमें निवास करनेवाले

हैं ॥७॥ हे आनन्दसिन्धो ! आप पाप-रहित, अद्वैत, दूषण-रहित, अव्यक्त, अजन्मा, अमित तथा पट्विकार-रहित हैं। हे मेघनादको मारनेवाले लक्ष्मणजीके भ्राता ! आप अचल, गृह-रहित, अविरल, रोगादि-रहित तथा अनादि हैं ॥८॥ सांसारिक दुःखोंसे खिन्न हुआ यह तुलसीदास शोकसे परिपूर्ण तथा अत्यन्त भयभीत हो रहा है। हे प्रणत-पालक श्रीरामजी ! आप परम कारुणिक हैं। हे पृथिवीनाथ ! मुझ दुर्विनीतकी रक्षा कीजिये ॥९॥

विशेष

१—'भूधरनधारी'—जिस समय देवराज इन्द्रने कुपित होकर व्रजपर मूसलधार वृष्टि की थी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गो-गोपोंकी रक्षा करनेके लिए गोवर्द्धन पर्वतको छत्रकी भाँति अँगुलीपर उठाकर उनकी रक्षा की थी। तभीसे श्रीकृष्णका नाम गिरिधारी पड़ गया। गोस्वामीजीने श्रीरामको भूधरन-धारी कहकर रामावतार और कृष्णावतारमें अभेद सिद्ध किया है।

(५७)

देव—
देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग !
भव भंग कारन सरन-सोकहारी।
ये तु भवदंघ्रिपल्लव-समाश्रित सदा,
भक्तिरत, विगतसंसय, मुरारी ॥१॥
असुर-सुर, नाग-नर, जच्छ-गन्धर्व खग,
रजनिचर, सिद्ध, ये चापि अन्ने।
संत-संसर्ग त्रैवर्गपर परमपद,
प्राप्य निःप्राप्यगति त्वयि प्रसन्ने ॥२॥
वृत्र, बलि, बान, प्रहलाद, मय, व्याध, गज,
गृद्ध, द्विजबन्धु, निजधर्म-त्यागी।
साधुपद-सलिल निर्धूत-कल्मष सकल,
स्वपच-जवनादि कैवल्य-भागी ॥३॥

संत निरपेच्छ, निर्मम, निरामय, अगुन,
सब्द ब्रह्मैकपर, ब्रह्मज्ञानी।
दच्छ, समदृक, स्वदृक, विगत अति स्वपर मति,
परमरति विरति तव चक्रपानी ॥४॥
विस्व उपकारहित व्यग्र चित सर्वदा,
त्यक्त मदमन्यु, कृत पुन्यरासी।
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि
सहित गच्छन्ति छीराब्धिवासी ॥५॥
वेद-पयसिंधु, सुविचार मंदर महा,
अखिल-मुनिवृंद निर्मथनकर्ता।
सार सतसंगमुद्धृत्य इति निश्चितं
वदति श्रीकृष्ण वैदर्भि भर्ता ॥६॥
सोक-संदेह, भय-हर्ष, तम-तर्षगन
साधु-सद्युक्ति विच्छेदकारी।
जथा रघुनाथ-सायक निसाचर-चमू-
निचय-निर्दलन-पटु वेग भारी ॥७॥
यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मबस,
भ्रमत जगजोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति-सज्जन, समागम, सदा
भवतु मे राम विस्राममेकम् ॥८॥
प्रबल भव-जनित त्रैव्याधि-भैषज भगति,
भक्त भैषज्यमद्वैत दरसी।
संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं,
किमपि मति मलिन कह दासतुलसी ॥९॥

शब्दार्थ—श्रीरंग = भगवान्‌का नाम है, वृन्दावनमें श्रीरंगजीका मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। भवदंघ्रि = (भवत्+अंघ्रि) आपके चरण। चापि = (च+अपि) और भी। अन्ये = दूसरे। त्रैवर्गपर = त्रिवर्ग यानी अर्थ, धर्म, कामसे परे। द्विज = अजामिल। निर्धूत = स्वच्छ, धुला हुआ। समदृक = समभावसे देखनेवाला। स्वदृक = आत्मदर्शी। मदमन्यु = अहंकार और

क्रोध। तिष्ठन्ति = रहते हैं। तत्रैव = वहीं। अज = ब्रह्मा। सर्व = शर्व, शिव। पय = दूध। उद्धृत्य = निकालकर। वैदर्भि = रुक्मिणी। भर्ता = पति। तर्पजन = वासनाएँ। चमू = सेना। भैषज्य = वैद्य।

भावार्थ—हे देव श्रीरंगजी! मुझ शरणागतको अपना अंग-स्वरूप सत्संग दीजिये, क्योंकि वह संसार-चक्रसे छुड़ानेवाला तथा शोकका हरनेवाला है। हे मुरारी! जो लोग सदा आपके चरण-पल्लवके भरोसे रहते हैं और आपके चरणोंकी भक्तिमें रत रहते हैं, वे संशयमुक्त हो जाते हैं ॥१॥ दैत्य, देवता, नाग, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, पक्षी, राक्षस, सिद्ध तथा और भी जितने दूसरे जीव हैं, वे सब सन्तोंके संसर्गसे अर्थ, धर्म, कामसे परे उस अप्राप्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं, जो केवल आपके ही प्रसन्न होनेपर मिलता है ॥२॥ वृत्रासुर, बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, मय, धर्म नामक व्याध, गजेन्द्र, गिद्ध (जटायु) स्वधर्मत्यागी अजामिल, चांडाल, यवन आदि (पापी) सन्तोंके चरणोदकसे अपने सब पापों-को धोकर कैवल्य पदके अधिकारी हो गये ॥३॥ जो शान्त, निरपेक्ष (आकांक्षा-रहित), मोह-ममतारहित, काम-क्रोधरूपी रोगसे रहित, त्रिगुणरहित केवल शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोंमें परायण और ब्रह्मज्ञानी हैं, जो (ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदिमें) कुशल समदर्शी, आत्मदर्शी या अपनी-परायी बुद्धिसे बिल्कुल मुक्त हैं, हे चक्रपाणे! जिनमें आपके प्रति परम भक्ति और संसारके प्रति विरक्तिका भाव है ॥४॥ जो संसारके उपकारार्थ सदा व्यग्र-चित्त हैं, मद और क्रोधको त्यागकर पुण्य-राशि हैं, ऐसे महात्मा जहाँ रहते हैं, वहीं ब्रह्मा और शिवके सहित क्षीर-सागरवासी भगवान् विष्णु पहुँच जाते हैं ॥५॥ चारों वेद दुग्ध-समुद्र हैं, उनका उत्तम विचार मन्दराचल पर्वत है और समस्त मुनियोंका समूह उसे मथनेवाला है। मथनेपर सत्संगरूपी सार (अमृत) निकला। यह सिद्धान्त रुक्मिणीपति भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं ॥६॥ साधुओंकी अच्छी युक्तियाँ शोक, सन्देह, भय-हर्ष, अज्ञान और वासनाओंको इस प्रकार विच्छिन्न कर देती हैं, जैसे रघुनाथजी-के बाण राक्षसोंकी सेनाके समूहको नष्ट करनेमें कुशल और महान् वेगवान हैं ॥७॥ हे देव श्रीरामजी! अपने कर्मानुसार संसारकी अनेक संकटापन्न योनियोंमें घूमता हुआ जहाँ कहीं भी मेरा जन्म हो, वहाँ आपकी भक्ति और सन्तोंका समागम मुझे सदा प्राप्त हो; बस यही मेरा प्रधान विश्राम हो ॥८॥ घोर संसार

जन्म-रूपी त्रिविध रोगोंके लिए भक्ति ही दवा है और अद्वैतदर्शी अर्थात् परमेश्वर-के सिवा दूसरा कोई भी पदार्थ न देखनेवाला भक्त (साधु) ही वैद्य है। मलिनबुद्धि तुलसीदास कहता है कि सन्त और भगवान्‌में कभी किंचित् भी भेद नहीं है ॥९॥

विशेष

१—'वृत्रासुर' नामक असुर बड़ा प्रतापी और परमभक्त था। इसका वध करनेके लिए देवता लोग दधीचिके पास उनकी हड्डी माँगने गये थे और उस परमदानी ऋषिने देवलोकके उपकारार्थ अपने शरीरका त्याग किया था। उनकी एक हड्डीसे इन्द्रका वज्र बना था और उसीसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था।

२—'बाणासुर'—राजा बलिका पुत्र था। इसके हजार भुजाएँ थीं। यह शिवभक्त था। इसकी पुत्री ऊषा स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धका रूप देखकर मोहित हो गयी थी। उसने अपनी सखी चित्रलेखा द्वारा पता लगाकर अनिरुद्धको अन्तःपुरमें बुला लिया। यह बात मालूम होते ही बाणा-सुरने उन्हें कैद कर लिया। इसके लिए बाणासुर और श्रीकृष्णमें घोर संग्राम हुआ। इस युद्धमें बाणासुरकी ओरसे शिवजी भी लड़े थे। जब बाणासुरके सब हाथ कट गये, सिर्फ चार हाथ शेष रहे, तब वह ईश्वर-भक्त हो गया। शिवजीके अनुरोधसे भगवान्‌ने उसे अभय कर दिया। यह कथा श्रीमद्भागवतमें है।

३—'मय' नामक दैत्यके कला-कौशलकी प्रशंसा महाभारत,रामायण आदि ग्रंथोंमें मिलती है। लंकाका निर्माण इसीने किया था। महाभारतकालीन इन्द्र-प्रस्थके अपूर्व नगरका निर्माता भी यही था। यह ईश्वरका भक्त था।

४—'द्विजबन्धु' अजामिलके लिए आया है। यह बड़ा पापी ब्राह्मण था। इसके छोटे लड़के का नाम नारायण था। मरते समय इसने भयभीत होकर अपने पुत्रको 'नारायण' कहकर पुकारा था। इससे उसका उद्धार हो गया।

५—'जवनादि'—४६ पदके विशेषमें देखिये।

६—'संत भगवंत' सन्त-महिमापर सुन्दर कविने खूब कहा है:—

साँचो उपदेश देत भली भली सीख देत समता सुबुद्धि देत कुमति हरतु हैं।
मारग दिखाय देत भावहु भगति देत प्रेमकी प्रतीति देत अभरा भरतु हैं॥

ज्ञान देत ध्यान देत आतम विचार देत ब्रह्मको बताइ देत ब्रह्म में चतुर हैं।
सुन्दर कहत जग संत कछु देत नाहीं संतजन निसिदिन देबोई करतु हैं॥

(५८)

देव—

देहि अवलंब करकमल, कमलारमन,
दमन-दुख, समन-संतापभारी।
अज्ञान-राकेस-ग्रासन विधुंतुद गर्व-
काम-करिमत्त-हरि, दूषनारी ॥१॥
वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग,
रचित मन दनुज मय-रूपधारी।
विविध कोसौघ, अति रुचिर मंदिर-निकर,
सत्वगुन प्रमुख त्रैकटककारी ॥२॥
कुनप-अभिमान सागर भयंकर घोर,
विपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल,
संग-संकल्प बीची-विकारं ॥३॥
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहँकार,
पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट,
क्रोध पापिष्ट विबुधांतकारी ॥४॥
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट,
दर्प-मनुजाद मद-सूलपानी।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर-निकर,
सहित षड्वर्ग गो-जातुधानी ॥५॥
जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषन बसत,
मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम-यम सकल सुरलोक-लोकेस,
लंकेस-वस नाथ! अत्यंत भीता ॥६॥

ज्ञान-अवधेस-गृह-गेहिनी भक्ति सुभ,
तत्र अवतार भूभार-हर्ता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य कृत
गमन किय गहन वैदेहि-भर्ता ॥७॥

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट, विपुल
ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधिसेतू।
प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन-तनय,
विषय वन भवनमिव धूमकेतू ॥८॥

दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दासहित,
विस्वदुख - हरन बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा,
दास तुलसी - हृदय - कमलवासी ॥९॥

शब्दार्थ—विधुंतुद = राहु। हरि = सिंह। कोसौघ = (कोश + ओघ) कोश समूह। कुनप = शरीर। अवगाह = अथाह। नक्र = मगर। संग = आसक्ति। संकुल = समूह। बीची = लहर। दसमौलि = रावण। तद्भ्रात = उसका भ्राता, कुम्भकर्ण। पाकारिजित = इन्द्रको जीतनेवाला, मेघनाद। विबुधांतकारी = देवान्तक राक्षस। षड्वर्ग = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। जातुधानी = राक्षसी। दुष्टाटवी = दुष्टोंका वन, दुष्ट-समुदाय। गहन = वन। मर्कट = वानर। प्रभंजन = वायु। तनय = पुत्र। बोधैक = मुख्य ज्ञान। अनुज = भाई (लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न)।

भावार्थ—हे देव लक्ष्मीपते! आप दुःखोंका नाश करनेवाले तथा महान् सन्तापोंको दूर करनेवाले हैं। मुझे अपने हस्तकमलका सहारा दीजिये। आप अज्ञानरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके लिए राहु हैं, गर्व और कामरूपी मतवाले हाथियों-के लिए सिंह तथा दूषण नामक असुरके शत्रु हैं ॥१॥ शरीररूपी ब्रह्माण्डमें प्रवृत्ति ही (अनेक विषयोंका ग्रहण ही) लंकाका किला है। मनरूपी मय दैत्यने इस प्रवृत्तिरूपी किलेका निर्माण किया है। इसमें जो अनेक कोष हैं, वे ही अत्यन्त सुन्दर मकान हैं और सत्त्व, रज, तम, ये तीनों प्रमुख सेनापति हैं ॥२॥ देहाभिमान ही भयंकर, कठिन, विपुल (अत्यन्त), अथाह, दुस्तर और अपार समुद्र है। उसमें राग-द्वेषादिसे पूर्ण जो मनोरथ हैं, वे ही जल-जन्तु (मगर,

घड़ियाल आदि) हैं और आसक्तिके संकल्प-विकल्प ही विकार-(वायु) जन्य लहरे हैं ॥३॥ (इस भीषण लंकापुरीमें) मोह (अपने स्वरूपको भूल जाना) रूपी रावण है, अहंकार (आग्रह-बुद्धि) ही उसका भाई कुम्भकर्ण है और विश्रामको हरनेवाली काम-चेष्टा ही मेघनाद है। लोभ ही अतिकाय (राक्षस) है, मत्सर ही दुष्ट महोदर है, क्रोध ही महापापी देवान्तक है ॥४॥ द्वेष ही दुर्मुख है, दम्भ ही खर है, कपट ही अकम्पन है, दर्प ही मनुजाद है और मद ही शूलपाणि है। ये सब अमित बलशाली और कठिनतासे जीतने योग्य हैं। इस षड्वर्ग निशाचरोंके समूहके साथ दस इन्द्रियरूपी राक्षसियाँ हैं। (अर्थात् लोभादिरूपी असुरोंका रमण इन्द्रियरूपी स्त्रियोंमें होता है; इसीसे इन्द्रियों को राक्षसी कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें ही लोभादिकका विलास हुआ करता है।) ॥५॥ हे नाथ! यह जीव ही आपके चरणोंका सेवक विभीषण है। यह बेचारा दुष्टोंके जंगलमें चिन्ताग्रस्त भावसे निवास कर रहा है। यम-नियमरूपी समस्त देवलोक और दिग्पाल इस रावणके अधीन होकर अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं ॥६॥ अतः जैसे आपने पृथिवीका भार उतारनेके लिए दशरथजीके यहाँ कौशल्याके गर्भसे अवतार लिया था, वैसे ही हे जानकीवल्लभ! ज्ञानरूपी दशरथके घरमें शुभ शक्तिरूपी कौशल्याके गर्भसे प्रकट होइये और जैसे भक्तोंका कष्ट देखकर पिताकी आज्ञासे आप उस समय वनमें पधारे थे वैसे ही इस बार मेरे हृदयरूपी वनमें पधारिये ॥७॥ मोक्षके साधनोंको ही सम्पूर्ण रीछ बन्दरोंके समूह बनाकर ज्ञान (शास्त्रजन्य साधन) रूपी सुग्रीवको संगमें लेकर इनकी सहायतासे (देहाभिमान-रूपी) समुद्रका पुल बाँध दीजिये। फिर तो प्रबल वैराग्यरूपी महापराक्रमी पवनकुमार हनुमान्‌जी विषय (रस-गन्धादि) रूपी वन और महलोंके लिए अग्निके समान हो जायँगे ॥८॥ हे बोध-स्वरूप श्रीरामजी! हे संसारका दुःख दूर करनेवाले! दासके लिए दुष्ट दैत्योंका निर्वंश करके तुलसीदासके हृदय-कमलमें अपने छोटे भाइयों और जानकीजीके सहित सदैव निवास कीजिये प्रभो! ॥९॥

विशेष

१—'वपुष ब्रह्मांड'—जिन पचीस तत्त्वोंसे शरीरकी रचना हुई है, उन्हीं तत्त्वोंसे ब्रह्मांडकी भी; इसीसे 'वपुष' को ब्रह्मांड कहना सर्वथा सार्थक है।

२—'विविध कोसौघ'-कोश पाँच हैं:—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय।

३—'संग संकल्प'—संग अर्थात् आसक्तिसे ही सब दोष उत्पन्न होते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि संगसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे विनाश होता है।

४—इस समस्त पदमें गुसाईंजीका रूपक अलंकार सर्वथा सांगोपांग है।

(५९)

देव—

दीन-उद्धरन रघुवर्य करुना भवन,
समन-संताप, पापौघहारी।
विमल विज्ञान-विग्रह, अनुग्रहरूप,
भूपवर, विबुध-नर्मद, खरारी ॥१॥
संसार-कांतार अति घोर, गंभीर, घन,
गहन तरुकर्म-संकुल, मुरारी।
वासना बल्लि खर-कंटकाकुल विपुल,
निबिड़ विटपाटवी कठिन भारी ॥२॥
विविध चितवृत्ति-खग-निकर श्येनोलूक,
काक बक गृध्र आमिष-अहारी।
अखिल खल, निपुन छल, छिद्र निरखत सदा,
जीवजन पथिक मन-खेदकारी ॥३॥
क्रोध करिमत्त, मृगराज कंदर्प, मद-
दर्प वृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकर रूप,
फेरु छल, दंभ मार्जारधर्मा ॥४॥
कपट मर्कट विकट, व्याघ्र पाखण्ड मुख,
दुखद मृगव्रात, उत्पातकर्ता।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं,
पाहि मां पाहि, भो विस्वभर्ता ॥५॥

प्रबल अहँकार दुरघट महीधर, महा-
मोह गिरि-गुहा निबिड़ांधकारं ।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन,
रोग भोगौघ वृश्चिक-विकारं ॥६॥
विषय-सुख-लालसा दंस-मसकादि, खल
झिल्लि रूपादि सब सर्प, स्वामी ।
तत्र आक्षिप्त तव विषम माया नाथ,
अंध मैं मंद, व्यालादगामी ॥७॥
घोर, अवगाह भव आपगा पाप जल-
पूर, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर, अपारा ।
मकर षड्वर्ग, गोनक्र-चक्राकुला,
कूल सुभ-असुभ, दुख तीव्र धारा ॥८॥
सकल संघट पोच सोचबस सर्वदा,
दास तुलसी विषम गहन-ग्रस्तं ।
त्राहि रघुबंस-भूषन कृपाकर, कठिन
काल बिकराल-कलित्रास-त्रस्तं ॥९॥

शब्दार्थ—नर्मद = सुख देनेवाले । कांतार = वन । खर = तीक्ष्ण,नुकीले । श्येनोलूक = (श्येन + उलूक) बाज और उल्लू । आमिष = मांस । छिद्र = दोष । खेद = दुःख । कंदर्प = कामदेव । वृक = भेड़िया, हुँडार । महिष = भैंसा । फेरु = सियार । मार्जार = बिल्ली, बिलाव । व्रात = समूह । मनुजाद = नरभक्षक, मनुष्यको खानेवाला । वृश्चिक = बिच्छू । आक्षिप्त = फेंक दिया है । आपगा = नदी । कूल = किनारा । पोच = नीचा । संघट = एकत्र । त्रास = भय ।

भावार्थ—हे देव ! आप दीनोंका उद्धार करनेवाले, रघुकुलमें श्रेष्ठ, करुणा-निधान, सन्तापोंका शमन करनेवाले तथा पाप-समूहको हर लेनेवाले हैं । आप विमल विज्ञान-शरीरवाले, कृपाके रूप, राजाओंमें श्रेष्ठ, देवताओंको सुख देनेवाले तथा खर नामक दैत्यके शत्रु हैं ।।१।। हे मुरारी ! यह संसाररूपी वन बड़ा ही घोर, गम्भीर और सघन है । यह वन गहन कर्मरूपी वृक्षोंसे व्याप्त है । वासनाएँ ही लताएँ हैं और (इच्छा पूर्ण न होनेके कारण उत्पन्न हुई) व्याकुलता ही तीक्ष्ण काँटा-रूप है । यह कर्मरूपी वृक्षोंका वन बहुत बड़ा, कठिन तथा सघन

है ॥२॥ इसमें जो नाना प्रकारकी चित्त-वृत्तियाँ हैं, वे ही बाज, उल्लू, कौए, बगुले, गीध आदि मांसाहारी पक्षियोंके समूह हैं। ये सब बड़े दुष्ट और छल करनेमें कुशल हैं। ये सदैव छिद्र देखा करते हैं और जीवरूपी बटोहियोंके मनमें खेद उत्पन्न करनेवाले हैं ॥३॥ (इस संसार-वनमें) क्रोधरूपी मतवाले हाथी, कामरूपी सिंह, मदरूपी हुँड़ार और गर्वरूपी रीछ ये सब बड़े ही उग्र कर्मवाले हैं। यहाँ मत्सररूपी क्रूर भैंसा, लोभरूपी शूकर और दम्भरूपी बिल्ली है ॥४॥ कपटरूपी विकट बन्दर हैं, पाखंडरूपी बाघ है जो कि मृगसमूहको दुःख देनेवाला तथा उत्पात करनेवाला है। हे प्रभो! हृदयमें यह कष्ट देखकर आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥५॥ इस संसार-वनमें प्रबल अहंकाररूपी दुर्घट पर्वत है और उसमें महामोहरूपी सघनान्धकार-पूर्ण पर्वत-गुफा है। यहाँ त्तिरूपी बेताल, मनरूपी नर-भक्षक दैत्य, रोग-स्वरूप प्रेतसमूह, भोग-समूहरूपी बिच्छू, विषय-सुखकी लालसारूपी मक्खियाँ और मच्छर हैं; दुष्ट ही झिल्ली हैं और पंचज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय रूप-रसादि ही सर्प हैं। हे नाथ! हे गरुडगामी! तुम्हारी विषम मायाने वहाँ मुझ अन्धे और बुद्धिहीनको लाकर डाल दिया है ॥७॥ इस संसारमें पापरूपी जलसे परिपूर्ण (प्रवृत्तिरूपी) नदी है; यह घोर और अगाध नदी कठिनतासे देखने योग्य, मुश्किलसे पार करने योग्य तथा अपार (ओर-छोर-रहित) है। इसमें काम-क्रोधादिरूपी मगर, इन्द्रियरूपी घड़ियाल और भँवर भरे हुए हैं। इस नदीके शुभ और अशुभ कर्मरूपी दोनों किनारे हैं तथा दुःखरूपी तीव्र धारा है ॥८॥ विषम-वन-ग्रस्त तुलसीदास ऊपर कहे हुए नीचोंके जमघटसे सदैव चिन्तित रहता है। हे कृपाकी खानि रघुवंश-भूषण! इस कठिन समयमें विकराल कलियुगके भयभीत मेरी रक्षा कीजिये ॥९॥

विशेष

१—इसमें रूपक अलङ्कार है। गोस्वामीजी बहुत ही सुन्दर रूपक बाँधते थे। ऊपरके ही पदमें देखिये, संसारवनमें वृक्ष, लता, काँटे, अनेक प्रकारके पक्षी, अनेक तरहके दुष्ट तथा हिंस्र जीव इत्यादि सब-कुछ दिखलाया गया है। इतना ही नहीं, जिस वस्तुका जिस वस्तुसे रूपक बाँधा गया है, उसमें उसके लक्षण

भी खूब हैं। जैसे, कामको सिंह कहा गया है। आशय यह है कि जिस प्रकार सिंह सब पशुओंका नाश करता है, वैसे ही कामकी प्रबलतासे सब गुण नष्ट हो जाते हैं। कर्मोंकी उपमा वृक्षोंके साथ दी गयी है। जिस प्रकार वृक्ष अनेक प्रकारके होते हैं उसी प्रकार कर्मके भेद भी कई प्रकारके हैं, जैसे कर्म, अकर्म और विकर्म; अथवा संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण; अथवा सकामकर्म और निष्काम कर्म आदि। मत्सर को 'क्रूर महिष' कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार भैंसा किसीको व्यर्थ ही मारता है, पर मांस नहीं खाता, उसी प्रकार मत्सर-स्वभाव भी किसीका भला नहीं देखता। वह अपना कुछ भी लाभ न रहनेपर भी दूसरोंका अहित करता है। मनन करनेपर पाठकोंको प्रत्येक रूपकमें इसी प्रकारकी सार्थकता दिखलाई पड़ेगी।

२—'रूपादि सब सर्प'—जिस प्रकार सर्प प्राणनाशक है, उसी प्रकार शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषय भी। जिन इन्द्रियोंके ये शब्दादि विषय हैं, उन इन्द्रियोंके सम्बन्धमें किसी विद्वान्‌ने क्या ही सुन्दर कहा है—

> पतंगमीनेभमृगालयोलयं प्रयान्ति पंचेन्द्रियपंचगोचरैः।
> मयातु तत्पंचकमेव सेव्यते गतिर्न जाने मम का भविष्यति॥
>
> एते च जि क्षणनासिकाद्यश्चौरास्तु सश्वन् मम देहवासिनः।
> लुम्पन्ति सर्वात्मधनं प्रमाथिनो नाद्यप्यवेक्ष्ये मम पश्यताम्यताम्॥

३—'व्यालादगामी' कहनेका अभिप्राय यह है कि मैं रूप-रसादिरूपी सर्पोंके बीचमें पड़ा हुआ हूँ, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये; क्योंकि आप सर्पको भक्षण करनेवाले गरुडपर चढ़कर चलनेवाले हैं।

(६०)

देव—

नौमि नारायनं, नरं करुनायनं,
ध्यान-पारायनं, ज्ञान-मूलं।
अखिल संसार-उपकार-कारन, सदय
हृदय, तपनिरत, प्रनतानुकूलं॥१॥

स्याम नव तामरस-दामद्युति वपुष, छवि-
कोटि मदनार्क अगनित प्रकासं।
तरुन रमनीय राजीव-लोचन ललित,
वदन राकेस, कर-निकर हासं ॥२॥
सकल सौंदर्य-निधि, विपुल गुनधाम, विधि-
वेद-बुध-संभु-सेवित, अमानं।
अरुन पदकंज-मकरंद मंदाकिनी,
मधुप-मुनिवृंद कुर्वन्ति पानं ॥३॥
सक्र-प्रेरित घोर मदन मद-भंगकृत
क्रोधगत, बोधरत, ब्रह्मचारी।
मारकंडेय मुनिवर्यहित कौतुकी,
बिनहि कलपांत प्रभु प्रलयकारी ॥४॥
पुन्य बन सैलसरि बदरिकाश्रम, सदा-
सीन पद्मासनं, एक रूपं।
सिद्ध-योगीन्द्र-वृन्दारकानन्दप्रद,
भद्रदायक दरस अति अनूपं ॥५॥
मान मनभंग, चितभंग मद, क्रोध
लोभादि पर्वत दुर्ग, भुवन-भर्त्ता।
द्वेष-मत्सर-राग प्रबल प्रत्यूह प्रति,
भूरि निर्दय, क्रूर-कर्म-कर्त्ता ॥६॥
विकटतर वक्र छुरधार प्रमदा, तीव्र
दर्प कंदर्प खर खड्गधारा।
धीर-गंभीर-मन-पीर-कारक, तत्र
के वराका वय विगत सारा ॥७॥
परम दुर्घट पंथ, खल-असंगत साथ,
नाथ, नहिं हाथ वर विरति-यष्टी।
दर्सनारत दास, त्रसित माया-पास,
त्राहि हरि, त्राहि हरि, दास-कष्टी ॥८॥

दास तुलसी दीन धम-संबल हीन,
स्रमित अति खेद, मति मोह नासी।
देहि अवलंब न विलंब अंभोज-कर,
चक्रधर तेजबल समरासी ॥९॥

शब्दार्थ—पारायन = सम्पूर्णता, तत्पर। सदय = दयालु। माला = माला। मदन = कामदेव। अर्क = सूर्य। कुर्वन्ति = करते हैं। सक्र = इन्द्र। प्रत्यूह = विघ्न। प्रति = प्रत्येक। वक्र = टेढ़ा। प्रमदा = स्त्री। तत्र = वहाँ। के = कौन, क्या। बराका = (वराक) गरीब। वय = हम। यष्टी = छड़ी, लाठी। पास = फन्दा। संबल = कलेवा, राह-खर्च। सर्म = (शर्म) कल्याण, सुख।

भावार्थ—हे देव! हे नर-नारायण! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप ध्यान-परायण (अपने ही स्वरूपका ध्यान करते) हैं और ज्ञानके कारण हैं। आप समस्त संसारका हित करनेवाले, दयालु हृदयवाले, तपस्यामें लीन रहनेवाले और भक्तोंपर रहम करनेवाले हैं ॥१॥ आपके शरीरकी कान्ति नवीन नीले कमलके समान है, शोभा करोड़ों कामदेवके समान है और तेज अनन्त सूर्यके समान है। आपके नेत्र पूर्ण विकसित कमलके समान रमणीय हैं और सुन्दर मुखकी मुसकान चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश है ॥२॥ आप सब प्रकारकी सुन्दरताके स्थान, अनन्त गुणनिधान और ब्रह्मा, वेद, पंडित तथा शिवजीके द्वारा सेवित होनेपर भी मान-रहित हैं। मुनि-वृन्दरूपी भौंरे आपके लाल कमलके समान चरणोंके मन्दाकिनीरूपी मकरन्दका पान करते हैं ॥३॥ आपने इन्द्रके भेजे हुए घोर कामदेवका मद चूर्ण किया है; आप क्रोध-रहित, ज्ञान-रत और ब्रह्मचारी हैं। हे प्रभो! आपने बिना कल्पान्तके ही मार्कण्डेय मुनिको दिखानेके लिए प्रलयकरी लीला की थी ॥४॥ आप पवित्र वन, पर्वत और नदी-संयुक्त बदरिकाश्रममें सदैव पद्मासन लगाये एकरूपसे बैठे रहते हैं। आपका अत्यन्त अनुपम दर्शन सिद्ध, योगीन्द्र और देवताओंके लिए आनन्दप्रद और कल्याणदायक है ॥५॥ हे भुवनेश्वर! (आपके बदरिकाश्रमके मार्गमें 'मनभंग' और 'चित्तभंग' नामक पर्वत हैं जिन्हें देखकर बड़े-बड़े साहसी भी हिम्मत हारकर हिचकने लगते हैं) यहाँ अभिमान ही 'मनभंग' है, और मद, क्रोध, लोभादि, 'चित्तभंग' आदि दुर्गम पर्वत हैं। द्वेष, मत्सर और राग ही प्रबल विघ्न हैं और

सबके सब बड़े निर्दय एवं क्रूर कर्म करनेवाले हैं ॥६॥ यहाँ तीव्र-हृदया कामिनी ही अत्यन्त विकट और टेढ़ा क्षुरधार नामक पर्वत है, तथा कामका गर्व ही तीक्ष्ण 'खड्गधार' पर्वत है; जब कि ये सामग्रियाँ धीर और गम्भीर पुरुषोंके मनको पीड़ा पहुँचानेवाली हैं, तो फिर ब्रह्महीन और गरीब हम लोग वहाँ क्या चीज हैं ? ॥७॥ हे नाथ ! आपके दर्शनका मार्ग बहुत ही दुर्घट है, तिसपर खलोंका अनुचित साथ पड़ गया है, हाथमें (टेकने या सहारेके लिए वैराग्यरूपी छड़ी भी नहीं है। आपके दर्शनके लिए आर्त्त यह दास मायाके फन्देमें पड़ा दुःख पा रहा है। इस दुखी सेवककी रक्षा कीजिये प्रभो ! रक्षा कीजिये नाथ ! ॥८॥ दीन तुलसीदासके पास धर्मरूपी कलेवा भी नहीं है, वह बिलकुल थक गया है, दुःख भी बहुत है; मोहने उसकी बुद्धि भी हर ली है। हे चक्रपाणे ! हे तेज, बल और आनन्द-राशि ! देर न करके मुझे अपने कर-कमलोंका सहारा दीजिये ॥९॥

विशेष

१—'नारायणं नरं'—नारायण नाम है विष्णुका। नार (जल)में जिसका घर हो उसे कहते हैं नारायण और 'नर' नाम है अर्जुनका। बदरिकाश्रममें ध्यानावस्थित नर नारायणकी प्रतिमा मौजूद है।

२—'मार्कण्डेय' ऋषिकी उग्र तपस्या देखकर भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगनेके लिए कहा। मार्कण्डेय मुनिने प्रलयका दृश्य देखनेकी इच्छा प्रकट की। परिणाम यह हुआ कि बिना कल्पान्तके ही भगवान्‌को प्रलय-लीला दिखानी पड़ी।

३—'मनभंग' या मानभंग, 'चित्तभंग', 'क्षुरधार' तथा 'खड्गधार' आदि पर्वत बदरिकाश्रमकी यात्राके मार्गमें पड़ते हैं। कई टीकाकारोंने इन शब्दोंका अर्थ करनेमें खूब अटकलसे काम लिया है।

(६१)

देव—

सकल सुखकंद, आनंद वन पुन्यकृत,
बिंदुमाधव द्वंद्व-विपतिहारी।

यस्यांघ्रिपाथोज अज-संभु-सनकादि, सुक-
सेष, मुनिवृंद अलि निलयकारी ॥१॥
अमल मरकत स्याम, काम सतकोटि छवि,
पीत पट तड़ित इव जलद नीलं ।
अरुन सतपत्र लोचन, विलोकनि चारु,
प्रनत जन-सुखद, करुनार्द्रसीलं ॥२॥
काल-गजराज-मृगराज, दनुजेस-वन-
दहन पावक, मोह-निसि-दिनेसं ।
चारि भुज चक्र-कौमोदकी-जलद-दर,
सरसिजोपरि जथा राजहंसं ॥३॥
मुकुट, कुंडल, तिलक, अलक अलिव्रात इव,
भृकुटि, द्विज, अधर वर, चारु नासा ।
रुचिर सुकपोल, दर ग्रीव सुख-सीव, हरि,
इंदुकर-कुंदमिव मधुर हासा ॥४॥
उरसि वनमाल सुविसाल नव-मञ्जरी,
भ्राज श्रीवत्स-लांछन उदारं ।
परम ब्रह्मन्य, अति धन्य, गतमन्यु, अज,
अमित बल, विपुल महिमा अपारं ॥५॥
हार केयूर, कर कनक कंकन रतन—
जटित मनि-मेखला कटि प्रदेसं ।
युगल पद नूपुरामुखर कलहंसवत्,
सुभग सर्वांग सौंदर्य वेसं ॥६॥
सकल सौभाग्य-संयुक्त त्रैलोक्य, श्री
दच्छि दिसि रुचिर वारीस-कन्या ।
वसत विबुधापगा निकट तट सदन वर,
नयन निरखंति नर तेऽति धन्या ॥७॥
अखिल मंगल-भवन, निविड़संसय समन,
दमन-वृजनाटवी, कष्टहर्त्ता ।

विस्वधृत, विस्वहित, अजित, गोतीत, सिव,
विस्वपालन-हरन, विस्वकर्त्ता ॥८॥
ज्ञान-विज्ञान वैराग्य-ऐश्वर्य-निधि,
सिद्धि अणिमादि दे भूरि दानं।
ग्रसित-भव व्याल अति त्रास तुलसीदास,
त्राहि श्रीराम उरगारि-यानं ॥९॥

शब्दार्थ—यस्यांघ्रि = (यस्य+अंघ्रि) जिसके चरण। निलय = निवास। मरकत = नीलमणि। सतपत्र = शतदल कमल। आर्द्र = भीगे हुए। पावक = अग्नि। दिनेस = सूर्य। कौमोदकी = गदा। दर = शंख। सरसिजोपरि = (सरसिज+उपरि) कमलके ऊपर। अलिव्रात = भ्रमर-समूह। द्विज = दाँत। लांछन = चिह्न। ग्रीव = गर्दन। ब्रह्मन्य = ब्राह्मणोंका सम्मान करनेवाले। मन्यु = क्रोध। केयूर = बिजायठ। मेखला = करधनी। मुखर = शब्दायमान। कल = सुन्दर। सुभग = सुन्दर। दच्छि = दक्षिण। वारीस = कन्या लक्ष्मी। वृजनाटवी = (वृजन+अटवी) पापरूपी वन।

भावार्थ—हे देव विन्दुमाधव, आप सब तरहका सुख बरसानेवाले मेघ हैं, आनन्दवन (काशी) को पवित्र करनेवाले तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्वात्मक विपत्तियों-को हरनेवाले हैं। आपके चरण-कमलोंमें ब्रह्मा, शिव, सनकादि, शुकदेव, शेष और मुनिरूपी भौंरे निवास करते हैं ॥१॥ आप निर्मल नीलमणिके समान श्यामल हैं, आपकी छवि सैकड़ों करोड़ कामदेवके समान है; आपका पीताम्बर नीले बादलमें बिजलीके समान है। आपके नेत्र लाल रंगके शतदल कमलके समान हैं; उन नेत्रोंकी सुन्दर चितवन भक्तोंको सुखी करनेवाली और करुणार्द्रशील है ॥२॥ आप कालरूपी हाथीके लिए सिंह हैं, राक्षसरूपी वनको जलानेके लिए अग्नि हैं, मोह-निशाको दूर करनेके लिए सूर्य हैं। आपके चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। आपके हाथमें शंख तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कमलके ऊपर राजहंस ॥३॥ मस्तकपर मुकुट, कानोंमें मकराकृत कुण्डल, माथेपर तिलक, भौंरोंके समूहके समान अलकें (लटें), बाँकी भौंहें, सुन्दर दाँत तथा ओठ, सुन्दर नासिका, मनोहर कपोल और शंखके समान ग्रीवा ये सब मानो सुखकी सीमा हैं। हे भगवन्! आपका मधुर हास चन्द्रकिरण एवं कुन्द-पुष्पके समान है ॥४॥ आपके हृदयपर नव-मंजरी-सहित विशाल वनमाला है और श्रीवत्सका सुन्दर

चिह्न सुशोभित हो रहा है। आप परम ब्रह्मण्य हैं, अत्यन्त धन्य हैं, क्रोध-रहित हैं, अजन्मा हैं, अमित बलशाली और अपार महामहिम हैं ॥५॥ आपके हृदयपर हार, भुजाओंपर बिजायट, हाथोंमें रत्नजटित स्वर्ण-कंकण, कमरमें मणियोंकी करधनी और दोनों चरणोंमें कलहंसके समान शब्द करनेवाले नूपुर हैं। आपका प्रत्येक अंग सुन्दर है और सारा वेष सौन्दर्यमय है ॥६॥ सब प्रकारके सौभाग्यसे युक्त, तीनों लोककी शोभा लक्ष्मीजी आपकी दाहिनी ओर सुशोभित हैं ! आप गंगाजीके समीप उनके तटपर ही सुन्दर मन्दिरमें निवास करते हैं। जो लोग आपका दर्शन करते हैं, वे अत्यन्त धन्य हैं ॥७॥ आप समस्त मंगलोंके घर, घोर संशयोंका शमन करनेवाले, पाप-रूपी वनको भस्म करनेवाले और कष्टोंको हरनेवाले हैं। आप विश्वको धारण करनेवाले, विश्वके हितू, अजेय, इन्द्रियातीत, कल्याणमूर्त्ति और संसारका सृजन, पालन एवं संहार करनेवाले हैं ॥८॥ आप ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यके खजाना हैं, अणिमादि अष्ट-सिद्धियोंका महादान देनेवाले हैं। हे गरुडगामी श्रीरामजी ! संसाररूपी सर्पसे ग्रसित इस तुलसीदासको बड़ा भय है, रक्षा कीजिये ॥९॥

विशेष

१—'दच्छिदिसि रुचिर वारीस कन्या'—परमात्माके प्रत्येक रूपके ध्यानमें शक्तिका ध्यान वाम भागमें किया जाता है; केवल विन्दुमाधवजीके ध्यानसे लक्ष्मीजीका वर्णन दाहिनी ओर किया गया है। आजकल काशीमें विन्दुमाधव-जीके मन्दिरमें लक्ष्मीजी बायीं ओर हैं; किन्तु यह प्रतिमा मसजिद बननेके बादकी है। गोस्वामीजीके समयमें लक्ष्मीजी दाहिनी ओर थीं। वह मूर्त्ति पड़ोसके एक ब्राह्मणके यहाँ है। मन्दिरपर मुसलमानोंका आक्रमण होनेके पहले उसके पूर्वज उन मूर्त्तियोंको अपने घर उठा ले गये थे। गोस्वामीजीका देहा-वसान जहाँगीर बादशाहके समयमें हुआ था और मन्दिर तोड़े गये थे औरंगजेबके शासनकालमें। उसी मन्दिरके स्थानपर धवरहरा बना हुआ है जो माधवरावके धवरहराके नामसे विख्यात है। यह विन्दुमाधवका मन्दिर तोड़कर बनवाया गया है। अब विन्दुमाधवका मन्दिर इस मसजिदके बगलमें है।

२—'द्विज'—दाँत दो बार निकलते हैं, इसीसे उन्हें द्विज कहते हैं।

राग-असावरी

(६२)

इहै परम फलु, परम बड़ाई।
नख-सिख रुचिर बिन्दुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई ॥१॥
बिसद किसोर पीन सुंदर बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई॥
नील कंज, बारिद, तमाल, मनि, इन्ह तनुते दुति पाई ॥२॥
मृदुल चरन सुभ चिन्ह, पदज, नख, अति अभूत उपमाई।
अरुन नील पाथोज प्रसव जनु, मनिजुत दल-समुदाई ॥३॥
जातरूप मनि-जटित मनोहर, नूपुर जन-सुखदाई।
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि, रहे बर भवन बनाई ॥४॥
कटितट रटति चारु किंकिन-रव, अनुपम, बरनि न जाई।
हेम जलज कल कलित मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई ॥५॥
उर बिसाल भृगुचरन चारु अति, सूचत कोमलताई।
कंकन चारु बिबध भूषन बिधि, रचि निज कर मन लाई ॥६॥
गज-मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदक निकाई।
जनु उडुगन-मंडल बारिदपर, नवग्रह रची अथाई ॥७॥
भुजगभोग-भुजदंड कंज, दर, चक्र, गदा बनि आई।
सोभासीव ग्रीव, चिबुकाधर, बदन अमित छबि छाई ॥८॥
कुलिस, कुंद-कुडमल, दामिनि-दुति, दसनन देखि लजाई।
नासा-नयन-कपोल, ललित श्रुति कुंडल भ्रू मोहिं भाई ॥९॥
कुंचित कच सिर मुकुट, भालपर, तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ, रहि तजि चंचलताई ॥१०॥
निर्मल पीत दुकूल अनूपम, उपमा हिय न समाई।
बहु मनिजुत गिरि नील सिखरपर, कनक-बसन रुचिराई ॥१०॥
दच्छ भाग अनुराग-सहित इंदिरा अधिक ललिताई।
हेमलता जनु तरु तमाल ढिग, नील निचोल ओढ़ाई ॥१२॥

सत सारदा सेष स्नुति मिलिकै, सोभा कहि न सिराई।
तुलसिदास मतिमंद द्वंद्वरत कहै कौन विधि गाई ॥१३॥

शब्दार्थ—अघाई = अघाकर, तृप्त होकर। बिसद = निर्मल। पीन = पुष्ट। पदज = पैरकी अँगुलियाँ। जातरूप = सुवर्ण। हेम = सुवर्ण। कल = सुन्दर। कलित = कली। गजमनि-माल = गजमुक्ताकी माला। पदक = रत्न। उडुगन = तारागण। अथाई = सभा। भुजगभोग = सर्पका शरीर। कुलिस = हीरा। कुडमल = कली। भाई = प्यारी लगती हैं, भाती हैं। कुंचित = घुँघराले। अलप = अल्प। दुकूल = वस्त्र। इंदिरा = लक्ष्मी। हेमलता = सुवर्ण-लता। निचोल = वस्त्र।

भावार्थ—इस शरीरका सबसे बड़ा फल और सबसे बढ़कर बड़प्पन यही है कि ये नेत्र तृप्त होकर भगवान् बिन्दुमाधवकी नखसे शिखतक मनोहर छविको देखें ॥१॥ वह निर्मल, किशोर, पुष्ट और सुन्दर शरीरवाले हैं, श्यामलतासे उनकी सुन्दरता और भी बढ़ गयी है। जान पड़ता है कि नीले कमल, मेघ, तमाल और (नीलम) मणिने इन्हींके शरीरसे कान्ति पायी है ॥२॥ इनके कोमल चरणोंमें शुभ चिह्न हैं, अँगुलियों और नखोंकी ऐसी अभूतपूर्व उपमा है मानो लाल और नीले कमलोंसे रत्न-संयुक्त पत्तोंका समूह उत्पन्न हुआ हो (अर्थात् ऊपर श्याम और नीचे लाल; क्योंकि भगवान्के चरणोंका ऊपरी भाग श्यामल है और तलवा लाल। यहाँ कमलदल सदृश अँगुलियाँ हुईं और उस दलके ऊपर जटित मणिके समान नख हैं। किन्तु न तो दो रंगका कमल होता है और न उसके पत्ते मणि-जटित ही होते हैं; बस यही 'अति अभूत उपमा' है ॥३॥ रत्नोंसे जड़े हुए मनोहर सुवर्णके नूपुर भक्तोंको आनन्द देनेवाले हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो शिवजीके हृदयमें विष्णु भगवान् अनेक रूप धारण करके श्रेष्ठ मन्दिर बनाकर निवास कर रहे हों ॥४॥ कमरमें सुन्दर करधनी जो रट लगाये रहती है, उसका शब्द ही अनुपम और वर्णनातीत है। ऐसा भान होता है मानो सुवर्णकी कलियोंके बीच भौरोंका गुंजार हो रहा हो ॥५॥ विशाल वक्षः-स्थलपर जो भृगु ऋषिका अत्यन्त सुन्दर चरण-चिह्न अंकित है, वह वक्षःस्थलकी कोमलता सूचित कर रहा है। कंकण आदि अनेक तरहके सुन्दर आभूषणोंको मानो ब्रह्माने दिल लगाकर अपने हाथसे बनाया है ॥६॥ गजमुक्ताकी मालाके बीचमें [illegible]नोंकी जो चौकी विराज रही है, उसकी अच्छाई नहीं कही जा सकती;

मानो मेघपर तारागणकी मंडलीके बीचमें नवग्रहोंकी सभा बैठी हो। (यहाँ नीले मेघके समान भगवान्‌का शरीर है, तारा-मंडल गजमुक्ताकी माला है और उसके बीचमें पिरोये हुए रंग-बिरंगे रत्न नवग्रह हैं) ॥७॥ सर्पके शरीर जैसे भुजदंडोंमें कमल, शंख, चक्र और गदा शोभित हो रहे हैं। ग्रीवाकी सुन्दरतामें सौन्दर्यकी हद है। चिबुक, अधर तथा मुखपर अमित छवि छायी हुई है ॥८॥ दाँतोंको देखकर हीरे, कुन्दकी कलियों और बिजलीकी चमकको लज्जित होना पड़ता है। नासिका, नेत्र, कपोल, ललित कर्ण-कुंडल तथा भौंहें मुझे बहुत भाती हैं ॥९॥ सिरपर घुँघराले बालोंके ऊपर मुकुट है; माथेपर जो तिलक है उसे समझाकर कहता हूँ, मानो बिजलीकी दो छोटी रेखाएँ चन्द्र-मंडल (मुख) में अपनी चंचलता छोड़कर बस रही हों ॥१०॥ स्वच्छ और उपमा-रहित पीताम्बरकी उपमा हृदयमें समाती ही नहीं, (तथापि यथाशक्ति कल्पना की जाती है) मानो बहुत-से मणियोंसे संयुक्त नीले पर्वत-शिखरपर सुनहला वस्त्र सुशोभित हो रहा हो ॥११॥ दाहिनी ओर प्रेम-सहित बैठी हुई लक्ष्मीजीसे शोभा और भी बढ़ गयी है। ऐसा जान पड़ता है मानो तमाल वृक्षके पास नीला वस्त्र ओढ़े स्वर्ण-लता बैठी हो ॥ सैकड़ों सरस्वती, शेष और वेद मिलकर इस शोभाका वर्णन करके समाप्त नहीं कर सकते, फिर भला द्वन्द्वरत तथा मूढ़बुद्धि तुलसीदास इस दिव्य शोभाका वर्णन किस प्रकार कर सकता है ॥१३॥

विशेष

१—'किसोर'—छःअवस्थाओंके अन्तर्गत एक अवस्था। वे छ अवस्थाएँ हैं:—१ शिशु, २ कौमार, ३ पौगंड, ४ किशोर, ५ यौवन, ६ जरा। ग्यारहसे पन्द्रह वर्षके भीतरकी अवस्थाको किशोरावस्था कहते हैं। पर यहाँ किशोरसे पन्द्रह वर्षकी अवस्था ही समझनी चाहिये।

२—'नीलकंज······दुति पाई'—में प्रतीप अलंकार है। प्रतीपका अर्थ है उलटा (प्रतिलोम्यात् प्रतीपं)। प्रतीपालंकारका यह लक्षण है:—

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।—साहित्यदर्पणे।

अर्थात् प्रसिद्ध उपमानको उपमेय बनाना या उसको निष्फल बतलाना

प्रतीप अलंकार है। इसके पाँच भेद हैं। उनमें प्रथम प्रतीपका लक्षण काव्य-प्रभाकरमें इस प्रकार है:—

सो प्रतीप उपमेय सम, जब कहिय उपमान।
लोचनसे अम्बुज बने, मुखसों चन्द बखान॥

अर्थात् जहाँ उपमानमें उपमेयकी कल्पना की जाय। जैसे 'नेत्रोंके समान कमल बने हैं और मुखके समान चन्द्रमा।' यहाँ नेत्र और मुख जो उपमेय हैं, वे उपमान हो गये हैं। प्रतीपके प्रथम भेदका एक उदाहरण और लीजिये :—

"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर-सम स्याम।"

—रामचरितमानस।

यहाँपर उक्त अलंकार ही है।

३—'अभूत उपमाई'—'अभूत उपमा'का लक्षण महाकवि केशवदासने इस प्रकार लिखा है:—

उपमा जाय कही नहीं, जाको रूप निहारि।
अस अभूत उपमा कही, केसवदास विचारि॥

—कवि-प्रिया।

वियोगि हरिजीने यहाँपर 'अद्भुत उपमाई' पाठ मानकर 'कुछ विचित्र ही उपमा' अर्थ किया है, पाठक ही विचार करें कि इन दोनोंमें कौन-सा पाठ और अर्थ ठीक है।

४—आगे 'अरुननील' आदि पंक्तियोंमें उत्प्रेक्षालंकार है।

५—'जनु हर–उर हरि' के स्थानपर कहीं-कहीं 'जनु हर-डर-हरि पाठ भी है। जहाँ ऐसा पाठ है वहाँ 'हरि' का अर्थ कामदेव होगा। मानो हरके डरसे कामदेवने नानारूप धारण करके श्रेष्ठ घर बना रखा है। अर्थात् कामदेवने अपनेको शिवजीका अपराधी समझकर यह स्थिर किया कि भगवान्‌के चरणोंकी शरणमें गये बिना और कहीं रक्षा नहीं हो सकती। इसीसे वह भगवान्‌के चरणोंके नूपुररूपी घरमें स्वरस्वरूप होकर घुस पड़ा है।

६—'उर बिसाल भृगुचरन'—एक बार भृगु ऋषिने क्रुद्ध होकर भगवान्‌के हृदयपर पदाघात किया था। अतः उनके पैरका चिह्न भगवान्‌के वक्षःस्थलपर अंकित हो गया।

७—'नवग्रह'—सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र शनि, राहु और केतु ये नवग्रह हैं। प्रत्येक ग्रहका रंग भिन्न-भिन्न है; जैसे सूर्य और मंगलका रंग लाल, बृहस्पतिका पीला, शनि, राहु और केतुका काला, बुधका हरा तथा चन्द्रमा और शुक्रका श्वेत है। उसी प्रकार रत्न भी विभिन्न रंगके हैं। वियोगी हरिजीने अपनी टिप्पणीमें सूर्यका रंग श्वेत लिखा है। ऐसा उल्लेख उन्हें कहाँ मिला, कहा नहीं जा सकता।

राग जयतिश्री

(६३)

मन इतनोई या तनुको परम फलु।
[1]सब अँग सुभग विन्दुमाधव छबि, तजि सुभाव, अवलोकु एक फल॥१॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-दुति हृदय-तिमिर-हारी।
कुलिस-केतु-जव-जलज रेख वर, अंकुस मन-गज-बसकारी॥२॥
कनक-जटित मनि नूपुर, मेखल, कटि-तट रटति मधुर बानी।
त्रिबली उदर, गँभीर नाभि सर, जँह उपजे विरंचि ग्यानी॥३॥
उर वनमाल, पदक अति सोभित, विप्र-चरन चित कहँ करषै।
स्याम तामरस-दाम-बरन वपु, पीत बसन सोभा बरषै॥४॥
कर कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा, कंज, दर, चारु चक्रधर, नाग-सुंड-सम भुज चारी॥५॥
कंबु ग्रीव, छबिसीव चिबुक द्विज, अधर अरुन, उन्नत नासा।
नव राजीव नयन ससि आनन, सेवक-सुखद विसद हासा॥६॥
रुचिर कपोल, स्रवन कुंडल, सिर मुकुट, सुतिलक भाल भ्राजै।
ललित भृकुटि, सुंदर चितवनि, कच निरखि मधुप-अवली लाजै॥७॥
रूप-सील-गुनखानि दच्छ दिसि, सिंधु सुता रत-पद सेवा।
जाकी कृपा-कटाच्छ चहत सिव, बिधि, मुनि, मनुज, दनुज, देवा॥८॥

१. 'सब अँग सुभग'के स्थानपर 'नख-सिख रुचिर' पाठ भी मिलता है।

तुलसिदास भव-त्रास मिटै तब, जब मति येहि सरूप अटकै।
नाहिंत दीन मलीन हीन-सुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै ॥९॥

शब्दार्थ—केतु = पताका। त्रिबली = पेटकी रेखाएँ या तीन पेटी। विप्र = ब्राह्मण; यहाँ भृगु ऋषिके लिए आया है। करषै = आकर्षित करता है। दाम = गुच्छा, माला। मुद्रिक = अँगूठी। सिंधुसुता = समुद्र-कन्या, लक्ष्मीजी। अटकै = फँस जाता है।

भावार्थ—हे मन, इस शरीरका परम फल इतना ही है कि अपना स्वभाव छोड़कर सुन्दर अंग-प्रत्यंगवाले भगवान् विन्दुमाधवजीकी छविका एक पलके लिए अवलोकन कर ॥१॥ उनके कोमल चरण पूर्ण विकसित लाल कमलके समान हैं और नखोंकी प्रभा हृदयके अन्धकारको दूर करनेवाली है। उनके चरणोंमें वज्र, पताका, जौ, कमल आदिकी श्रेष्ठ रेखाएँ हैं और अंकुशका चिह्न मनरूपी हाथीको वशमें करनेवाला है ॥२॥ पैरोंमें मणि-जटित स्वर्ण-नूपुर और कटिभागमें करधनी मधुर स्वरमें बज रही है। पेटपर तीन पेटियाँ (लकीरें) पड़ी हैं और गम्भीर नाभि मानो सरोवर है जहाँसे ज्ञानी ब्रह्मा प्रकट हुए हैं ॥३॥ हृदयपर वनमाला और उसके बीचमें रत्नोंकी चौकी अत्यन्त शोभायमान हो रही है; वहाँपर जो भृगु-चरणका चिह्न है, वह चित्तको खींच लेता है। नीले कमलके गुच्छेके रंगका शरीर है; उसपर पीताम्बर तो मानो शोभाकी वर्षा कर रहा है ॥४॥ हाथोंमें मनोहर कंकण और विजायठ हैं; अँगूठी अलग ही आनन्द दे रही है। हाथीकी सूँड़के समान चारों भुजाओंमें गदा, पद्म, शंख और सुन्दर सुदर्शन चक्र धारण किये हैं ॥५॥ शंखके समान ग्रीवा है, चिबुक और दाँतोंमें सुन्दरताकी हद हो गयी है; लाल ओठ और उन्नत (सुडौल) नासिका है। नवीन कमलके समान नेत्र, चन्द्रमाके समान मुख और स्वच्छ हँसी भक्तोंको सुख देनेवाली है ॥६॥ सुन्दर कपोल हैं, कानोंमें कुण्डल हैं, सिरपर मुकुट है और ललाटपर सुहावना तिलक शोभित हो रहा है। ललित भौंहें और सुन्दर चितवन है; काले बालोंको देखकर भ्रमरोंकी पंक्ति लज्जित हो जाती है ॥७॥ रूप, शील और गुणोंकी खानि लक्ष्मीजी उन भगवान् विन्दुमाधवकी दाहिनी ओर बैठी उनके चरणोंकी सेवामें तल्लीन हैं—जिनकी कृपा-दृष्टि शिव, ब्रह्मा, मुनि, मनुष्य, दैत्य और देवता भी चाहते हैं ॥८॥ तुलसीदास कहते हैं कि यह संसार-भय तभी मिटता है, जब बुद्धि इस स्वरूपमें अटक जाती है; नहीं तो (प्रत्येक

मनुष्यको) दीन, मलीन और सुख-रहित होकर करोड़ों जन्मतक भरम-भरमकर भटकना पड़ता है, मरना और जन्म लेना लगा रहता है ॥९॥

विशेष

१—'तजि सुभाव'—मनका स्वभाव स्वाभाविक ही चंचल है। नैय्यायिकोंने मनके गुणके सम्बन्धमें 'अपरत्वं, परत्वं, संख्या, वेगश्च' इत्यादि लिखा है। गीतामें अर्जुनने भगवानसे कहा है:—

'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

मन इतना अधिक चंचल है, इसीसे गोस्वामीजीने केवल पलभर देखनेके लिए कहा है। क्योंकि यह चपल मन पहले पलभर तो स्थिर रहकर प्रभुकी ओर देख ले, अधिक देरतक देखना तो बहुत दूरकी बात है।

२—'नख दुति'—श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के पदारविन्दके वर्णनमें नख-द्युतिकी अनूठी झलक दिखाई पड़ती है।

३—'त्रिबली' पर किसी कविने कहा है—

कैधों मैनभूपतिके रथके सुचक्र चले दिन ही की लीकैं उर भूपै जान तौन है।
कैधों मैन ठगकी गली ये भली ठगिबेकी कैधों रूपनदी है तिधार कियो गौन है॥
ऐसी छबि देखी एरी मोहे मनमोहन जू यातें मैंहू जानी येही मोहबेको भौन है।
एक बली सबहीको बस करि राखत है त्रिबली जो करै बस अचरज कौन है॥

राग-बसन्त

(६४)

बंदौं रघुपति करुना-निधान। जाते छूटै भव-भेद-ग्यान ॥१॥
रघुबंस-कुमुद-सुखप्रद निसेस। सेवत पद-पंकज अज-महेस ॥२॥
निज भक्त-हृदय-पाथोज-भृंग। लावन्य बपुष अगनित अनंग॥३॥
अति प्रबल मोह-तम-मारतंड। अग्यान-गहन-पावक प्रचंड ॥४॥
अभिमान-सिंधु-कुंभज उदार। सुर-रंजन, भंजन भूमिभार ॥५॥

रागादि-सर्पगन-पन्नगारि । कंदर्प नाग मृगपति, मुरारि ॥६॥
भव-जलधि-पोत चरनारविंद । जानकी-रवन आनंद-कंद ॥७॥
हनुमंत -प्रेम-बापी -मराल । निष्काम कामधुक गो दयाल ॥८॥
त्रैलोक-तिलक, गुन-गहन राम । कह तुलसिदास बिश्राम धाम॥९॥

शब्दार्थ—निसेस = (निशा + ईश) चन्द्रमा । अनंग = कामदेव । मारतंड = सूर्य । गहन = वन । सुर-रंजन = देवताओंको सुख देनेवाले । कंदर्प = काम । नाग = हाथी । पोत = नौका । वापी = बावली ।

भावार्थ—मैं करुणा-निधान श्रीरघुनाथजीकी वन्दना करता हूँ, जिससे मेरा सांसारिक भेद-ज्ञान जाता रहे ॥१॥ वह रघुवंश-रूपी कुमुद-पुष्पके लिए सुखप्रद चन्द्रमा हैं; ब्रह्मा और शिव उनके चरणारविन्दकी सेवा किया करते हैं ॥२॥ वह अपने भक्तोंके हृदय-कमलके भ्रमर हैं। उनके शरीरका लावण्य अगणित कामदेवोंके समान है ॥३॥ वह अत्यन्त प्रबल मोहान्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यरूप, तथा अविद्यारूपी वनको भस्म करनेके लिए प्रचण्ड अग्नि-रूप हैं ॥४॥ वह अभिमानरूपी समुद्रको सोख जानेके लिए उदार अगस्त्य ऋषि हैं, तथा देवताओंको सुखी करनेके लिए पृथिवीका भार उतारनेवाले हैं ॥५॥ वह राग-द्वेषादि रूपी सर्पोंके लिए गरुड, कामदेवरूपी हाथीके लिए सिंह तथा मुर नामक दैत्यके शत्रु हैं ॥६॥ उनके चरणारविन्द संसार-सागरसे पार उतारनेके लिए नौकारूप हैं। वह जानकी-वल्लभ हैं और आनन्दकी वर्षा करनेवाले हैं ॥७॥ वह हनुमान्‌जीकी प्रेम-बावलीके हंस, तथा भक्तोंकी इच्छाएँ पूरी करनेके लिए निष्काम कामधेनुके समान दयालु हैं ॥८॥ तुलसीदास कहते हैं कि वह श्रीरामजी त्रिकोकके शिरोमणि, गुणोंके वन तथा शान्तिके स्थल हैं ॥९॥

विशेष

१—'भव भेद ग्यान'—'यह मेरा है, वह तेरा है' 'मैं बड़ा हूँ, वह छोटा है' यही संसारका भेदात्मक ज्ञान है ।

२—इस पदतक वन्दना करनेके बाद गुसाईंजी अब आगेके पदसे विनय प्रारम्भ करेंगे ।

राग-भैरव

राम राम रमु[1], राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
रामनाम नव नेह-मेह को, मन! हठि होहि पपीहा ॥१॥
सब साधन-फल कूप-सरित-सर, सागर-सलिल निरासा।
रामनाम-रति-स्वाति-सुधा-सुभ, सीकर प्रेमपियासा ॥२॥
गरजि, तरजि, पाषान बरषि पवि, प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै ॥३॥
रामनाम-गति, रामनाम-मति, रामनाम-अनुरागी।
ह्वै गये, हैं, जे होहिंगे त्रिभुवन[2] तेइ गनियत बड़भागी ॥४॥
एक अंग मग अगमु गवन करि, बिलमु न छिन-छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं ॥५॥

शब्दार्थ—जीहा = जीभ। मेह = बादल। हठि = जबर्दस्ती। बूँद = बूँद। पवि = वज्र। परमिति = पराकाष्ठा। बिलमु = विलम्ब, विभोर होना।

भावार्थ—हे जीभ! तू राम राममें रम जा, राम राम रट और राम राम जप। हे मन! तू रामनाममें प्रेमरूपी नवीन-मेघके लिए जबर्दस्ती पपीहा बन जा ॥१॥ तू अन्य सब साधनोंके फलरूपी कूप, नदी, तालाब और समुद्रके जलकी आशा न रखकर केवल रामनामकी भक्तिरूपी स्वातीकी अमृततुल्य कल्याणकारी बूँदके लिए प्रेमका प्यासा बन जा। अर्थात् जैसे पपीहा, कूप, नदी आदिके जलकी परवाह न करके स्वातीके जलके लिए लालायित रहता है, वैसे ही हे मन, तू भी और सब साधनोंके फलकी आशा छोड़कर रामनाममें लीन होनेके लिए प्रेमकी प्यास लगा ॥२॥ पपीहेका प्रेमी मेघ गरजकर, डाँट बतलाकर तथा पत्थर और वज्र बरसाकर उसके प्रेमको परखता है, उसके बाद वह अपने दिलमें उसे समझकर पहचान लेता है कि पपीहेके हृदयानुरागकी उमंग अत्यन्त अधिक है, चरम सीमाको भी पार कर गयी है ॥३॥ इसी प्रकार तू भी (कष्टोंकी ओर ध्यान

---

१. पाठान्तर 'रटु'।

२. पाठान्तर 'होहिंगे आगे'।

न देकर) रामनाममें ही अपनी गति समझ, राम-नाममें ही बुद्धि लगा और केवल राम-नामका ही प्रेमी बन जा। इस तरहके जितने भक्त हो गये हैं, तथा जो (भविष्यमें) होंगे, वे ही तीनों लोकमें बड़भागी हैं ॥४॥ यह एकांगी मार्ग बड़ा ही कठिन है। इसपर चलकर क्षण-क्षणपर छाया देखकर भूल न जा। ऐ तुलसी-दास! अपनी ओरसे कपट-रहित नेम निभानेमें ही तेरा निजी हित है ॥५॥

विशेष

१—'रटु' 'जपु'—ऊँचे स्वरमें रामनामका उच्चारण करनेके लिए 'रटु' कहा है और धीरे-धीरे कहनेको 'जपु' कहा है। जप केवल अपनेहीको सुनाई पड़ता है, दूसरेको नहीं। जप तीन प्रकारसे होता है, (१) ऊँचे स्वरमें जिसे आस-पासके लोग सुनें, (२) जो केवल अपनेहीको सुनाई पड़े (३) जो अपनेको भी सुनाई न पड़े; इसे मानसिक जप कहते हैं। मानसिक जप सर्वश्रेष्ठ है।

२—'छिन छिन छाहैं'–यहाँ स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति, भोग आदि वस्तुएँ ही छायारूप हैं। जो मनुष्य इनके फेरमें पड़कर इन्हींमें अटक जाता है, वह उस स्थानतक नहीं पहुँच सकता।

(६६)

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे।
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ॥१॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे ॥२॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो, बाम रे।
राम-नाम ही सों अंत सब ही को काम रे ॥३॥
जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ॥४॥
राम-नाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी भरोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे ॥५॥

शब्दार्थ—पोच = नीच। दाहिनो = सम्मुख, सीधा। बाम = विमुख, उलटा। धौरहर = मीनार, धौरहरा, अटारी, महल। और = दूसरेका। कौर = ग्रास।

भावार्थ—ऐ पागल ! राम जप, राम जप, राम जप । इस घोर संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिए रामनाम ही अपनी नौका है ॥१॥ इस एक ही साधनसे तू सब रिद्धि-सिद्धियोंको साध ले; क्योंकि कलिकालरूपी रोगने योग, संयम और समाधिको ग्रस लिया है, अर्थात् इनसे उद्धार नहीं हो सकता ॥२॥ भला हो अथवा बुरा, सम्मुख हो अथवा विमुख, अन्तमें एक राम-नामहीसे सबको काम पड़ेगा ॥३॥ यह संसाररूपी आकाश-वाटिका फूली-फली दिख रही है। (सारांश, यह संसार मिथ्या है; जैसे पुष्पवाटिकामें तरह-तरहके फूल-फल दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही आकाशमें रंग-विरंगे बादल दिखाई पड़ते हैं; वास्तवमें यह संसार भ्रमात्मक है और इसके सब सम्बन्ध और सुख भी मिथ्या हैं।) धुएँके महलोंको अर्थात् स्त्री, पुत्र, कलत्रादिको देखकर तू न भूल ॥४॥ जो मनुष्य राम-नामको छोड़कर दूसरेका भरोसा करता है, तुलसीदास कहते हैं कि वह उस मूर्खके समान है जो आगेका परोसा हुआ भोजन छोड़कर (कुत्तेकी तरह) कौरा माँगता फिरता है ॥५॥

विशेष

१—'निज नाव रे'—अपनी नौका कहनेका आशय यह है कि राम-नाम-रूपी नौका अपने अधीन है। उसके द्वारा भव-सागर पार होनेमें कोई बाधा नहीं।

२—'एक ही······साधि रे'—इसपर गोस्वामीजीने एक जगह क्या ही उत्तम कहा है:—

"एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाइ ।
तुलसी घर-बन बीच ही, राम-प्रेमपुर छाइ ॥"

३—'जोग'—योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधिके बाद निर्विकल्प समाधि है; उसी समय आत्मसाक्षात्कार होता है।

(६७)

राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे ।
कलि न विराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे ॥१॥

राम सुमिरन सब विधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे ॥२॥
राम-नाम महामनि, फनि जग-जाल रे।
मनि लिये फनि जियै व्याकुल बिहाल रे ॥३॥
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे ॥४॥
राम-नाम प्रेम-परमारथ को सार रे।
राम-नाम तुलसी को जीवन-अधार रे ॥५॥

शब्दार्थ—सानुराग = प्रेम-सहित। फनि = साँप। जग-जाल = जगत्-प्रपंच। कामतरु = कल्पवृक्ष।

भावार्थ—हे जीव ! प्रेमके साथ राम राम जपा कर। कलियुगमें न तो वैराग्य ही है, और न योग, यज्ञ, तप एवं त्याग ही (अर्थात् ये सफल नहीं हो सकते) ॥१॥ राम-नामका स्मरण करना सब विधि-कर्मोंमें श्रेष्ठ है और उसे भुला देना निषेध-कर्मोंमें सिरमौर है ॥२॥ राम-नाम महामणि है और जगजाल सर्प है। सर्पकी मणि ले लेनेपर क्या वह व्याकुल और विहाल सर्प जीवित रह सकता है ? (कदापि नहीं) तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मणि ले लेनेपर सर्प मर जाता है, उसी प्रकार राम-नामरूपी मणि अपना लेनेसे सांसारिक कष्टरूपी सर्प मृतवत् हो जाता है ॥३॥ रामका नाम चारों फल देनेवाला कल्पवृक्ष है; सारांश, कल्पवृक्ष केवल अर्थ, धर्म और काम तीन ही फल देता है—मोक्ष नहीं देता; पर राम-नाम-रूपी कल्पतरु चारों फल देता है; इस बातको वेद, पुराण, पण्डित और शिवजी कहते हैं ॥४॥ राम-नाम, प्रेम यानी भक्ति और परमार्थका सार है। राम-नाम ही तुलसीदास के जीवनका आधार ॥५॥

विशेष

१—'विधि'—शास्त्रोंमें विधि और निषेध दो तरहका कर्म बतलाया गया है; उन्हीं दोनों कर्मोंकी यहाँ चर्चा की गयी है।

२—'जीवन अधार'—रामका नाम ही तुलसीदासके जीवनका आधार है।

अभिप्राय यह कि नामके ही प्रभावसे तुलसीदासको इहलोकमें मुट्ठीभर अन्न मिल रहा है। उन्होंने स्वयं ही कहा है:—

'नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।

इस नामके प्रभावसे अलौकिकके सिवाय पारलौकिल सिद्धि भी हो जाती है। कहा भी है:—

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोकलाहु पर-लोक निबाहू॥

(६८)

राम राम राम जीह जौ लौं तू न जपिहै।
तौ लौं, तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै॥१॥
सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै॥२॥
जागत, बागत, सपने न सुख सोइहै।
जनम-जनम, जुग जुग जग रोइहै॥३॥
छूटिबे के जतन बिसेष बाँधो जायगो।
ह्वै है विष भोजन को सुधा-सानि खायगो॥४॥
तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीनको।
राम नाम ही की गति जैसे जल मीनको॥५॥

शब्दार्थ—लौं = तक। सुरसरि = गंगाजी। सुरतरु = कल्पवृक्ष। बागत = फिरते हुए। सानि = मिलाकर। तिहूँकाल = तीनोंकाल, भूत, वर्तमान और भविष्य। मीन = मछली।

भावार्थ—जबतक तू जीभसे राम-नाम नहीं जपेगा, तबतक तू कहीं भी जा,—तीनों तापोंसे तपता ही रहेगा॥१॥ तबतक तू गंगाजीके तटपर रहकर भी बिना पानीके दुख पाता रहेगा और कल्पवृक्षके नीचे पहुँचनेपर भी तुझे दरिद्रता सताती रहेगी॥२॥ जागते, चलते, सोते और स्वप्नमें भी तुझे सुख नहीं मिलेगा और जन्म-जन्म, युग-युग इस संसारमें रोता रहेगा॥३॥ ज्यों-ज्यों तू अपनेको छुड़ानेके लिए यत्न करेगा, त्यों-त्यों अधिक कसकर बाँधा जायगा। उस दशामें तू जो भोजनकी सामग्री अमृतमें सानकर खायगा, वह भी तेरे लिए विष हो जायगा॥४॥ ऐ तुलसीदास! त्रिलोकमें तेरे जैसा दीन कौन हुआ,

कौन है अथवा कौन होगा ? बस, जैसे मछलीके लिए जल ही आधार है, उसी प्रकार तुझे केवल राम-नामका ही भरोसा है ॥५॥

विशेष

१—'तिलोक तिहूँकाल'—पर गुसाईंजीने कहा है:—

चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका । भये नाम जपि जीव बिसोका ॥
वेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल राम-सनेहू ॥

(६९)

सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को ।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को ॥१॥
भाग है अभागेहू को, गुन गुनहीन को ।
गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को ॥२॥
कुल अकुलीन को, सुन्यो है बेद साखि है ।
पाँगुरे को हाथ-पाँय, आँधरे को आँखि है ॥३॥
माय बाप भूखे को, अधार निराधार को ।
सेतु भव-सागर को, हेतु सुखसार को ॥४॥
पतित पावन राम-नाम सो न दूसरो ।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो ॥५॥

शब्दार्थ—अकुलीन=कुलहीन, नीच कुलवाला । पाँगुरे=पंगु, लँगड़े-लूले । सुखसार=सुखका सार, ब्रह्मानन्द । सुभूमि=सुन्दर भूमि, उपजाऊ भूमि । ऊसरो=ऊसर ।

भावार्थ—हे जीव ! तू स्नेहसे महाराज रामचन्द्रजीके नामका स्मरण कर । उनका नाम (भक्ति-मार्गपर जानेवालोंमें) जिनके पास मार्गव्यय नहीं है, उनके लिए मार्गव्यय या सहारा है और असहायका सखा है ॥१॥ राम-नाम अभागेका भाग्य और मूर्खोंका गुण है, वह गरीबका ग्राहक और दीनोंके लिए दयालु दानी है ॥ २ ॥ वह अकुलीनका कुल है, यह मैंने सुना है और वेद भी इस बातके साक्षी हैं । वह लँगड़े-लूलेका हाथ-पैर तथा अन्धोंकी आँख है ॥३॥ राम-नाम भूखोंका माई-बाप, निराधारका आधार, भवसागरका पुल और ब्रह्मानन्दका

कारण है ॥४॥ पतितोंको पवित्र करनेके लिए राम-नामकी तरह दूसरा कुछ भी नहीं है। राम-नामके स्मरणसे ही तुलसीदासके समान ऊसर उपजाऊ भूमि बन गया ॥५॥

विशेष

१—'कुल······साखि'—ठीक ही है, भगवद्भक्तोंकी कुलीनता या अकुलीनताको कौन पूछता है? रामभक्तोंका तो कुल ही न्यारा है; उस कुलमें अकुलीन भी वैसे ही कुलीन हैं जिस प्रकार कुलीन। भगवान्‌की दृष्टिमें भेदभाव नहीं। देखिये न, युधिष्ठिरके यज्ञमें जबतक श्वपच (चांडाल) नहीं आया, तबतक परमात्माका पांचजन्य शंख बजा ही नहीं। सत्य है:—

जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरिको भजै सो हरि को होई॥

२—'पतित पावन राम-नाम'—इसके लिए इतना कहना पर्याप्त है।

सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद-विदित गुनगाथ॥

× × ×

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥

(७०)

भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागिहै
मन राम नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥१॥
राम नामको प्रभाउ जानि जूड़ी आगि है।
सहित सहाय कलिकाल भीरु भागिहै॥२॥
राम-नाम सों बिराग, जोग, जप जागिहै।
वामविधि भाल हू न करम दाग दागिहै॥३॥
राम-नाम मोदक सनेह सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥४॥
राम-नाम काम-तरु जोइ जोइ माँगिहै।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥५॥

शब्दार्थ—जूड़ी = कँपाकर आनेवाला ज्वर । सहाय = सेना । भीरु = डरपोक । वाम = प्रतिकूल । दाग = अङ्क । दागिहै = लिख सकेंगे । बागिहै = घूमेगा । खाँगिहै = घटेगा ।

भावार्थ—रे मन ! यदि तू मेरे कहेपर चलकर स्वभावसे ही राम-नामसे प्रेम करेगा, तो तेरा हर तरहसे भला होगा ॥१॥ तू यह जान ले कि जैसे गुड़गुड़ी देकर आनेवाले ज्वरके लिए आग है, उसी प्रकार सेना-सहित डरपोक कलिकाल-के लिए रामनामका प्रभाव है । नामके प्रभावसे कलिकाल भाग जायगा ॥२॥ राम-नामके प्रभावसे वैराग्य, योग, जप आदि जाग्रत् हो जायँगे, और ब्रह्मा प्रतिकूल रहनेपर भी ललाटको कर्मरूप दागसे न दाग सकेंगे ॥३॥ यदि तू राम-नामरूपी मोदकको प्रेम-सुधामें पागेगा अर्थात् पकावेगा, तो तू सन्तोष प्राप्त करके द्वार-द्वार न घूमेगा ॥४॥ राम-नाम कल्पवृक्ष है, उससे तू जो-जो वस्तु माँगेगा, सब पायेगा । ऐ तुलसीदास, उससे न तो तुझे स्वार्थकी ही कमी रहेगी और न परमार्थकी ही ॥५॥

विशेष

१—'जूड़ी आगि है–' इसके कई अर्थ हो सकते हैं । राम-नामका प्रभाव सर्दी दूर करनेके लिए अग्निके समान है; अथवा नामके प्रभावसे आग भी ठण्डी जान पड़ेगी; या नामके प्रभावको शीतल अग्नि जानकर (तात्पर्य यह कि राम-नामके प्रभावमें कहने या देखनेमें तो किसी प्रकारका ताप प्रतीत नहीं होता, पर नामके आश्रित जीवको यदि कोई बाधाएँ ग्रहण करती हैं तो वे जलकर भस्म हो जाती हैं; जैसे पाला शीतल प्रतीत होता है, किन्तु लताओं और वृक्षोंको झुलस देता है, उसी प्रकार राम-नाम सबके लिए शीतल है, किन्तु कलिकालके लिए अग्निरूप है ।) कलिकाल भाग जायगा ।

२—'न करम दाग दागिहै'—अर्थात् नामके प्रभावसे सब कर्म क्षीण हो जायँगे । कहा भी है—

'मेटत कठिन कुअंक भालके ।'

अथवा—

'भाविउ मेटि सकहिं 'त्रिपुरारी' ।

—रामचरितमानस

(७१)

ऐसेहूँ साहब की सेवा सों होत चोर रे।
आपनी न बूझ, न कहे को राँडरोर रे ॥१॥
मुनि-मन-अगम, सुगम माइ-बापु सो।
कृपासिन्धु, सहज सखा, सनेही आपु सो ॥२॥
लोक-वेद-विदित बड़ो न रघुनाथ सो।
सब दिन सब देस, सबहि के साथ सो ॥३॥
स्वामी सर्बग्य सों चलै न चोरी चार की।
प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की ॥४॥
काय न कलेस-लेस, लेत मानि मन की।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की ॥५॥
रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे।
फलत सकल फल कामतरु-नाम रे ॥६॥
बेंचे खोटो दाम न मिलै, न राखे काम रे।
सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजाराम रे ॥७॥

शब्दार्थ—राँडरोर = राँड़ोंकी आवाज। चार = सेवक, दूत। जोगवत = बचाते हैं, रखते हैं। खीझे = नाराज होनेपर। निवाज्यो = निहाल किया।

भावार्थ—रे मन ! तू ऐसे भी स्वामीकी सेवा करनेसे जी चुरा रहा है ! न तो तुझमें अपना हित पहचाननेकी समझ है और न किसीके कहनेका ही तुझपर कुछ असर पड़ता है। तू बिल्कुल ही निकम्मा है ॥१॥ वह मुनियोंके मनके लिए भी अगम और भक्तोंके लिए माँ-बापकी तरह सुगम है। वह कृपाके समुद्र हैं, सहज सखा हैं और स्वभावतः स्नेही हैं ॥२॥ लोक और वेदमें यह बात प्रकट है कि रघुनाथजीसे बड़ा कोई नहीं है। वह सर्वदा (भूत, वर्तमान, भविष्य) सर्वत्र (स्वर्ग और नरक) और सबके साथ रहते हैं ॥३॥ सर्वज्ञ स्वामीसे सेवककी चोरी नहीं चलती। उनके दरबारकी यह रीति है कि केवल प्रेमकी ही पहचान की जाती है ॥४॥ उनकी सेवामें शरीरको रंचमात्र भी क्लेश नहीं होता। वह मनकी भावनाको ही मान लेते हैं। स्मरण करनेपर वह ससंकोच भक्तोंकी रुचि रखते हैं। सारांश, भक्तकी रुचिके अनुसार बड़ीसे बड़ी वस्तु दे डालनेपर भी

संकोच करते हैं कि कुछ नहीं दिया ॥५॥ वह रीझनेपर वशीभूत हो जाते हैं (जैसे हनुमान्‌जीपर रीझकर उनके वशीभूत हुए थे) और खीझनेपर मुक्ति (निज धाम) देते हैं (जैसे रावण, बालि आदिको)। कल्पवृक्ष-सदृश जो राम-नाम है, वह सब फल फलता है ॥६॥ जिसे (तुलसीदासको) न तो बेचनेपर फूटी कौड़ी मिल सकती है और न रखनेसे कोई काम ही निकल सकता है, उस तुलसीदासको भी निहाल कर दिया—ऐसे महाराज रामचन्द्रजी हैं ॥७॥

विशेष

१—'मुनि-मन······बापु सो'—श्रीरामजी अगम भी हैं और सुगम भी। अगम तो ऐसे हैं कि मुनियोंके ध्यानमें भी नहीं आते, और सुगम भी इस कदर हैं कि अवधवासियों और ब्रजवासियोंको हर समय दर्शन दिया करते हैं। जैसे माता-पिता अपने बच्चोंकी शुश्रूषा करनेमें सदैव लगे रहते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंके पीछे-पीछे रहा करते हैं।

२—'सनेही आपु सो'—वह किसी भी समयमें किसी जीवको नहीं भूलते। गर्भ सरीखे निषिद्ध स्थानमें भी परमात्मा प्रत्येक प्राणीका पालन करते हैं।

३—'सकल फल'—कल्पवृक्ष तीन फल देता है, पर राम-नाम चारों फल। इसीसे 'सकल फल' लिखा गया है।

(७२)

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साईं-द्रोही पै सेवक हित साईं ॥१॥
राम सों बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो ॥२॥
लोक कहै रामको गुलाम हौं कहावौं।
एतो बड़ो अपराध भो न मन बावों ॥३॥
पाथ माथे चढ़े तृन तुलसी ज्यों नीचो।
बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचो ॥४॥

शब्दार्थ—द्रोही=शत्रु। पै=पर। भो=हुआ। बावों=बाम, टेढ़ा। पाथ=जल।

भावार्थ—श्रीरामजीने अपनी भलाईके लिए (अपना बाना रखनेके लिए) मेरा भला कर दिया। मैं तो स्वामीका शत्रु हूँ, पर स्वामी श्रीरामजी सेवकके हितू हैं ॥१॥ भला श्रीरामजीसे बड़ा कौन है, और मुझसे छोटा कौन है? रामजीके समान कौन खरा है और मुझ-सा कौन खोटा है? ॥२॥ संसार कहता है कि मैं रामजीका गुलाम हूँ; (किन्तु वह तब कहता है जब) मैं ऐसा कहलवाता हूँ। मुझसे इतना बड़ा अपराध हुआ, तो भी श्रीरामजीका मन मेरी ओरसे बाम नहीं हुआ ॥३॥ हे तुलसी! यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे नीच तृण (तिनका) जलके मस्तकपर चढ़ जाता है, फिर भी जल यह जानकर उसे नहीं डुबोता कि उसने उसे सींचा है या पाला-पोसा है ॥४॥

विशेष

१—'साईं-द्रोही'—कहनेका यह आशय है कि तुच्छ और बुरा होनेपर भी जो मैं अपनेको श्रीरामजीका गुलाम कहलवाता हूँ, उससे श्रीरामजीकी बदनामी होगी; क्योंकि श्रीरामजीके सेवकको संसार बहुत उच्च दृष्टिसे देखता है, पर मेरे जैसे अकिंचनको देखकर लोगोंकी क्या धारणा होगी? भला यह स्वामीके द्रोहीका काम नहीं तो और किसका है?

२—'नीचो'—जलसे ही तृण उत्पन्न होता है और समय पाकर वह उसके माथेपर चढ़ जाता है। जन्मदाताके मस्तकपर चढ़ना घोर नीचता है। इसीसे ग्रन्थकारने 'नीचो' शब्द लिखा है।

३—'पाथ······सींचो'—यह चरण बड़ा सरस है। एक ओर जल है और दूसरी ओर कृपा। आह! धन्य हैं गोस्वामीजी!

[७३]

जागु, जागु, जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥१॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड़्यो मृग-वारि खायो जेवरी को साँप रे ॥२॥
कहैं बेद बुध, तू तो बूझि मन माहिं रे।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे ॥३॥

तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥४॥

शब्दार्थ—नेह = स्नेह । दामिनी = बिजली । संसृति = संसार । बुध = पण्डित ।

भावार्थ—ऐ जड़ जीव ! जाग, जाग; और संसाररूपी रात्रिको देख; अर्थात् सांसारिक अविद्या या मोहको समझ । यह जान ले कि देह और घरका स्नेह मानो बादलोंके बीचकी बिजली है (जो जरा-सी देरके लिए कौंधकर गायब हो जाती है) । (यदि तू यह समझता हो कि जागनेपर कष्टका ही अनुभव होगा तो) जो आदमी सो जाता है, वह स्वप्नमें ही मृगजलमें डूबा, रस्सीके साँपने डस लिया, इस प्रकार संसारका सन्ताप सहता है ॥२॥ चारों वेदों और पंडितोंका कथन है और तू भी अपने मनमें समझ ले कि स्वप्नके दोष और दुःख जागनेपर ही दूर होते हैं ॥३॥ तुलसीदास कहते हैं कि दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापोंके दुःख जागनेपर ही जाते हैं और तभी राम-नाममें पवित्र प्रीति सहज स्वभावसे उत्पन्न होती है ॥४॥

।७३।५

१—'जागु जागु' इस विषयमें गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें कहा है:—
'इहि जग जामिनि जागहिं जोगी । परमारथ परपंच वियोगी ॥
२—'मृगजल'—यहाँ पुत्र, कलत्र, धन आदि ही मृगजल है ।

राग-विभास

[७४]

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि त्यागि मूढ़ताऽनुरागु श्रीहरे ।
करि विचार, तजि विकार, भजु उदार रामचंद्र-
भद्रसिंधु, दीनबंधु, वेद वदत रे ॥१॥
मोहमय कुहू-निसा विसाल काल विपुल सोयो,
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जो परे ।

अब प्रभात प्रगट ग्यान-भानुके प्रकास बास-
ना, सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे ॥२॥

भागे मद-मान चोर-भोर जानि जातुधान।
काम-कोह-लोभ-छोभ-निकर अपडरे।

देखत रघुबर-प्रताप, बीते संताप-पाप,
ताप त्रिविध प्रेम-आप दूर ही करे ॥३॥

स्त्रवन सुनि गिरा गँभीर, जागे अतिधीर बीर,
बर बिराग-तोष सकल संत आदरे।

तुलसिदास प्रभु कृपालु, निरखि जीवजन बिहालु,
भंज्यो भव-जाल परम मंगलाचरे ॥४॥

शब्दार्थ—वदत = कहते हैं। कुहू = अमावास्या। विपुल = बहुत। आप = जल। गिरा = वाणी। विहालु = व्याकुल। भंज्यो = तोड़ दिया, नष्ट कर दिया।

भावार्थ—बुद्धिमान् जीवोंको श्रीरामजीकी कृपा जगा देती है। तू जागकर और मूर्खताको त्यागकर परमात्माके साथ प्रीति कर। तू (सत-असत्का) विचार करके (कामक्रोधादि) विकारोंको छोड़ दे, उदार श्रीरामजीका भजन कर; क्योंकि चारों वेद उन्हें कल्याण-सागर और दीनबन्धु कहते हैं ॥१॥ मोह-मयी अमावास्याकी रात्रिमें तू चिरकालतक खूब सोया। जो माया-स्वप्नमें पड़ जाता है, वह अनुपम आत्म-स्वरूपको खो बैठता है। अब सबेरा प्रकट हो गया है; ज्ञान-सूर्यका प्रकाश होते ही वासना तथा राग-सहित मोह और द्वेषरूपी सघनान्धकार टल गया है ॥२॥ भोर हुआ जानकर मद और मानरूपी चोर भाग गये हैं और काम, क्रोध, लोभ, क्षोभरूपी राक्षस-समूह स्वयं ही डर गये हैं। श्रीरामजीका प्रताप देखते ही पाप-सन्ताप समाप्त हो गये हैं और तीनों तापोंको प्रेम-रूपी जलने दूर कर दिया है ॥३॥ अपने कानसे यह गम्भीर वाणी सुनकर अत्यन्त धीर-वीर सन्त मोह-निद्रासे जाग उठे हैं और श्रेष्ठ वैराग्य, सन्तोष आदिका आदर करने लगे हैं। हे तुलसीदास! कृपालु श्रीरामजीने सब प्राणियों-को व्याकुल देखकर संसार-रूपी जालको नष्ट कर दिया है और परमानन्द देने लगे हैं ॥४॥

विशेष

१—'बिसाल काल···सोयो'—संसारमें कर्मानुसार अनन्त बार जन्म लेना और मरना ही सोना है।

२—'खोयो'—कहा भी है, 'जो सोया सो खोया, जो जागा सो पाया'।

राग-ललित

(७५)

खोटो खरो रावरो हौं, रावरे सों झूठ
क्यों कहौंगो, जानौ सबही के मनकी।
करम-बचन-हिये, कहौं न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठि, पानी परे सनकी॥१॥
दूसरो भरोसो नाहिं, बासना उपासना की,
बासव, बिरंचि सुर-नर-मुनिगन की।
स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई,
काहू तो न पीर रघुबीर! दीन जन की॥२॥
साँप-सभा साबर लबार भये, देव दिव्य,
दुसह साँसति कीजै आगे ही या तन की।
साँचे परौं पाऊँ पान, पंचमें पन प्रमान,
तुलसी चातक आस राम स्यामघन की॥३॥

शब्दार्थ—खोटो=बुरा। खरो=भला। रावरो=आपका। बासव=इन्द्र। लेवा देई=लेन-देन। तो=तुम्हारे सदृश। साबर=एक मंत्रका नाम है। लबार=झूठा।

भावार्थ—मैं बुरा हूँ तो भी आपका हूँ और भला हूँ तो भी आपका ही। भला मैं आपसे झूठ क्यों कहूँगा? क्योंकि आप प्रत्येक प्राणीके दिलकी बात जानते हैं। इसे मैं निष्कपट होकर मन, वचन और कर्मसे कहता हूँ। मेरे हठकी ठीक वही दशा है जैसे पानी पड़नेपर सनकी गाँठकी। न तो मुझे दूसरा कोई सहारा है और न इन्द्र, ब्रह्मा, देवता, मनुष्य तथा मुनियोंकी उपासना करनेकी इच्छा है। ये सब मतलबके यार हैं, हाथीसे कुत्तेकी लेन-देन करनेवाले हैं—

अर्थात् मेरे आयुर्बलरूप हाथीको अपनी सेवामें खपाकर श्वान (कुत्ता) रूपी स्त्री-पुत्रादि नश्वर पदार्थ देनेवाले हैं। हे श्रीरामजी! दीनोंकी पीड़ाका ध्यान तुम्हारे समान किसीको भी नहीं है ॥२॥ यदि मेरी यह बात झूठी हो तो हे दिव्यदेव! आप अपने आगे ही मेरे इस शरीरकी कठिनसे कठिन वही दुर्दशा कीजिये, जो दुर्दशा सर्पोंकी सभामें साबर मंत्र झूठा साबित होनेपर सँपेरेकी हुआ करती है; किन्तु यदि मैं सच्चा साबित हो जाऊँ, तो मुझे पंचोंके बीचमें प्रतिज्ञाके प्रमाण-स्वरूप पानका बीड़ा मिलना चाहिये—ताकि भक्तमंडली समझ सके कि तुलसी-रूपी चातकको केवल रामरूपी श्याम-मेघकी ही आशा है ॥३॥

विशेष

१—इस पदमें ग्रंथकारने अपनी अनन्य भक्तिका पुष्टीकरण किया है। अनन्य भक्तिका लक्षण गुसाईंजीने इस प्रकार कथन किया है:—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप-स्वामि भगवन्त॥

-रामचरितमानस

(७६)

राम को गुलाम, नाम 'रामबोला' राख्यो राम,
काम इहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी-लूगा नीके राखे, आगे हू की वेद भाखे,
भलो ह्वै है तेरो, ताते आनँद लहत हौं॥१॥
बाँध्यौ हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड़,
सुनत दुसह हौं तौ साँसति सहत हौं।
आरत-अनाथ-नाथ, कौसलपाल, कृपाल,
लीन्हों छीन दीन देख्यो दुरित दहत हौं॥२॥
बूझ्यो ज्यों, कह्यो, मैं हूँ चेरो ह्वै रावरोजू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ, अपनाइ गहि बाँह, बोलि
सेवक-सुखद, सदा विरद वहत हौं॥३॥

लोग कहैं पोचु, सो न सोच न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज-काज राम ही के रीझे-खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥४॥

शब्दार्थ—लूगा = धोती, वस्त्र। निगड़ = बेड़ी। दुरित = पाप। मींजो = हाथ रख दिया, ठोंक दिया। विरद = बाना। अकाज-काज = नफा-नुकसान।

भावार्थ—मैं श्रीरामजीका गुलाम हूँ। रामजीने मेरा नाम 'रामबोला' रखा है। मेरा काम यही है कि दो अक्षरका राम-नाम कभी-कभी कह लेता हूँ। इससे रामजीने मुझे अन्न-वस्त्रसे खुशहाल रखा है, और आगे (परलोक) के लिए भी वेदोंका कथन है कि तेरा भला होगा। इससे मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ ॥१॥ रामजीका गुलाम होनेके पहले मैं जड़ कर्मोंकी अभिमानरूपी पुष्ट बेड़ियोंसे बँधा हुआ था, यह सुनते ही कि मैं तो असह्य कष्ट सह रहा हूँ, आर्त्तों और अनाथोंके स्वामी कृपालु श्रीरघुनाथजीने देखा कि मैं दीन हूँ और पापोंसे जल रहा हूँ, अतः उन्होंने मुझे कर्मबन्धनसे छुड़ा लिया ॥२॥ उन्होंने ज्यों ही मुझसे पूछा, त्यों ही मैंने भी कहा कि मैं भी आपका दास होना चाहता हूँ, मेरा कोई कहीं नहीं है, मैं आपके चरणोंको पकड़ता हूँ। इसपर गुरुरूप श्रीरामजीने मेरी पीठ ठोंक दी और बुलाकर मेरी बाँह पकड़ ली; तभीसे मैं भक्तों-को सुख पहुँचानेवाला (भगवान्‌का वैष्णवी) बाना धारण किये रहता हूँ ॥३॥ इससे लोग मुझे नीच कहते हैं; किन्तु इसका न तो मुझे सोच है और न मेरे दिलमें किसी तरह का संकोच ही हो रहा है। क्योंकि न तो मुझे ब्याह-बरेखी (सगाई) करनेकी ही जरूरत है और न मैं जाति-पाँतिका ही कायल हूँ। तुलसीदासका नफा-नुकसान श्रीरामजीके ही रीझने और खीझनेपर निर्भर है; किन्तु मुझे उनके प्रेमपर विश्वास है, इसीसे मैं मन ही मन प्रसन्न रहा करता हूँ ॥

विशेष

१—'रामबोला'—कुछ लोग जो यह कहते हैं कि गोसाईंजीका पूर्व नाम रामबोला था, वह इसीके आधारपर जान पड़ता है। काशी नागरीप्रचारिणी

सभाके पाँच सदस्यों द्वारा सम्पादित रामचरितमानसमें लिखा है कि "इससे हमारा यह भी अनुमान होता है कि इनका विवाह नहीं हुआ था। माता-पिताको छोड़ देना तथा बचपनसे गुरुके साथ घूमना रामायण आदिसे भी प्रमाणित होता है और उसकी दृढ़ता इस पदसे भी होती है।"

२—'रोटी लूगा'—के स्थानपर श्रीरामेश्वर भट्टने तो 'रोटी लूँगा' अर्थ किया ही है, वियोगी हरिजीने भी टीकाके प्रथम संस्करणमें 'सिर्फ रोटी लूँगा' (और कुछ नहीं चाहिये), अर्थ लिखा है। उक्त टीकाकारोंने यह नहीं सोचा कि 'लेना' क्रियाका 'लूगा' रूप हो सकता है या नहीं। इसीसे ऐसी भद्दी भूल हुई है।

(७७)

जानकी-जीवन, जग जीवन, जगत हित,
जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम।
सरद-बिधु-बदन, सुखसील, श्रीसदन,
सहज सुंदर तनु, सोभा अगनित काम ॥१॥
जग-सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत,
सबको दाहिनो, दीनबन्धु, काहू को न बाम।
आरतिहरन, सरनद, अतुलित दानि,
प्रनतपाल, कृपालु, पतित-पावन नाम ॥२॥
सकल बिस्व बंदित, सकल सुर-सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरेई गुनग्राम।
इहै जानिकै तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ॥३॥

शब्दार्थ—बिधु = चन्द्रमा। श्रीसदन = लक्ष्मीका निवासस्थान। दाहिनो = अनुकूल। आगम = वेद। निगम = शास्त्र। कै = या, अथवा। सरनद = शरण देनेवाले।

भावार्थ—हे रामजी! आप जानकीजीके, और संसारके जीवन, जगत्के हितकारी, जगदीश, रघुकुलके स्वामी तथा कमलके समान नेत्रवाले हैं। आपका मुख शारदीय पूर्णिमाके समान है। आप सुख प्रदान करनेवाले हैं और लक्ष्मीजी-

के निवासस्थान हैं। सहज (बिना बनावट-सजावटके) ही आपके सुन्दर शरीर-की शोभा अगणित कामदेवोंके समान है ॥१॥ आप जगत्के पिता, माता, गुरु, हितू, मित्र, सबपर अनुकूल रहनेवाले, दीनबन्धु तथा किसीके भी प्रतिकूल न रहनेवाले हैं। आप दुःखोंके हरनेवाले, (शरणागतोंको) शरण देनेवाले, अमित-दानी, भक्तोंका पालन करनेवाले और कृपालु हैं। आपका नाम पापियोंको पवित्र करनेवाला है ॥२॥ विश्व-ब्रह्माण्ड आपकी वन्दना करता है, समस्त देवता आपकी सेवा करते हैं तथा वेद और शास्त्र आपकी ही गुणावली गाते हैं! यही सब जानकर तुलसीदास आपका सेवक हुआ है; आप इसे (तुलसीदासको) अलग गिनेंगे या गरीब गुलामोंमें गिनेंगे? ॥३॥

राग टोड़ी

(७८)

देव—

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ ॥१॥
सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे।
पै तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥२॥
त्रिभुवन, तिहुँकाल विदित, वेद वदति चारी।
आदि-अंत-मध्य राम! साहिबी तिहारी ॥३॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो ॥४॥
पाहन-पसु, बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथ के! रंक राय कीन्हे ॥५॥
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो ॥६॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। घनेरे = बहुतेरे। लौं = तक। कहति = कहते हैं। पाहन = पत्थर, यहाँ यह शब्द अहिल्याके अर्थमें है। बिटप = पेड़, (यमलार्जुन)। बिहँग = पक्षी (गीध जटायु और काकभुशुंडि)। रंक = भिखारी। राय = राजा। बारक = एक बार।

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! दीनोंके लिए दयालु दानी (आपके सिवा) दूसरा कोई नहीं है। मैं जिसे अपनी दीनता सुनाता हूँ, वह(स्वयं ही)दीन नजर आता है ॥१॥ यों तो देवता, मनुष्य, मुनि, दैत्य, नाग आदि बहुत-से मालिक हैं, पर ये सब तभीतक हैं, जबतक आपकी दृष्टि जरा भी टेढ़ी नहीं होती ॥२॥ तीनों लोक और तीनों कालमें यही प्रसिद्ध है तथा चारों वेद भी कह रहे हैं कि हे राम ! आदि, अन्त और मध्यमें (केवल) आपहीकी साहबी है ॥३॥ आपसे माँगनेके बाद कोई भी भिक्षुक फिर मंगन नहीं रह गया। आपका यही स्वभाव, शील और सुयश सुनकर यह दास माँगने आया है ॥४॥ आपने पाषाण (अहल्या), पशु (बानर-भालू), वृक्ष (यमलार्जुन) और पक्षी (जटायु, काक-भुशुंडि आदि) तकको अपना लिया है। हे महाराज दशरथके पुत्र ! आपने दरिद्रोंको राजा बना दिया है ॥५॥ आप गरीबोंको निहाल करनेवाले हैं, और मैं आपका गरीब दास हूँ। हे कृपालु ! एक बार कह दीजिये कि तुलसीदास मेरा है ॥६॥

विशेष

१—'विटप'—एक बार कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीवके मजाक उड़ानेपर नारदजीने उन्हें वृक्ष हो जानेके लिए शाप दे दिया था। अन्तमें उनके प्रार्थना करनेपर नारदजीने कह दिया था कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके स्पर्शसे तुम्हारा उद्धार हो जायगा। वे दोनों भाई नारदके शापसे गोकुलमें अर्जुन वृक्ष बन गये। एक दिन यशोदाजीने किसी अपराधके कारण बालक श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया। भगवान् धीरे-धीरे उन जुड़े हुए पेड़ोंके पास पहुँचे और ऊखलको दोनों वृक्षोंके बीचमें फँसाकर ऐसा झटका दिया कि दोनों पेड़ गिर पड़े। इस प्रकार वे दोनों वृक्ष-योनि छोड़कर यक्ष हो गये और भगवान्‌की स्तुति करने लगे। परमात्माने उन्हें मुक्त कर दिया।

२—विहँग—(जटायु) ४३ वें पदके विशेषमें देखिये।

(७९)

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ॥१॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसों ॥२॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो ।
तात-मातु, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो ॥३॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥४॥

शब्दार्थ—पातकी = पापी । आरत = दुखी । आरतिहर = पीड़ाको हरनेवाला । ठाकुर = स्वामी । चेरो = दास, सेवक । तात = पिता । नाते = सम्बन्ध ।

भावार्थ—हे प्रभो ! तुम दयालु हो, और मैं दीन हूँ । तुम दानी हो और मैं भिखारी हूँ । मैं प्रसिद्ध पापी हूँ, और तुम पाप-समूहका नाश करनेवाले हो ॥१॥ तुम अनाथोंके नाथ हो, और मेरे जैसा अनाथ कोई भी नहीं है । न तो मेरे समान कोई दुखिया है, और न तुम्हारे जैसा कोई दुःखका हरनेवाला ही है ॥२॥ तुम साक्षात् ब्रह्म हो, और मैं जीव हूँ । तुम स्वामी हो, मैं सेवक हूँ । तुम्हीं मेरे पिता, माता, गुरु, सखा तथा सब प्रकारसे हितकारी हो ॥३॥ तुम्हारे और मेरे बीच बहुत-से नाते हैं, उनमें जो रुचे उसे मान लो । हे कृपालु ! किसी तरह भी हो, तुलसीदासको तुम्हारे चरणोंकी शरण मिलनी चाहिये ॥४॥

विशेष

१—'तोहि मोहि नाते अनेक'—कविने ऊपर कई नाते गिना दिये हैं; जैसे—तुम दयालु हो और मैं दीन हूँ; अर्थात् दयालुको दीनोंकी ही आवश्यकता रहा करती है । यदि दीन ही न हों तो आप दयालुता किसपर दिखायेंगे ? इसी प्रकार दीनको भी दयालुकी आवश्यकता रहती है ।

[८०]

देव—

और काहि माँगिये, को माँगिबो निवारै ।
अभिमतदातार कौन, दुख दरिद्र दारै ॥१॥
धरमधाम राम काम-कोटि-रूप रूरो ।
साहब सब बिधि सुजान, दान-खड्ग-सूरो ॥२॥

सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजै।
कुसमय दसरथ के ! दानि तैं गरीब निवाजै ॥३॥
सेवा बिनु गुनविहीन दीनता सुनाये।
जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये ॥४॥
तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै।
रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहिं कीजै ॥५॥

शब्दार्थ—निवारै = निवारण करने या छुड़ानेवाला। अभिमतदातार = मनोवांछित या इच्छित फल देनेवाला। दारै = दूर करता है। रूरो = सुन्दर। निसान = नगाड़ा।

भावार्थ—हे देव ! और किससे माँगू ? कौन मेरा माँगना (सदाके लिए) छुड़ानेवाला है ? कौन मनोवांछित फल देनेवाला है जो मेरे दुःख-दरिद्रको दूर कर दे ? ॥१॥ हे धर्मके स्थान श्रीरामजी ! आप करोड़ों कामदेवोंके सौन्दर्यसे भी अधिक सुन्दर हैं। आप सब प्रकारसे बुद्धिमान्, मालिक और दान-रूपी तलवारके चलानेमें बहादुर हैं ॥२॥ अच्छे दिनमें तो दो दिन सबके दरवाजेपर नगाड़े बजते हैं (सब लोग चार पैसा खैरात करते हैं); पर हे दशरथ-नन्दन ! आप ऐसे दानी हैं कि बुरे समयमें भी (वनवासके समयमें भी जटायु, सुग्रीव, विभीषण आदि) गरीबोंको निहाल कर देते हैं ॥३॥ बिना सेवाके ही (अहल्या, शबरी) जिन-जिन गुणहीनोंको (बन्दर, भालू आदिको) दीनता सुनानेपर आपने निहाल किया है वे पैर फुलाये फिरते हैं ॥४॥ अब भिखारी तुलसीदासकी रुचि जानकर उसे भी दान दीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप चन्द्रमा हैं, अतः मुझे चकोर बना दीजिये—बस यही दान मुझे दीजिये ॥५॥

[८१]

दीनबन्धु, सुखसिन्धु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध जुर, करत फिरत बौराई ॥१॥
कबहुँ जोग रत, भोग-निरत सठ हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोह-बस द्रोह-करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ॥२॥
कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी ॥३॥

कबहुँ देव ! जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै ।
संसृति-सन्निपात दारुन दुख, बिनु हरि-कृपा न नासै ॥४॥
संजम, जप, तप, नेम, धरम, व्रत, बहु भेषज-समुदाई ।
तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई ॥५॥

शब्दार्थ—जुर = ज्वर । सठ = दुष्ट । बिडंबरत = दम्भ या पाखंडमें रत । संसृति = संसार । भेषज = दवा ।

भावार्थ—हे दीनवन्धु, आनन्दके समुद्र, कृपाकी खानि और कारुणिक रामजी ! हे नाथ ! सुनिये, मेरा मन तीनों तापोंसे जल रहा है, इसीसे वह पागलपन करता फिर रहा है (ज्वरमें मनुष्य अचेत होकर बकता है) ॥१॥ (उसका पागलपन यही है कि) कभी तो वह योगाभ्यास करता है, कभी भोग-विलासमें फँस जाता है, कभी वह दुष्ट हठपूर्वक वियोगके वशमें हो जाता है, कभी मोहवश होकर अनेक तरहकी शत्रुता करता है और कभी वह बड़ा दयावान् बन जाता है ॥२॥ कभी दीन, बुद्धिहीन और बड़ा ही कंगाल बन जाता है, कभी घमंडी राजा बन जाता है, कभी मूढ़, पंडित और ढोंगी बन जाता है एवं कभी धर्मरत ज्ञानी बन जाता है ॥३॥ हे देव ! कभी उसे यह संसार धनमय दीखता है, कभी शत्रुमय और स्त्री-मय दीखता है (अर्थात् कभी तो वह लोभमें, कभी क्रोधमें और कभी काममें फँसा रहता है) । इस संसाररूपी सन्निपात ज्वरका दारुण दुःख बिना ईश्वर-कृपाके नष्ट नहीं होता ॥४॥ यद्यपि संयम, जप, तप, नेम, धर्म, व्रत आदि बहुत-सी औषधियाँ हैं, पर तुलसीदास कहते हैं कि यह संसाररूपी रोग श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हुए बिना दूर नहीं हो सकता ॥५॥

विशेष

१—इस पदमें मनकी विभिन्न दशाओंका वर्णन किया गया है ।

[८२]

मोहजनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई ।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई ॥१॥

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे ॥२॥
परनिन्दा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज, नाथ-चरन बिसराये ॥३॥
तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥४॥

शब्दार्थ—मल = पाप। नयन = नेत्र। श्रवन = कान। नीर = जल।

भावार्थ—मोह-जनित अनेक प्रकारके लगे हुए पाप करोड़ों यत्न करनेपर भी नहीं छूटते। जन्म-जन्मान्तरसे अभ्यास-रत चित्त (पापमें) अधिकाधिक लिपटता जाता है ॥१॥ परायी स्त्रियोंको देखनेसे नेत्र मलिन हो गये हैं, और मन विषयोंके साथ लगा रहनेसे मलिन हो गया है। मान-मदादिक वासनाओंसे हृदय मलिन हो गया है, इसलिए जीवन अपने स्वाभाविक आनन्द-(आत्मानन्द) को त्याग बैठा है ॥२॥ दूसरोंकी निन्दा सुननेसे कान अपवित्र हो गये हैं तथा दूसरोंके दोष कहते-कहते वाणी भी मलिन हो गयी है। अपने स्वामी (श्रीरामजी) के चरणोंको भूल जानेसे ही यह मलका भार सब तरहसे मेरे पीछे लग गया है ॥३॥ ऐ तुलसीदास, वेदका कथन है कि व्रत, दान, ज्ञान और तप आदि शुद्धिके कारण अवश्य हैं, पर श्रीरामजीके चरणोंके प्रेम-जलके बिना पापोंका समूल नाश नहीं हुआ करता ॥४॥

राग जैतश्री

[८३]

कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।[1]
अति दुरलभ तनु पाइ कपट तजि, भजे न राम मन-बचन-काय ॥१॥

---

१. ऐसा ही भाव महात्मा सूरदासने भी व्यक्त किया है—
दो में एकौ तौ न भई।
ना हरि भजे न गृह सुख पाये, बृथा बिहाइ गई ॥
ठानी हुती और कछु मनमें, औरै आनि ठई।
अविगत गति कछु समुझि परति नहिं, जो कछु करत दई ॥

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय ।
जोवन-जुर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन वाय ॥२॥
मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय ।
राम-विमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ, निसि बासर तयौ तिहूँ ताय ॥३॥
सेये नहिं सीतापति-सेवक, साधु सुमति भलि भगति भाय ।
सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जे चरित रघुबंसराय ॥४॥
अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों, बिकल अंग दले जरा धाय ।
सिर धुनि-धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय ॥५॥
जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यौ, ते लजात होत ठाढ़े ठाँय ।
तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहिं, तर्‌यो गयंद जाके एक नाँय ॥६॥

शब्दार्थ—जाय = व्यर्थ ही । काय = कर्म । चाय = चाव, इच्छा । मदनबाय = कामोन्माद । ताय = ताप । भाय = भाव । जरा = बुढ़ापा, वृद्धावस्था । दाय = दावानल । ठाँय = ठाँव, निकट । नाँय = नाम ।

भावार्थ—व्यर्थ ही जन्म बीत चला, कुछ भी न बन पड़ा ! अत्यन्त दुर्लभ शरीर पाकर निष्कपट भावसे मन, वचन और कर्मसे राम भजन नहीं किया ॥१॥ लड़कपन तो अज्ञानमें बीत गया, उस समय चित्तमें चंचलताकी चौगुनी चाव थी । जवानीका ज्वर चढ़नेपर स्त्री (प्रसंग) का कुपथ्य करनेके कारण त्रिदोष (सन्निपात) हो गया और (समूचे शरीरमें) कामदेवरूपी वायु भर गयी ॥२॥ उसके बाद बीचकी अवस्था मैंने खेती, व्यापार आदि अनेक उपायोंसे धन पैदा करनेमें खो दी । किन्तु श्रीरामजीसे विमुख होनेके कारण स्वप्नमें भी सुख नहीं मिला, रात-दिन तीनों तापोंसे तपता ही रहा ॥३॥ न तो श्रीरामजीके भक्तों, एवं ज्ञानी संतोंकी भक्ति-भावसे भली-भाँति सेवा ही की और न श्रीरघुनाथजीके

सुत सनेह तिय सकल कुटुम मिलि, निसि दिन होत खई ।
पद-नख चन्द-चकोर-विमुख मन, खात अँगार मई ॥
विषम विकार-दवानल उपजी, मोह बयार बई ।
भ्रमत भ्रमत बहुतक दुख पायो, अजहुँ न टेव गई ॥
कहा होत अबके पछताने, होनी सिर बितई ।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकल मई ॥

किये हुए चरित्रको रोमांच होकर प्रसन्न मनसे सुना और कहा ही ॥४॥ अब जब कि बुढ़ापेने दौड़कर अंग-प्रत्यंगको व्याकुल करके पीस डाला है, तब मणिहीन सर्पकी भाँति सोचा करता हूँ, सिर पीटकर तथा हाथ मींजकर पछताता हूँ, पर इस असह्य दावानलको बुझानेवाला कोई भी मित्र या हितू नहीं! ॥५॥ जिनके लिए अपना परलोक बिगाड़ दिया, वे भी निकट खड़े होनेमें शर्माते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि अब भी उस श्रीरामजीका स्मरण कर, जिनका एक बार नाम लेनेसे गजेन्द्र तर गया था ॥६॥

विशेष

१—'तर्‌यो गयंद'—एक बार तालाबमें जल-क्रीड़ा करते समय एक हाथी-का पैर एक मगरने पकड़ लिया था। जब सारी शक्ति लगानेपर भी हाथी अपना पैर न छुड़ा सका, तब उसने निराश होकर भगवान्‌को पुकारा। भगवान्‌ने ग्राहको मारकर उस हाथीको मुक्त कर दिया।

[८४]

तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ
भयो है सुगम तोको अमर-अगम तन, समुझि धौं कत खोवत अकाथ॥१॥
सुख-साधन हरि-बिमुख बृथा जैसे स्रम-फल घृत हित मथे पाथ।
यह बिचारि, तजि कुपथ-कुसंगति, चलि सुपंथ मिलि भले साथ॥२॥
देखु राम-सेवक, सुनि कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु बान-पानि प्रभु, लसे मुनिपट, कटि कसे भाथ॥३॥
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ रामपद-कमल माथ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल, अपनाये जानकीनाथ॥४॥

शब्दार्थ—तौ = तब, तो। मींजि = मलकर। अमर = देवता। अगम = दुर्लभ। धौं = न-जानें। कत = क्यों। अकाथ = व्यर्थ। पाथ = जल। भाथ = तरकस।

भावार्थ—रे मन! तब (पीछे) तू हाथ मलकर पछतायेगा। तुझे देवताओं-के लिए दुर्लभ (मनुष्य) शरीर सुगमतासे मिल गया है, यह समझकर भी न-जानें क्यों तू उसे व्यर्थ खो रहा है ॥१॥ परमात्मासे विमुख रहकर सुखका साधन करना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे घी निकालनेके लिए पानी मँथनेपर केवल परि-

श्रमरूपी फल हाथ लगता है। यह सोचकर तू कुमार्ग और कुसंगको छोड़कर सज्जनोंके साथ मिलकर सुमार्गपर चल एवं ॥२॥ राम-भक्तोंके दर्शन कर और उनके मुखसे भगवान्‌की कीर्त्ति सुनकर नामको रट—रामकी गुण-गाथाओंका गान कर। हाथमें धनुष-बाण लिये मुनियोंके वस्त्र धारण किये तथा कमरमें तरकस कसे हुए प्रभुका अपने हृदयमें ध्यान कर ॥३॥ हे तुलसीदास! तू सब प्रपंचोंको छोड़कर श्रीरामजीके चरणारविन्दोंपर मस्तक झुका। तू डर न, तेरे जैसे बहुत-से खलोंको जानकी-वल्लभ श्री रघुनाथजी अपना चुके हैं ॥४॥

राग-धनाश्री

[८५]

मन! माधव को नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंक के धन ज्यों, छिन छिन प्रभुहि सँभारहि ॥१॥
सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर, सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन विषय-विकारहि ॥२॥
जो बिनु जोग-जग्य-ब्रत-संजम गयो चहै भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि-बासर हरि-पद-कमल बिसारहि ॥३॥

शब्दार्थ—नेकु = जरा, तनिक। रंजन = प्रसन्न करनेवाले। अघ = पाप। गंजन = नाशकर्ता।

भावार्थ—रे मन! भगवान् माधवकी ओर तनिक देख। रे शठ! सुन, जैसे कंगाल सदैव अपने धनकी सँभाल किया करता है, उसी प्रकार तू प्रतिक्षण परमात्माको सँभालनेमें लगा रह ॥१॥ (किस परमात्माको सँभालनेमें यह मन लगा रहे?) परम सुन्दर और उदार (दानी) परमात्माको। वह परमात्मा शोभा, शील, ज्ञान और गुणोंके घर हैं। वह संत-जनोंको प्रसन्न करनेवाले, सम्पूर्ण पापोंको नाश करनेवाले तथा विषय-विकारको दूर करनेवाले हैं ॥२॥ यदि तू बिना योग, यज्ञ, व्रत और संयमके ही संसार-सागरसे पार होना चाहता है, तो ऐ तुलसीदास! रातदिन भगवान्‌के चरणारविन्दोंको न भूल, अर्थात् रात-दिन उनके चरणारविन्दोंका स्मरण किया कर ॥३॥

विशेष

१ 'सुंदर परम उदारहि'—में 'परम' शब्द 'देहरी दीपक' है। जो शब्द ड्योढ़ीके दीपककी भाँति अपनेसे पूर्व और पर दोनों शब्दोंके साथ लगता है उसे 'देहरी दीपक' कहते हैं। जैसे ड्योढ़ीका दीपक भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है, उसी प्रकार यह शब्द दोनों ओर लगता है।

[८६]

इहै कह्यो सुत ! बेद चहूँ।
श्रीरघुबीर-चरन-चिंतन तजि नाहिंन ठौर कहूँ ॥१॥
जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।
सुक-सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥२॥
जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कतहूँ।
हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ, करम-बचन-मन हूँ ॥३॥
करुनासिंधु, भगत—चिंतामनि, सोभा सेवत हूँ।
और सकल सुर, असुर-ईस सब खाये उरग छहूँ ॥४॥
सुरुचि कह्यो सोइ सत्य तात अति परुष बचन जबहूँ।
तुलसिदास रघुनाथ-बिमुख नहिं मिटइ बिपति कबहूँ॥५॥

शब्दार्थ—बिरंचि = ब्रह्मा। श्री = लक्ष्मी। संतत = सदा। सुर = देवता। उरग = (उर + ग) छातीके बल गमन करनेवाला, सर्प। तात = पुत्र। परुष = कठोर।

प्रसंग—महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—सुनीति और सुरुचि। सुनीतिके पुत्र ध्रुव थे और सुरुचिके उत्तम। राजाका स्नेह छोटी रानीपर अधिक था। एक दिन राजा अपने पुत्र उत्तमको गोदमें लिये बैठे थे, उसी समय ध्रुव वहाँ आकर उनकी गोदमें बैठने लगे। विमाताने उनसे कड़े शब्दोंमें कहा, पहले तप करके राजाकी गोदमें बैठनेके अधिकारी बनो, पीछे गोदमें बैठनेका साहस करना। यह सुनकर ध्रुव रोते हुए अपनी माता सुनीतिके पास लौट आये। सारा हाल सुननेके बाद ध्रुवकी माता सुनीतिने उन्हें जो उपदेश दिया, उसीके प्रसंगमें यह पद बनाया गया है।

भावार्थ—हे पुत्र (ध्रुव)! चारों वेदोंने यही कहा है कि श्रीरामजीके चरणों-

का ध्यान किये बिना कहीं भी ठौर नहीं है ॥१॥ जिनके चरणोंकी सेवा करके ब्रह्मा और शिवने भी सिद्धि प्राप्त की है, शुक-सनकादि जीवन्मुक्त होकर विचरण कर रहे हैं और अब भी वे उनका भजन करते जा रहे हैं ॥२॥ यद्यपि लक्ष्मीजी सदासे परम चंचला हैं, कहीं भी स्थिर नहीं रहतीं, तथापि वह भगवच्चरणारविन्दको पाकर मन-वचन-कर्मसे अचल हो गयीं ॥३॥ (दासता बुरी चीज है, पर) करुणा-सागर, भक्त-चिन्तामणि भगवान् रामचन्द्रजीकी सेवा करनेमें भी शोभा है और जितने देवता तथा दैत्योंके स्वामी हैं, सबको षट् ऊर्मी शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा, जरा, मरण इन छ साँपोंने डँस लिया है ॥४॥ हे पुत्र! (तुम्हारी विमाता) सुरुचिने जो तुमसे कहा है (कि पहले तप करो), वह यद्यपि अत्यन्त कठोर वचन है फिर भी सत्य है। अतः हे तुलसीदास! श्रीरघुनाथजीसे विमुख रहनेपर विपत्तियोंका नाश कभी नहीं होता ॥५॥

(८७)

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो ॥१॥
बिछुरे ससि-रवि मन-नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत स्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥२॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥३॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, स्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास अब आस छाँड़ि करि, होहु राम को चेरो ॥४॥

शब्दार्थ—सबेरो = शीघ्र, समय रहते। सुरसरिता = गंगा। घनेरो = बहुतसे। निबेरो = दूर कर दिया है।

भावार्थ—रे मूढ़ मन! मेरी शिक्षा सुन। भगवान्के चरणोंसे विमुख रहकर किसीको सुख नहीं प्राप्त हुआ। रे दुष्ट! इस बातको समय रहते ही समझ ले ॥१॥ भगवान्के मनसे चन्द्रमा और नेत्रोंसे सूर्य अलग होनेके कारण ही (चन्द्रमा और सूर्य) भारी दुःख पा रहे हैं। वे रात-दिन आकाशमें थके हुए घूमते रहते हैं और वहाँ उनका बड़ा शत्रु राहु मौजूद है ॥२॥

यद्यपि गंगाजी अत्यन्य पवित्र हैं, तीनों लोकोंमें उनकी कीर्त्ति छा रही है, पर भगवान्के चरणोंसे अलग होनेके कारण अबतक उनका भी नितका बहना बन्द नहीं हुआ ॥३॥ वेदोंने यह सन्देह दूर कर दिया है कि श्रीरामजीका भजन किये बिना विपत्तियाँ नहीं छूट सकतीं। हे तुलसीदास! अब सारी आशाओंको छोड़-कर तू श्रीरामजीका दास हो जा ॥४॥

विशेष

१—'ससि-रवि मन-नैननि तें'—चन्द्रमाकी उत्पत्ति भगवान्के मनसे हुई है और सूर्यकी उत्पत्ति उनके नेत्रोंसे। पुरुषसूक्तमें लिखा भी है:—

'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत'।

२—'रिपु राहु'—समुद्र-मंथनके बाद जब देवता और दैत्य अमृतके लिए आपसमें लड़ने लगे, तब भगवान्ने मोहिनीरूप धारण करके अमृतका घड़ा अपने हाथमें लेकर एक पंक्तिमें देवताओं और दूसरी पंक्तिमें दैत्योंको बिठाकर देवताओंकी पंक्तिसे उसे बाँटना शुरू किया। उस समय दैत्य उनके रूपपर मोहित हो गये थे। राहु नामक दैत्य भगवान्का कपट समझकर सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें जा बैठा और धोखेसे उसे भी अमृत दिया गया। पश्चात् जब भगवान्को यह बात सूर्य और चद्रमाके इशारा करनेपर मालूम हुई, तब उन्होंने चक्रसे उसका सिर काट दिया। किन्तु वह अमृत पान कर चुका था, अतः मरा नहीं और मुण्डका राहु हो गया और धड़का केतु। बस राहु उसी वैरसे ग्रहणके समय सूर्य और चन्द्रमाको दुःख देता है।

(८८)

कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥१॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़, ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यो ॥२॥
जनम अनेक किये नाना बिधि, करम-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर-बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥३॥

निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदै नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जनम सिरान्यो॥४॥

शब्दार्थ—सहज सुख=आत्मानन्द। सान्यो=सान रखा है। आन्यो=लाना, धारण नहीं किया। तृषा=प्यास। सिरान्यो= बीत गया।

भावार्थ—रे मन! तूने कभी विश्राम न माना। (तू) आत्मानन्दको भूलकर रातदिन घूमता रहता है और (तुझे) इन्द्रियाँ इधर-उधर खींचकर ले जाती हैं॥१॥ यद्यपि विषयोंके साथ तूने दुःसह दुःख सहन किये हैं और कठिन जालमें फँसा हुआ है, तथापि रे मूढ़! तू उसे नहीं छोड़ रहा है और ममताके कारण जान लेनेपर भी उसे नहीं जाना॥२॥ अनेक जन्मोंमें नाना प्रकारके कर्म करके तू ने उन्हीं (कर्मों)के कीचड़में चित्तको सान रखा है। किन्तु विवेक-रूपी जलके बिना तू निर्मल नहीं हो सकता, ऐसा वेदों और पुराणोंने कहा है॥३॥ अपनी भलाई स्वामीरूप, पितारूप और गुरुरूप प्रभुजीसे है, किन्तु तूने हर्षित होकर अपने हृदयमें उन्हें धारण नहीं किया। तुलसीदास कहते हैं कि जिस तालाबको खोदनेमें ही जीवन बीत गया, उस तालाबसे भला प्यास कब बुझ सकती है॥६॥

विशेष

१—'निज हित······आन्यो'—का अर्थ वियोगी हरिजीने लिखा है, "जैसा प्रेम अपने मित्र, स्वामी, पिता और गुरुके साथ किया जाता है, वैसा तूने प्रसन्न होकर कभी हृदयसे भगवान्‌के साथ नहीं किया।" किन्तु गोस्वामीजीके शब्दोंसे यह अर्थ नहीं निकलता।

[८९]

मेरो मन हरि जू! हठ न तजै।
निसि-दिन नाथ देउँ सिख बहु-विधि, करत सुभाउ निजै॥१॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥२॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥३॥

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥४॥

शब्दार्थ—निजै = अपने ही । अनुभवति = अनुभव करती है । अनूकूल = प्रसन्न । गृहपसु = कुत्ता । पदत्रान = जूता । बरजै = मना करें, रोकें ।

भावार्थ—हे प्रभो ! मेरा मन हठ नहीं छोड़ता । हे नाथ ! मैं उसे रातदिन अनेक प्रकारसे शिक्षा देता हूँ, पर यह अपने ही स्वभावानुसार काम करता है ॥१॥ जैसे युवती स्त्री संतान जननेके समय अत्यन्त असह्य कष्टका अनुभव करती है, पर अनुकूल (प्रसव-वेदनासे छुटकारा पाते ही प्रसन्न) होकर वह मूर्खा सारे दुःखोंको भूलकर फिर दुष्ट पतिको भजने लगती है ॥२॥ जैसे लालची कुत्ता घूमता हुआ जहाँ जाता है, वहीं उसके सिरपर जूते पड़ते हैं, फिर भी वह नीच उसी मार्गपर विचरण करता है, इसमें वह मूढ़ कभी भी लज्जित नहीं होता ॥३॥ मैं अनेक प्रकारके यत्न करके हार गया, (पर यह मन) अत्यन्त प्रबल और अजेय है । तुलसीदास कहते हैं कि यह मन तभी वशमें हो सकता है, जब जगत्‌के प्रेरक भगवान् इसे रोकें ॥४॥

विशेष

१—'अतिसै प्रबल अजै'—गीतामें अर्जुनने भगवान्‌से कहा है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी बातका समर्थन इस प्रकार किया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

[९०]

ऐसी मूढ़ता या मनकी ।[१]
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओसकन की ॥१॥

---

१. महामहोपाध्याय पं० सुधाकरजी द्विवेदीका रचा हुआ संस्कृत अनुवाद इस प्रकार है—

एतादृशी मूढ़ता मनसः ।
रामभक्तिसुरसरितं हित्वा, वांछति कणं कुपयसः ॥

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥२॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥३॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥४॥

शब्दार्थ—गच=भूमि, दीवार, फर्श। सेन=बाजपक्षी; 'सेन' शब्द 'श्येन' का अपभ्रंश है। आनन=मुख। पन=प्रतिज्ञा।

भावार्थ—इस मनकी ऐसी मूढ़ता है कि यह श्रीराम-भक्ति-रूपी देवनदी-(गंगा) को त्यागकर ओस-कणकी आशा करता है ॥१॥ जैसे प्यासा पपीहा धुएँके समूहको देखकर उसे मेघ समझ लेता है, किन्तु निकट जानेपर न तो उसे शीतलता मिलती है और न जल ही, उलटा उसे नेत्रोंसे हाथ धो बैठना पड़ता है ॥२॥ जैसे बाज पक्षी शीशेकी दीवारमें अपने शरीरकी निर्जीव छाया देखकर आहारके लिए विशेष आतुर होनेके कारण अपने मुँहकी दशा भूलकर उसपर टूट पड़ता है, परिणाम यह होता है कि उसीका मुँह घायल हो जाता है ॥३॥ हे कृपानिधान! मैं इस मनकी कुचाल कहाँतक कहूँ, आप तो इस दासकी दशा जानते ही हैं। हे प्रभो! तुलसीदासका असह्य दुःख दूर करके अपने प्रणकी लाज रखिये ॥४॥

[९१]

नाचत ही निसि-दिवस मर‍्यो।
तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर‍्यो ॥१॥

धूमपटलमवलोक्य चातको, बुध्वा यथाभ्रमलसः।
लभते तत्र न शीतलमम्भो, दग्वैरिणं च वयसः ॥
श्येनः काचकुट्टिमे दृष्ट्वा, तं विम्बमतिरभसः।
पतित तत्र परपतत्रिरूपे, हानिमुपैति च वचसः ॥
मनसः किं वर्णये जडत्वं, करुणानिधे कुशयसः।
कृत्वाऽत्म पणत्रपां जनस्यापहर दुःखमतितपसः ॥

बहु वासना विबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‍यो।
चर अरु अचर गगन-जल-थल महँ, कौन न स्वाँग कर्‍यो ॥२॥
देव-दनुज, मनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‍यो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हर्‍यो ॥३॥
थके नयन, पद, पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुर्‍यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय बिकल डर्‍यो ॥४॥
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि, सो मोहिं सब बिसर्‍यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‍यो ॥५॥

शब्दार्थ—कंचुकि = वस्त्र। चर = चलनेवाले,चैतन्य। अचर = जड़। गगन = आकाश। स्वाँग = तमाशा।

भावार्थ—रातदिन नाचते ही नाचते मरा। हे हरि! जबसे आपने जीव नाम रख दिया, तभीसे स्थिरता जाती रही ॥१॥ नाना प्रकारके वासनारूपी वस्त्र तथा लोभादि आभूषण धारणकर चर और अचर एवं आकाश, जल और पृथिवीमें ऐसा कौन-सा स्वाँग है जो न किया हो ॥२॥ देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदिमें ऐसा कोई भी नहीं बचा है जिससे मैंने याचना न की हो। किन्तु मेरे दुःसह दारिद्र्य, दोष और दुःखका किसीने भी तो हरण नहीं किया ॥३॥ नेत्र, पैर, हाथ, बुद्धि और बल सब थक गये और सबने मेरा साथ भी छोड़ दिया। अतः हे रघुनाथजी! अब संसार-भयसे डरकर विकल हुआ यह दास आपकी शरणमें आया है ॥४॥ जिन गुणोंपर आप रीझकर वशमें हुआ करते हैं, उन सबको मैं भूल गया हूँ। हे प्रभो! अब तुलसीदासको अपने गृहके द्वारपर पड़ा रहने दीजिये—हटाइये नहीं ॥५॥

विशेष

१—'जब तें जिव नाम धर्‍यो'—यों तो वेदान्तशास्त्रने 'जीव' संज्ञा पड़नेके कई कारण बतलाये हैं, पर उन सबमें अद्वैतवेदान्तका ही मत ग्राह्य है। किन्तु अद्वैतवादमें भी इस विषयमें कई मत हैं—जैसे अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, एक-जीववाद और अनेक जीववाद आदि। प्रत्येक 'वाद' के अनुसार 'जीव'की परिभाषा १३६ वें पदकी टिप्पणीमें दी गयी है। यहाँ

तो केवल इतना ही लिखना विवक्षित है कि जब अविद्या, प्रतिबिम्बरूप चिदा-भास और उसका अधिष्ठान कूटस्थ इन तीनोंका मेल होता है, तब 'जीव' नाम पड़ता है।—यह सिद्धान्त आभासवादका है।

[९२]

माधव जू, मोसम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन-पतंग हीन मति, मोहिं नहिं पूजैं ओऊ ॥१॥
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह, पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति बिषय न तजत हौं, तातें अधिक अयान्यो ॥२॥
महा मोह-सरिता अपार महँ, संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरि-चरन-कमल-नौका तजि, फिरि फिरि फेन गह्यो ॥३॥
अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति, ज्यौं भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि, मन संतोष धरै ॥४॥
परम कठिन भव ब्याल ग्रसित हौं, त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक सरनागत, खगपति-नाथ बिसारी ॥५॥
जलचर-बृंद जाल-अंतरगत होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालच-बस नहिं देखत निज नासा ॥६॥
मेरे अघ सारद अनेक जुग, गनत पार नहिं पावै।
तुलसीदास पतित-पावन प्रभु, यह भरोस जिय आवै ॥७॥

शब्दार्थ—मीन = मछली। पूजैं = पूरा होना, बराबरी करना। बस्य = अधीन। पावक = अग्नि, दीपक। लोह = लोहेकी कँटिया। अयान्यो = मूर्ख। अस्थि = हड्डी। भेक = मेढक। खगपति = गरुड़। सारद = सरस्वती।

भावार्थ—हे माधवजी! मुझ-सा मूर्ख कोई नहीं है। यद्यपि मछली और पतंग बुद्धिहीन हैं, पर वे भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते ॥१॥ पतंगने तो सुन्दर रूपके वशमें होकर (दीपकको) आग नहीं समझा और मछलीने आहारके वशमें होकर लोहेके काँटेको काँटा नहीं जाना; किन्तु मैं विपत्तियोंको देखता हुआ भी विषयोंको नहीं छोड़ रहा हूँ, इससे मैं (मछली और पतंगसे) अधिक मूर्ख हूँ ॥२॥ महामोह-रूपी अपार नदीमें सदा बहता फिरा, भगवान्के चरण-कमलरूपी नौका-

को छोड़कर बारम्बार फेन (विषय-सुखों) पकड़ता रहा ॥३॥ जैसे अत्यन्त भूखा कुत्ता पुरानी हड्डीको भरमुँह पकड़ता है और अपने ही तालूका खून पी-कर मनमें सन्तोष धारण करता है (यह नहीं समझता कि यह खून तो मेरे ही शरीरका है, उसी प्रकार मनुष्य भी विषयोंमें अपने ही बल-वीर्यका नाश करके प्रसन्न होता है) ॥४॥ मैं अत्यन्त कठिन संसार-सर्पसे ग्रसित होनेके कारण बहुत डर गया हूँ और गरुड़-नाथ—(भगवान्) को भूलकर मेढककी शरणमें जाकर निर्भय होना चाहता हूँ ॥५॥ जलमें रहनेवाले जीव जालमें सिमिट-सिमिटकर एक जगह एकत्र हो जाते हैं और लालचवश एक-दूसरेको खाते हैं,—अपना नाश नहीं देखते (ठीक वही हाल मेरा है) ॥६॥ यदि सरस्वती अनेक युगोंतक मेरे पापोंका लेखा लगाती रहें, तो भी पार नहीं पा सकतीं। किन्तु तुलसीदासके जीमें तो यह विश्वास या भरोसा है कि प्रभु (श्रीराम) जी पतितोंका उद्धार करनेवाले हैं (वह मेरा उद्धार अवश्य करेंगे) ॥७॥

[९३]

कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।
जेहि करुना सुनि स्रवन-दीन-दुख, धावत हौ तजि धाम ॥१॥
नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलंब न कीन्हों ॥२॥
दितिसुत त्रास-त्रसित निसिदिन प्रहलाद-प्रतिग्या राखी।
अतुलित बल मृगराज-मनुज-तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी ॥३॥
भूप-सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर-नारी।
बसन पूरि, अरि दरप दूरि करि, भूरि कृपा दनुजारी ॥४॥
एक एक रिपुतें त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव-पीर ॥५॥
लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध कुरुराज-बंधु खल मार।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार ॥६॥

शब्दार्थ—धौं = न जानें। स्रवन = कान। नागराज = गजेन्द्र। दितिसुत = हिरण्यकशिपु। सदसि = सभामें। राखु = रक्षा करो। नर-नारी = अर्जुनकी स्त्री द्रौपदी। मार = कामदेव।

भावार्थ—हे रामजी ! आपने अपनी उस कृपाको न-जानें कहाँ भुला दिया। (किस करुणाको ?) जिस करुणाके कारण आप दीनोंका दुःख कानसे सुनते ही अपना धाम (निवास-स्थान) छोड़कर दौड़ा करते हैं ॥१॥ जब गजेन्द्र-ने अपना बल विचारकर दिलमें हार मान ली और आपके चरणोंमें चित्त लगाया, तब आपने उसकी आर्त्तवाणी सुनते ही गरुड़को छोड़कर (पैदल ही) चल देनेमें देर नहीं की ॥२॥ आपने हिरण्यकशिपुके भयसे रातदिन भीत रहनेवाले प्रह्लादकी प्रतिज्ञा रखी और अतुलित बलशाली सिंह और मनुष्य (नृसिंह) का शरीर धारण करके उस (हिरण्यकशिपु) दैत्यको मारा, वेद इसका साक्षी है ॥३॥ राज-सभामें सब राजाओंको देखकर 'नर'के अवतार अर्जुनकी स्त्री द्रौपदीने जब कहा कि हे प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिये, तब हे दैत्योंके शत्रु ! आपने बड़ी कृपा करके वस्त्रोंका ढेर लगा दिया और शत्रुओं (दुर्योधन, दुःशासन आदि) का घमंड दूर कर दिया ॥४॥ हे रघुवीरजी ! आपने केवल एक-एक शत्रुसे संत्रस्त भक्तोंकी रक्षा की है, किन्तु यहाँ तो मुझे (एक नहीं) बहुत-से शत्रु (लोभ, क्रोध, काम आदि) असह्य कष्ट दे रहे हैं; फिर आप मेरी सांसारिक यातना क्यों नहीं दूर करते ? ॥५॥ लोभरूपी ग्राह (मँगर), क्रोध रूपी दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) और दुष्ट कामदेवरूपी दुर्योधनका भाई (दुःशासन) है। हे प्रभो ! तुलसीदासका यह दारुण दुःख दूर कीजिये ! हे रामजी ! आप उदार हैं (मुझपर उदारता दिखलाइये) ! ॥६॥

विशेष

१—'प्रह्लाद-प्रतिज्ञा राखी'—हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लादको रामका नाम नहीं लेने देता था, किन्तु भक्त प्रह्लाद रामका नाम नहीं छोड़ते थे। जब वह हर तरहसे मना करके हार गया, तब उन्हें एक खम्भेसे बाँधकर मारनेके लिए तैयार हुआ। उसने कहा,—'कहाँ है तेरा राम, बुला उसे।' भक्त प्रह्लादने कहा,—'मोहिमें तोहिमें खड्ग-खम्भमें, घट घट व्यापित राम।' इतना सुनते ही हिरण्यकशिपुने क्रुद्ध होकर उन्हें मारनेके लिए तलवार सँभाली। तबतक भक्त-वत्सल भगवान् नृसिंहरूपमें खम्भा फाड़कर प्रकट हुए और देखते ही देखते उसे चीड़-फाड़कर प्रह्लादके प्रणकी रक्षा की।

२—'वसनपूरि' जब पांडव अपना सर्वस्व, यहाँतक कि द्रौपदीको भी जुएमें हार गये, तब दुर्योधनने दुःशासनके द्वारा महारानी द्रौपदीको पकड़वा मँगाया और भरी सभामें उन्हें नग्न करनेकी आज्ञा दी। दुष्ट दुःशासन द्रौपदीका वस्त्र पकड़कर खींचने लगा, पर सभामें बैठे हुए लोगोंने कुछ नहीं कहा। अन्तमें अपनेको असहाय समझकर द्रौपदीने दीन भावसे भगवान्‌को पुकारा। तुरन्त ही भगवान्‌ने द्रौपदीकी सहायता की। परिणाम यह हुआ कि दुःशासन साड़ी पकड़कर खींचते-खींचते थक गया, पर साड़ी समाप्त न हुई।

३—'लोभ-ग्राह···खल मार'—के ऊपरकी पंक्तिमें जो 'बहु रिपु' कहा गया है, उसे यहाँ स्पष्ट किया गया है। लोभको ग्राह कहनेका यह आशय है कि जिस प्रकार ग्राह मनुष्यको निगल जाता है, उसी प्रकार लोभ भी मनुष्यके अन्तःकरणको आच्छादित कर लेता है। 'दनुजेस-क्रोध' जैसे हिरण्यकशिपु समय-समयपर वचन और क्रिया द्वारा प्रह्लादको पीड़ा पहुँचाया करता था, उसी प्रकार क्रोध भी समय पाकर मनुष्य-शरीरको जलाता है। इसी प्रकार 'कुरुराज-बन्धु खलमार' कहनेका यह भाव है कि जैसे दुःशासन अन्धा होकर भरी सभामें द्रौपदीकी इज्जत लेना चाहता था, उसी तरह काम भी अन्धा है; कामुक पुरुषोंको कुछ नहीं सूझता।

(९४)

काहे ते हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥१॥
पतित-पुनीत, दीन-हित, असरन-सरन कहत श्रुति चारो।
हौं नहिं अधम, सभीत, दीन ? किधौं बेदन मृषा पुकारो ? ॥२॥
खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति तहँ, जहँ हौं हूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान ! परसत पनवारो फारो ॥३॥
जो कलिकाल प्रबल अति होतो, तुव निदेस तें न्यारो।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो ॥४॥
मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम, करहु प्रभाउ तुम्हारो।
यह सामरथ अछत मोहिं त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो ॥५॥

नाहिंन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो ॥६॥

शब्दार्थ—मृषा = मिथ्या। खग = पक्षी (जटायु)। गनिका = वेश्या (पिंगला)। ब्याध = बहेलिया। पनवारो = पत्तल। निदेस = निर्देश, आज्ञा। गारो = प्रतिष्ठा। अछत = रहते हुए भी। चारो = वश।

भावार्थ—हे हरे! आप मुझे किसलिए भुला रहे हैं? हे नाथ! आप अपनी महिमाको और मेरे पापोंको जानते हैं, फिर भी आप मुझे नहीं सँभाल रहे हैं! ॥१॥ चारों वेदोंका कहना है कि आप पतितोंको पवित्र करनेवाले, दीनोंके हितू और अशरणको शरण देनेवाले हैं। तो क्या मैं नीच, भयभीत और गरीब नहीं हूँ? अथवा वेदोंने ही मिथ्या बात कही है? ॥२॥ जहाँ पक्षी (जटायु), गणिका (पिंगला), गजेन्द्र और ('धर्म' नामक) व्याधकी पंक्ति है, वहीं आपने मुझे भी बिठाया है। किन्तु हे कृपानिधान! अब आप किस लज्जावश मेरे सामने परोसी हुई पत्तलको फाड़ रहे हैं? अभिप्राय यह है कि मैं अपनेको पापियोंकी पाँतिमें बैठकर भोजन करनेका अधिकारी समझता था अर्थात् मैं वही स्थान प्राप्त करनेका हकदार था जो स्थान गिद्ध, गणिका, व्याध आदि प्राप्त कर चुके हैं ॥३॥ यदि कलिकाल आपसे अधिक बलवान् होता और आपकी आज्ञा न मानता होता, तो हे हरे! मैं सब प्रतिष्ठा छोड़कर (अर्थात् बदनामी सहते हुए भी) उसके क्रोध करनेपर भी उसका भरोसा रखकर तथा उसके दोषोंको गुण समझकर उसीको भजता ॥४॥ किन्तु आपका तो ऐसा प्रभाव है कि आप मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छरके समान बना देते हैं। यह सामर्थ्य रहते हुए भी जब आप मुझे त्याग रहे हैं, तब हे नाथ! उसमें मेरा क्या वश है! ॥५॥ यद्यपि मैं हर तरहसे हार गया हूँ और मुझे नरकमें पड़नेका भी डर नहीं है, किन्तु दास तुलसीको तो अत्यधिक भय यही है कि आपके नामने मेरे पापोंको नहीं जलाया (संसार यही कहेगा) ॥६॥

विशेष

१—'गनिका'—जनकपुरमें 'पिंगला' नाम्नी एक वेश्या थी। एक दिन वह बड़ी राततक अपने प्रेमीकी प्रतीक्षामें बैठी रही, किन्तु वह न आया। इससे उसे बड़ी ग्लानि हुई। सोचने लगी, यदि मैं इतनी तन्मयताके साथ ईश्वर-

दर्शन की प्रतीक्षा करती, तो मेरा उद्धार हो जाता। बस, उसी दिनसे उसका जीवन-स्रोत बदल गया और भगवान्‌की कृपासे उसका उद्धार हो गया।

२—'व्याध'—इसका अर्थ कुछ टीकाकारोंने वाल्मीकि किया है और कुछ लोगोंने लिखा है कि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके पैरमें तीर मारनेवाले 'जरा' नामक बहेलियेसे तात्पर्य है। दोनोंकी कथाएँ इस प्रकार हैं:—

वाल्मीकि—पहले बहेलिया थे। इनका नाम रत्नाकर था। यह जंगलमें पशुपक्षियोंका शिकार करनेके सिवा बटोहियोंपर डाका डालते थे। पीछे नारदके उपदेशसे जीव-हिंसा छोड़कर उसके विपरीत राम-नाम जपने लगे और मुक्त हो गये। कहा है:—

उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भे ब्रह्म समाना।

'जरा'—भगवान् श्रीकृष्ण एक वृक्षके नीचे पैरके ऊपर दूसरा पैर रखकर लेटे हुए थे। एक बहेलियेने दूरसे भगवान्‌के पैरका तलवा देखकर अनुमान किया कि किसी हरिनकी लाल जिह्वा है। फिर क्या था, उसने लक्ष्य ठीक करके तीर मार दिया। पीछे जब वह भगवान्‌के पास आया, तब बहुत पश्चात्ताप करने लगा। अन्तमें परमात्माका साक्षात् दर्शन होनेके कारण वह व्याध मुक्त हो गया। (कहते हैं कि वह व्याध अंगदका अवतार था। रामावतारमें उसे वर मिला था कि द्वापरमें तुम पितृ-ऋण चुका सकोगे।)

किन्तु यहाँ व्याधका अर्थ न तो वाल्मीकि ही है और न 'जरा' नामक व्याध ही। यहाँपर व्याध आया है, 'धर्म' नामक व्याधके लिए। धर्म नामक व्याधकी कथा श्रीमद्भागवतमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। कथा बहुत बड़ी होनेके कारण यहाँ नहीं लिखी जा रही है। इसकी कथा महाभारतके वनपर्वमें भी है, किन्तु उसका जीवन वृत्तान्त तो अत्यन्त संक्षेपमें है—उपदेश ही अधिक है। पुराणोंमें और भी कई व्याधोंकी भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाएँ पायी जाती हैं। अतः 'व्याध' शब्दसे यदि व्यक्ति-विशेषका अर्थ न निकाल कर व्याध ही अर्थ किया जाय तो भी कोई हानि नहीं।

३—'परसत पनवारो फारो'—एक सज्जनने स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद'जी-के यहाँ इस प्रकार अर्थ किया था—'पानीमें उबाला हुआ फारा परोस रहे हैं?'

उस समय मित्रवर 'निराला'जी भी मौजूद थे। ऊपरका अर्थ सुनकर सब लोग खूब हँसे।

४—'तौ हरि···तजि गारो'—इस पंक्तिका भी वियोगी हरि आदि सब टीकाकारोंने बड़ा ही ऊटपटाँग अर्थ किया है। विस्तार-भयसे उसे यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है।

(९५)

तऊ न मेरे अघ-अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं ॥१॥
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार प्रभूसों मेरी भूरि भलाई भनिहैं ॥२॥
हँसि करिहैं परतीति भगत की, भगत-सिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं ॥३॥

शब्दार्थ—तऊ = तो भी। अनिहैं = लावेंगे। पुंज = समूह। खलल = विघ्न। भनिहैं = कहेंगे। मनिहैं = मानेंगे।

भावार्थ—यदि यमराज सब काम छोड़कर यही विचार (केवल मेरे पापों-का लेखा लगाना ही) अपने दिलमें लावेंगे, तो भी वह मेरे पापों और दुर्गुणों-को न गिन सकेंगे ॥१॥ (उस दशामें) पापियोंके दलके दल भाग खड़े होंगे, और तब यमराज अपने दिलमें उस समयका असमंजस समझेंगे। फिर तो वह अपने अधिकारमें विघ्न पड़ते देखकर भगवान्‌से मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे ॥२॥ उनके (मुखसे प्रशंसा सुनकर) आप भी हँसकर मुझ भक्तका विश्वास करेंगे और मुझे भक्तशिरोमणि मान लेंगे। हे कोशलेश! आपको जैसे-तैसे इस तुलसीदासको अपनाना ही पड़ेगा ॥३॥

विशेष

१—'खलल'—यह शब्द फारसीका है।

(९६)

जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके।
तौ क्यों कटत सुकृत नखते मो पै, बिपुल बृंद अघ-बनके ॥१॥

कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, करम बचन अरु मनके
हारहिं अमित सेष सारद स्रुति, गिनत एक एक छनके ॥२॥
जौ चित चढ़ै नाम-महिमा निज, गुनगन पावन पनके ।
तौ तुलसिहिं तारिहौ विप्र ज्यों दसन तोरि जमगनके ॥३॥

शब्दार्थ—कलुष = पाप । पावन = पवित्र । पन = प्रतिज्ञा । विप्र = ब्राह्मण (अजामिल)।

भावार्थ—हे स्वामी ! यदि आप सेवकके अवगुणोंको मनमें लावेंगे, तो पुण्यरूपी नखसे पापरूपी बड़े-बड़े वनोंके समूह मुझसे कैसे कटेंगे (तात्पर्य यह कि मेरे थोड़े-से पुण्यसे बड़े-बड़े पाप दूर नहीं हो सकते) ॥१॥ मेरे मन, वचन और कर्मसे किये हुए पापोंको कौन कह सकेगा ? मेरे एक एक क्षणके पापोंकी गिनती करनेमें अनेक शेष, सरस्वती और वेद हार जायँगे ॥२॥ यदि आपके चित्तपर अपने नामकी महिमा और (पतितोंको) उद्धार करनेके प्रणकी गुणावली चढ़े, तो जैसे आपने यमदूतोंके दाँत तोड़कर ब्राह्मण-(अजामिल) को तार दिया था, वैसे ही तुलसीको भी तार दीजियेगा ॥३॥

(९७)

जौ पै हरि जनके अवगुन गहते ।
तौ सुरपति कुरुराज बालिसों, कत हठि बैर बिसहते ॥१॥
जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित, केवल प्रेम न चहते ।
तौ कत सुर मुनिवर बिहाय ब्रज, गोप-गेह बसि रहते ॥२॥
जौ जहँ-तहँ प्रन राखि भगत को, भजन प्रभाउ न कहते ।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते ॥३॥
जौ सुतहित लिय नाम अजामिल के अघ अमित न दहते ।
तौ जमभट साँसति-हर हमसे वृषभ खोजि खोजि नहते ॥४॥
जौ जग-विदित पतित-पावन, अति बाँकुर बिरद न वहते ।
तौ बहु कलप कुटिल तुलसीसे, सपनेहुँ सुगति न लहते ॥५॥

शब्दार्थ—कत = क्यों । बिसहते = मोल लेते । बिहाय = छोड़कर । वृषभ = बैल । नहते = नाधते, जोतते । बिरद = बाना । बाँकुर = बाँका, टेढ़ा । लहते = पाते ।

भावार्थ—हे रामजी ! यदि आप अपने भक्तोंके दुर्गुणोंपर ध्यान देते, तो इन्द्र, दुर्योधन और बालिसे क्यों हठपूर्वक वैर मोल लेते ? ॥१॥ यदि आप जप, यज्ञ, योग, व्रत आदि छोड़कर केवल प्रेम ही न चाहते, तो आप देवता और श्रेष्ठ मुनियोंको छोड़कर व्रजके गोपोंके घरमें क्यों निवास करते ? ॥२॥ यदि आप जहाँ-तहाँ भक्तोंकी प्रतिज्ञा रखकर भजनका प्रभाव न कहते, तो हम सरीखे मूढ़ोंका इस कठिन कलिकालके कर्म-मार्गमें किस प्रकार निर्वाह होता ? ॥३॥ पुत्रके निमित्त आपका नाम (नारायण) लेनेवाले अजामिलके अगणित पापोंको यदि आपने भस्म न किया होता, तो यमदूत हम जैसे बैलोंको यातनाके हलमें खोज-खोजकर जोतते ॥४॥ यदि आप जगत्-प्रसिद्ध पतित-पावन रूपका अत्यन्त बाँका बाना न धारण किये होते, तो अनन्त कल्पोंतक कुटिल तुलसी-सरीखे लोगोंको स्वप्नमें भी उत्तम गति न प्राप्त होती ॥५॥

विशेष

१—'सुरपति'—एक बार नारदजी स्वर्गसे पारिजातका पुष्प लाकर रुक्मिणीको दे गये। कृष्ण भगवान्की दूसरी रानी सत्यभामाने उसे लेनेके लिए मान किया। भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रसे युद्ध करके पारिजातका वृक्ष ही उखाड़ लाये। यद्यपि सत्यभामाका मान करना अनुचित था, पर भगवान्ने उसकी भक्तिवश उसके मान करने पर ध्यान न देकर इन्द्रसे वैर किया।

२—'बिसहते'—श्री वियोगी हरिजीने इसका अर्थ किया है 'ठानते' 'कर बैठते'; पर वास्तवमें इसका अर्थ है 'मोल लेना'। बोल-चालकी भाषामें अब भी इस शब्दका प्रयोग होता है। कहा भी है :—

बूढ़ा बर्द बिसाहिये, झीना कापड़ लेय।
अपने करै बिसहनी, दैवहिं दूषन देय ॥

अथवा:—

'तेरे बिसाहे बिसाहत औरनि और बिसाहिकै बेचनहारे।

३—'कुरुराज'—पाँचों पांडवोंका द्रौपदीको रख लेना, जुआ खेलना, जुएम द्रौपदीको हार जाना आदि उनके प्रत्यक्ष दोष थे, पर उनकी भक्ति देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उनके दोषोंपर ध्यान नहीं दिया और उनकी ओरसे दुर्योधन-के साथ वैर किया।

४—'बालि'—सुग्रीवका पक्ष बिलकुल निर्दोष न होनेपर भी भगवान्‌ने उसकी ओरसे बालिको मारा था और सुग्रीवको राजगद्दीपर बिठाया था।

[९८]

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस, होत सदा यह रीति ॥१॥
जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करम की डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी ॥२॥
जाकी मायावस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥३॥
बिस्वंभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति, बेद-बिदित यह लीख।
बलिसों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख ॥४॥
जाको नाम लिये छूटत भव-जनम-मरन दुख-भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि, सोइ जनमे दस बार ॥५॥
जोग-बिराग, ध्यान-जप-तप करि, जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर-भालु चपल पसु पामर, नाथ तहाँ रति मानी ॥६॥
लोकपाल, जम, काल, पवन, रबि, ससि सब आग्याकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत करधारी ॥७॥

शब्दार्थ—अविछिन्न = अखंड। छोरी = खोलना। लीख = लीक, रेखा। रति = प्रीति।

भावार्थ—भगवान् अपने सेवकपर इतना प्रेम करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं। उनकी यह रीति सनातन है ॥१॥ जिस परमात्माने देवता, दैत्य, नाग और मनुष्योंको मजबूत कर्मकी डोरीसे बाँध रखा है, उस अविच्छिन्न परब्रह्मको यशोदाजीने जबर्दस्ती बाँध दिया और उसे वह खोल न सके ॥२॥ जिसकी मायाके वश होकर ब्रह्म और शिवजी भी नाचते-नाचते पार नहीं पा सके, उसे ग्वाल-युवतियोंने हथेलीसे ताल बजा-बजाकर नाच नचाया ॥३॥ यह लीक वेदोंमें प्रसिद्ध है कि भगवान् विश्वम्भर (संसारका भरण-पोषण करनेवाले) हैं, श्रीपति (लक्ष्मीजीके स्वामी) हैं और तीनों लोकोंके नाथ हैं, किन्तु फिर भी भक्त राजा बलिके आगे उनकी कुछ भी प्रभुता

न चली, बल्कि ब्राह्मण बनकर उन्होंने उससे भीख माँगी ॥४॥ जिसका केवल नाम लेनेसे ही संसारके जन्म-मरणरूपी दुःखोंके भारसे छुटकारा हो जाता है, उसी कृपासिन्धुने भक्त अम्बरीषके लिए दस बार अवतार धारण किया ॥५॥ जिसे ज्ञानी मुनि योग, विराग, ध्यान, जप और तप करके खोजते हैं, उस जगन्नाथने बानर, भालू आदि नीच और चंचल पशुओंसे प्रीति की ॥६॥ लोकपाल, यमराज, काल, पवन, सूर्य, चन्द्रमा आदि जिसके आज्ञाकारी हैं, हे तुलसीदास, वही प्रभु, (प्रेमवश) उग्रसेनके द्वारपर हाथमें बेंत लिये खड़े हैं ॥७॥

विशेष

१—'बलिसों······भीख'—राजा बलि भक्त था, इसलिए आवश्यकता पड़नेपर भगवान्‌ने प्रभुत्वसे काम न लेकर वामनरूप धारण करके उससे भीख ही माँगी। यदि वह चाहते तो भीख न माँगकर जबर्दस्ती उसका राज्य छीन लेते; पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

२—'अम्बरीष'—महाराज अम्बरीष परमभक्त वैष्णव और एकादशी व्रतके अनन्य व्रती थे। एक बार द्वादशीके दिन उनके यहाँ दुर्वासा ऋषि आये। राजाने उन्हें निमन्त्रण दिया था। हर द्वादशीको वह बहुत-से ब्राह्मणोंको भोजन कराकर पारण करते थे। दुर्वासा ऋषिने स्नान करने जाकर बड़ी देर लगायी। उस दिन कुछ ही देरके बाद त्रयोदशी थी। द्वादशीमें ही पारण कर लेनेका शास्त्रीय विधान है। विद्वान् ब्राह्मणोंकी आज्ञासे इस दोषके परिहारके लिए राजाने तुलसी-दल-मिश्रित भगवान्‌का चरणोदक ले लिया। इतनेमें दुर्वासा ऋषि स्नान करके आ गये। राजाके पारण करनेका समाचार पाकर वह बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने राजाको शाप दिया कि 'तुझे जो इसी जन्ममें मुक्त हो जाने-का घमण्ड है, वह व्यर्थ है। अभी तुझे दस बार और जन्म लेना पड़ेगा।' यह शाप देनेके बाद उन्होंने कृत्या नामकी राक्षसी भी उत्पन्न की, जो पैदा होते ही अम्बरीषको खा जानेके लिए उनकी ओर दौड़ी। भगवान्‌ने अपने भक्त राजा अम्बरीषकी रक्षाके लिए सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी। उसने कृत्याको मारकर दुर्वासा ऋषिका पीछा किया। दुर्वासा ऋषि चक्रके भयसे तीनों लोकोंमें

घूम आये, पर कहीं भी उन्हें शरण न मिली। अन्तमें वह अम्बरीषके चरणोंपर जाकर गिर पड़े। राजाने स्तुति करके चक्रको शान्त किया। इसके बाद भगवान्‌ने दुर्वासा ऋषिसे कहा कि तुम्हारे दिये हुए शापको मैं ग्रहण करता हूँ। उनके स्थानपर मैं ही दस बार शरीर धारण करूँगा।

३—'उग्रसेन'—कंसके पिता और श्रीकृष्णजीके नानाका नाम था। अत्याचारी कंसका वध करनेके बाद भगवान्‌ने अपने नाना उग्रसेनको राजगद्दीपर बिठाया और स्वयं वह उनके द्वारपाल बने।

[९९]

बिरद गरीब-निवाज राम को।
गावत बेद-पुरान, संभु-सुक, प्रगट प्रभाउ नाम को ॥१॥
ध्रुव, प्रह्लाद, बिभीषन, कपिपति, जड़, पतंग, पांडव, सुदाम को।
लोक सुजस, परलोक सुगति, इन्ह में को है राम काम को ॥२॥
गनिका, कोल, किरात, आदिकवि, इन्हते अधिक बाम को।
बाजिमेध कब कियो अजामिल, गज गायौ कब साम को ॥३॥
छली, मलीन, हीन सब ही अँग, तुलसी सो छीन छाम को।
नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग, जुग-जुग चालत चाम को ॥४॥

शब्दार्थ—पतंग = पक्षी (जटायु, काक-भुशुंडि)। आदिकवि = वाल्मीकि। बाजिमेध = अश्वमेध। साम = सामवेद। छाम = पतला।

भावार्थ—गरीबोंको निहाल करना ही श्रीरामजीका बाना है। वेद, पुराण, शिवजी, शुकदेवजी आदि यही गाते हैं, और उनके नामका प्रभाव तो प्रत्यक्ष है ही ॥१॥ ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, सुग्रीव, जड़ (यमलार्जुन, अहिल्या आदि), पक्षी (जटायु, काकभुशुंडि), पाँचो पांडव और सुदामा इन सबको भगवान्‌ने इस लोकमें सुन्दर यश और परलोकमें मोक्ष दिया है। इनमें श्रीरामजीके कामका कौन है! (अर्थात् इन लोगोंकी ओर ध्यान न देनेसे रामजीका कुछ न बिगड़ता) ॥२॥ गणिका, कोल-किरात (गुह, निषाद आदि) तथा आदिकवि महर्षि वाल्मीकि आदिसे बुरा कौन था? अजामिलने कब अश्वमेध यज्ञ किया था, और गजेन्द्रने कब सामवेद गाया था? ॥३॥ तुलसीके समान छली, मलिन,

सब साधनोंसे हीन तथा दुबला-पतला और कौन है ? किन्तु (राम) नाम-रूपी राजाके प्रबल प्रतापसे संसारमें युग-युगसे चमड़ेका सिक्का भी चलता आ रहा है। अभिप्राय यह है कि राम नामकी महिमासे अधमसे अधम जीव भी मुक्त होते आये हैं ॥४॥

विशेष

'सुदामा'—सुदामा भगवान् कृष्णके सखा थे। वह बहुत ही गरीब थे। अपनी स्त्रीके कहने-सुननेपर वह भेंट देनेके लिए चार मुट्ठी चावल लेकर भगवान्से मिलनेके लिए द्वारका गये। भगवान्ने उनका बड़ा आदर किया और उन्हें समृद्धिशाली बना दिया। कृष्ण-सुदामा-सम्मिलनपर नीचेकी रचना बहुत ही उत्तम है:—

ऐसे बिहाल बिवाइन ते मग कंटक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आयो इतै न किते दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनामय रोये।
पानी परात कै हाथ छुयो नहिं नैनन के जलते पग धोये॥

[१००]

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ ॥१॥
सिसुपनते पितु, मातु, बन्धु, गुरु, सेवक, सचिव, सखाउ।
कहत राम-बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥२॥
खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ ॥३॥
सिला साप-संताप-बिगत भइ, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए (को) पछिताउ ॥४॥
भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ ॥५॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जुगवत ज्यौं निज तनु मरम कुघाउ ॥६॥

कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यौ पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ ॥७॥
अपनाये सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ ॥८॥
निज करुना करतूति भगत पर, चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिरि गाउ ॥९॥
समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम-पसाउ ॥१०॥

शब्दार्थ—खेहर = धूल, राख। रिसौहैं = क्रोधित। काउ = किसीने। अनट = अनीति। अपाउ = अपाय, हानि। भव = शिवजी। ताउ = ताव, क्रोध। समाउ = शक्ति, सहिष्णुता। कनौड़े = उपकृत। छाउ = छाया। चपत = संकुचित। सकृत = एक बार। पसाउ = प्रसन्नता।

भावार्थ—सीतापति रामचन्द्रका शील और स्वभाव सुनकर भी जिस आदमीका मन प्रमुदित नहीं होता, जिसका शरीर पुलकायमान नहीं होता, जिसकी आँखोंमें आँसू नहीं आ जाते, वह धूल फाँकता है. (अर्थात् उस मनुष्यका जीवन निस्तत्त्व है) ॥१॥ बचपनसे ही पिता, माता, भाई, गुरु, सेवक, मन्त्री और सखा (मित्र) कहते हैं कि रामचन्द्रजीका चन्द्रमाके समान मुख स्वप्नमें भी किसीने क्रोधित नहीं देखा ॥२॥ उनके साथ जो उनके तीनों भाई और अन्यान्य बालक प्रतिदिन खेलते थे, उनकी अनीति और हानिको वह बचाते रहते थे और जीतनेपर भी हार मानकर उन्हें पुचकारते-दुलारते तथा स्वयं दाव देते और दूसरोंसे दिलाते थे ॥३॥ उनके पवित्र चरणोंका स्पर्श होते ही पाषाणमूर्त्ति अहल्या शापके दुःखसे मुक्त हो गयी। किन्तु उसे सद्गति देनेका तो उनके मनमें कुछ भी हर्ष न हुआ, हाँ, इस बातका पछतावा अवश्य हुआ कि मैंने ऋषि-पत्नीको पैरसे छू दिया ॥४॥ शिव-धन्वा तोड़कर राजाओंका मान भंग करनेपर परशुरामजी तावमें आ गये; किन्तु श्रीरामजीने उनका अपराध क्षमा करके और स्वयं भी उनके पैरोंपर गिरकर लक्ष्मणजीके कटु वाक्यको क्षमा कराया। भला इतनी सहिष्णुता किसमें है ? ॥५॥ दशरथने कहा राज्य देनेके लिए, और स्त्रीके वशमें होकर दिया वन; इसी बातकी ग्लानिमें

वह मर भी गये। (वन देनेवाली) ऐसी बुरी माता (कैकयी) का मन भी आप इस प्रकार रखते आये (यानी कैकयीकी रुचिके अनुकूल काम करते आये) जैसे कोई अपने शरीरके मर्मस्थानके बुरे घावकी रक्षा करे ॥६॥ बन्दर (हनुमान्‌जी) की सेवापर मुग्ध होकर आप उपकृत हुए और बोले, 'हे पवन-कुमार! यहाँ आ, मेरे पास तुझे देने योग्य कुछ भी नहीं है; हाँ, इस बातका तू मुझसे सनद लिखा ले कि मैं तेरा ऋणी हूँ और तू मेरा धनी (महाजन) है' ॥७॥ सुग्रीव और विभीषणको अपना लेनेपर भी उन लोगोंने छलकी छाया नहीं छोड़ी। (फिर भी आप उन्हें अपनाये ही रह गये) और भरतजीकी सभामें उन दोनोंकी ससम्मान सराहना करते हुए आपका हृदय तृप्त ही नहीं होता था ॥८॥ भक्तोंपर आपने जो-जो कृपा और उपकार किये हैं, उनकी तो चर्चा चलते ही आप संकुचित या लज्जित हो जाते हैं, पर जो एक बार भी आपको प्रणाम करता है और शरणमें आ जाता है, उसका आप यश बखानते हैं और (दूसरोंसे उसका यश) सुनकर भी कहते हैं कि 'फिर कहो' ॥९॥ ऐसे श्रीरामजीकी गुणा-वली समझ-समझकर (प्रत्येक मनुष्यको) अपने हृदयमें प्रेम बढ़ाना चाहिये। तुलसीदास कहते हैं कि इससे तू अनायास ही श्रीरामजीके चरणोंका प्रेमानन्द पा जायगा ॥१०॥

विशेष

१—'खेलत संग······दोउ'—भरतजीने भी यही कहा है—

'हारेउ खेल जितावहु मोहीं।'

२—'अपना ये······छल छा'—टीकाकारोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है:—'सुग्रीवने अपने सहोदर बालिकी स्त्री ताराको और विभीषणने अपने भाई रावणकी स्त्री मन्दोदरीको रख लिया था। यही छलकी छाया है।' किन्तु विचार-णीय बात तो यह है कि यदि उन दोनोंने अपने-अपने भाईकी स्त्रीको रख लिया था तो इसमें उन्होंने रामजीके साथ कौनसा छल किया? क्योंकि यह तो उनका चारित्रिक दोष कहा जा सकता है, छल नहीं। वास्तवमें इसका अर्थ यह है कि जिस समय रामजी अवधपुरीमें आकर भरतसे मिले हैं, उस समय अपूर्व भ्रातृमिलन देखकर थोड़ी देरके लिए सुग्रीव और विभीषणके हृदयमें

यह भाव पैदा हुआ कि हाय ! रामजी स्वयं तो इस प्रकार अपने भाईसे मिल रहे हैं और उधर इन्होंने हम लोगोंको फुसलाकर हमारे भाईका वध किया। हम लोग भी कैसे अभागे हैं कि अपनेसे ही अपने लायक (!) भाईका वध शत्रुके हाथसे करा डाला। तात्पर्य कि यह बात असह्य है और रामजीसे बदला लेने योग्य है। बस यही सुग्रीव और विभीषणका छल है। यह कथा वाल्मीकीय रामायणमें लिखी है। अथवा 'छल छाउ' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि रामजीने तो सुग्रीव और विभीषणको अपना लिया, पर उन लोगोंने कपट-भाव नहीं छोड़ा। अर्थात् उनके भीतर तो भाईकी स्त्रीके साथ अगम्यागमनरूप महापाप करने एवं ऐश्वर्यभोग करनेकी प्रबल वासना थी और ऊपरसे उन दोनोंने कुछ और ही बात कही। उदाहरणार्थ सुग्रीवने रामजीसे कहा था कि—

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥

इसी प्रकार विभीषणने भी कहा था कि—

'उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही॥'

किन्तु पीछे दोनोंने ही अपनी बातोंपर ध्यान नहीं दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि सुग्रीव और विभीषणके मनमें तो सुखोपभोगकी लालसा थी, पर उन दोनोंने रामजीसे बनावटी बात कही थी। भला यह अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ छल नहीं तो और क्या है ! श्रीरामजीने उनका यह कपटभाव जानते रहनेपर भी शरणमें आनेके कारण उन दोनोंको अपना लिया और फिर कभी नहीं छोड़ा।

३—'अपनाये······हृदय अघाउ'—इसका अर्थ वियोगी हरिजीने इस प्रकार किया है—'यद्यपि सुग्रीव और विभीषणने अपना कपटभाव नहीं छोड़ा, पर आपने उन्हें अपने शरणमें ले ही लिया। और भरतजीकी तो सभामें सदा प्रशंसा करते रहते हैं, प्रशंसा करते-करते तृप्ति ही नहीं होती।' इस अर्थसे एक तो यह भाव प्रकट होता है कि सुग्रीव और विभीषणका कपटभाव प्रकट होनेके बाद रामजीने उन्हें अपनाया था और दूसरा भाव यह प्रकट होता है कि भरतकी प्रशंसा करनेमें रामजी सन्तुष्ट नहीं होते। किन्तु यथार्थतः ऐसा नहीं है। उन दोनोंने भगवान्‌के अपनानेके बाद अपने कपटभावका परिचय दिया

था; किन्तु उनका कपटभाव होनेपर भी रामजी उन्हें अपनाये ही रह गये—छोड़ा नहीं। दूसरी बात यह कि यदि श्रीरामजी 'भरतजीकी प्रशंसा करते रहते हैं', तो इसमें रामजीकी कौन-सी विशेषता है? क्योंकि भरतजी तो प्रशंसा योग्य थे ही। अतः वियोगी हरिजीका अर्थ गोस्वामीजीके भावके सर्वथा विरुद्ध और असंगत है। रामजी अपने प्रिय भाई भरतकी प्रशंसा नहीं करते बल्कि भरत-सभामें भरतजीसे सुग्रीव और विभीषणकी प्रशंसा करते हैं। यहाँ ग्रन्थ-कारका यही भाव है। देखिये न, गोस्वामीजीने रामायणमें लिखा भी है:—

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥

(१०१)

जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥१॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥२॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥३॥

शब्दार्थ—कौने = किस। बराइ = चुनकर। कवन = किस।

भावार्थ—हे नाथ! मैं आपके चरणोंको छोड़कर कहा जाऊँ? संसारमें 'पतित-पावन' नाम किसका है? दीनजन किसे बहुत प्यारे हैं? ॥१॥ किस देवताने अपने बानेकी लाज रखनेके लिए जबर्दस्ती कर करके अधमोंको चुनकर उनका उद्धार किया है? पक्षी (जटायु), मृग (मारीच), व्याध (वाल्मीकि), पाषाण (अहल्या), जड़वृक्ष (यमलार्जुन) और यवनको किस देवताने तारा? ॥२॥ देवता, दैत्य, मुनि, नाग और मनुष्य ये सब बेचारे मायाके अधीन हैं। अब हे प्रभो! यह तुलसीदास अपनेको उन लोगोंके हाथोंमें क्यों सौंपे, अपना स्वाभिमान क्यों खो दे ॥३॥

विशेष

१—'मृग'—रावणका मामा मारीच कपटी मृग बनकर भगवान्‌के सामने आया था। भगवान्‌ने उसे मारकर मुक्त कर दिया था। गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

अन्तर प्रेम तासु पहिचानी। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि भवानी॥

(१०२)

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु, मोहिं कृपा करि दीन्हों॥१॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके, एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥२॥
बिषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥३॥
कृपा-डोरि बंसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
येहि बिधि बेधि हरहु दुख मेरो, कौतुक राम तिहारो॥४॥
हैं स्रुति-बिदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास येहि जीव मोह-रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥५॥

शब्दार्थ—मीन = मछली। बंसी = मछली फँसानेकी काँटिया।

भावार्थ—हे हरे! आपने बड़ा अनुग्रह किया। आपने कृपा करके मुझे साधनोंका स्थान, देवताओंके लिए दुर्लभ (मनुष्य) शरीर दे दिया॥१॥ आपका एक एक उपकार करोड़ों मुखसे नहीं कहा जा सकता; फिर भी हे नाथ! मैं कुछ और माँगूँगा। आप परम उदार हैं, वह मुझे दीजिये॥२॥ मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जलसे कभी एक पलके लिए भी अलग नहीं होता। इससे मैं अनेक योनियोंमें जन्म लेकर अत्यन्त दारुण कष्ट सहन करता हूँ॥३॥ (इस मनमच्छको पकड़नेके लिए) हे रामजी! अपनी कृपाकी डोरी और अपने चरण-चिह्न अंकुशको काँटिया बनाइये। उस बंसीमें परम प्रेम रूपी कोमल चारा लगा दीजिये। इस प्रकार (मनरूपी मछलीको) बेधकर मेरा दुःख दूर कीजिये। इसमें आपका कौतुक भी होगा॥४॥ यों तो वेदोंमें बहुत-से उपाय (संयम, जप, तप

आदि) विदित हैं और सब देवता भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु यह दीन किस-किसका निहोरा करे ? तुलसीदास कहते हैं कि जिसने इस जीवको मोह-रूपी रस्सीमें बाँध रखा है, वही इसे छोड़ सकता है ॥५॥

विशेष

१—गोस्वामीजीने इस पदमें बड़ा ही अपूर्व और अलौकिक रूपक बाँधकर सरकारकी सेवामें अपनी माँग पेश की है। इसमें विरक्ति और अनुरक्तिका सजीव सिद्धान्त है। मनको मीन बनाया है और विषयोंको जल; जिस प्रकार मछलियोंमें चंचलता होती है, उसी प्रकार मन भी अत्यन्त चंचल है। जिस प्रकार जलका बहाव स्वाभाविक ही अधोगामी होता है, उसी प्रकार विषय-वासनाका परिणाम भी अधोगामी है। जिस प्रकार मछली एक क्षणके लिए भी जलसे पृथक् नहीं होना चाहती, उसी प्रकार मन भी विषयोंको नहीं छोड़ना चाहता।

[१०३]

यह विनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई ॥१॥
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति, कछु, रिधि-सिधि, बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥२॥
कुटिल करम लै जाइ मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िपो, कमठ-अण्ड की नाई ॥३॥
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिट इक ठाई ॥४॥

शब्दार्थ—हेतु-रहित = कारणरहित, निष्काम। बरिआई = जबर्दस्ती। कमठ = कछुआ सगाई = नाता, सम्बन्ध।

भावार्थ—हे रघुवीर स्वामी! मेरी यही विनती है कि आप इस जीवकी जड़ता और दूसरोंका आशा-भरोसा तथा विश्वास दूर कर दीजिये ॥१॥ मैं मुक्ति, सुबुद्धि, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि तथा बहुत बड़ाई आदि कुछ भी नहीं चाहता। हे रामजी! (सिर्फ इतनी ही कामना है कि) आपके चरणोंमें मेरा

निष्काम प्रेम दिनोंदिन अधिकसे अधिक बढ़ता जाय ॥२॥ मुझे यह बुरा कर्म जहाँ-जहाँ (जिस-जिस योनिमें) अपनी जबर्दस्तीसे ले जाय, वहाँ-वहाँ आप वैसे ही क्षणभरके लिए भी अपनी कृपा न हटाइयेगा, जैसे कछुआ अपने अण्डेको नहीं छोड़ता ॥३॥ तुलसीदास कहते हैं कि इस संसारमें जहाँतक इस शरीरका प्रेम, विश्वास और नाता है, वह सब एक जगह सिमिटकर केवल परमात्मासे ही हो ॥४॥

[१०४]

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥१॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-विमुख न पैहौं।
मन-समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं ॥२॥
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं ॥३॥
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥४॥

शब्दार्थ—नैहौं=प्रणाम करूँगा। छर=भारी। भार=बोझा।

भावार्थ—मैं श्रीजानकीनाथपर बलि जाऊँगा (अपनेको निछावर कर दूँगा)। मेरा मन कह रहा है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंको छोड़कर अब मैं चलायमान होकर कहीं न जाऊँगा ॥१॥ मेरे हृदयमें यह विश्वास उत्पन्न हो गया है कि भगवान्‌के चरणोंसे विमुख होनेपर मुझे स्वप्नमें भी सुख न मिलेगा। मनके सहित इस शरीरके अन्य निवासियों—(इन्द्रियों) को मैं यही उपदेश दूँगा कि ॥२॥ न तो मैं अपने कानोंसे (रामजीकी कथा छोड़कर) किसी औरकी कथा सुनूँगा, और न जिह्वासे किसी दूसरेका गुणगान करूँगा। और किसीकी ओर देखनेसे नेत्रोंको रोकूँगा, केवल अपने इष्टदेव-(श्रीरामजी) को ही सिर नवाऊँगा ॥३॥ अपने स्वामीसे स्नेह-सम्बन्ध जोड़कर और तमाम स्नेह-सम्बन्धोंको बहा दूँगा। तुलसीदास कहते हैं कि मैं इस संसारमें जिसका दास कहाऊँगा, उसीको अपना यह भारी बोझा सौंप दूँगा ॥४॥

[१०५]

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥१॥
पायेउँ नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥३॥

शब्दार्थ—नसानी = व्यर्थ समय नष्ट हुआ । सिरानी = बीत गयी । डसैहौं = बिछौना बिछाऊँगा । खसैहौं = गिराऊँगा ।

भावार्थ—अबतक तो मेरा समय व्यर्थ नष्ट हुआ, पर अब मैं अपना जीवन न बिगाड़ूँगा । रामजीकी कृपासे संसार-रूपी रात्रि बीत चुकी है, अब जागनेपर (विरक्तिका भाव उत्पन्न होनेपर) फिर (सोनेके लिए) बिछौना न बिछाऊँगा (मायामें न फँसूगा) ॥१॥ मैं रामनाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि पा गया हूँ, अब उसे हृदय-रूपी हाथसे न गिराऊँगा । श्रीरामजीके पवित्र और सुन्दर साँवले रूपकी कसौटीपर अपने चित्त-रूपी सोनेको कसूँगा ॥२॥ अबतक मुझे परवश जानकर ये इन्द्रियाँ मुझपर हँसती रहीं, किन्तु अब मैं अपने वशमें होकर अपनी हँसी न कराऊँगा । तात्पर्य, अब मैं मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हूँ, ये मुझे विषयोंकी ओर खींचकर न ले जा सकेंगी । तुलसीदास कहते हैं कि अब मैं प्रण करके अपने मन-रूपी भ्रमरको भगवच्चरणारविन्दमें टिकाऊँगा ॥३॥

विशेष

१—'स्यामरूप······'कसौटी'—भगवान्‌का शरीर श्याम है और कसौटी, जिसपर सोना कसा जाता है—उसका रंग भी श्याम है । इसलिए यह उपमा सर्वथा सार्थक है ।

२—'परबस······हँसैहौं'—सब इन्द्रियाँ मनके अधीन हैं और मन जीवके अधीन है । किन्तु इन्द्रियोंकी विषयासक्तिसे जीव ही इन्द्रियोंके अधीन हो जाता है । जब जीव इन्द्रियोंपर अधिकार कर लेता है, वे स्वेच्छानुसार कुमार्गपर जाने नहीं पातीं, तब जीवको स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है । यों तो जीव

स्वतन्त्र नित्य-मुक्त है ही (गोस्वामीजीने भी लिखा है—'ईश्वर अंस जीव अविनासी। सहज अमल चेतन सुखरासी), किन्तु जबतक वह जितेन्द्रिय नहीं हो जाता, तबतक स्वतन्त्र रहनेपर भी परतन्त्र बना रहता है।

३—१०४ वें और १०५ वें पदोंमें महाकवि तुलसीदासजीने परमात्माके सामने अपना कलेजा निकालकर रख दिया है। बहुत सुन्दर !

राग रामकली

(१०६)

महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई।
गरुअ, गुनरासि, सर्बग्य, सुकृती, सूर,
सील-निधि, साधु तेहि सम न कोई ॥१॥
उपल-केवट-कीस-भालु-निसाचर-सबरि-
गीध सम-दम-दया-दान-हीने।
नाम लिय राम किय परम पावन सकल,
नर तरत तिनके गुनगान कीने ॥२॥
व्याध अपराध की साध राखी कहा,
पिंगलै कौन मति भगति भेई।
कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम,
कौन गजराज धौं बाजपेयी ॥३॥
पांडु-सुत, गोपिका, बिदुर, कुबरी, सबहिं,
सुद्ध किय सुद्धता लेस कैसो।
प्रेम लखि कृस्न किये आपने तिनहुँ को,
सुजस संसार हरिहर को जैसो ॥४॥
कोल, खस, भील, जवनादि खल राम कहि,
नीच ह्वै ऊँच पद को न पायो।
दीन-दुख-दवन श्रीरवन करुना-भवन,
पतित-पावन बिरद बेद गायो ॥५॥

मंदमति, कुटिल, खल-तिलक तुलसी सरिस,
भो न तिहुँलोक तिहुँकाल कोऊ।
नाम की कानि पहिचानि जन आपनो,
ग्रसित कलि-ब्याल राख्यो सरन सोऊ ॥६॥

शब्दार्थ—रामादरयो = (राम + अदरयो) रामने आदर किया। गरुअ = गम्भीर। उपल = पाषाण (अहिल्या)। कीस = बन्दर। भेई = सींची हुई, भींगी हुई। सोमजाजी = सोमयज्ञ करनेवाला। बाजपेयी = अश्वमेध यज्ञ करनेवाला। खस = जाति-विशेष। सरिस = समान। भो = हुआ। कानि = लज्जा।

भावार्थ—जिसका भगवान् श्रीरामजीने आदर किया, वही धन्य है! (जिसका रामजी आदर करते हैं) उसके समान गम्भीर, गुणराशि, सर्वज्ञ, पुण्य-वान्, वीर, अत्यन्त सुशील और साधु दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ (देखिये न) अहल्या, निषाद, वानर, भालू, राक्षस, शबरी, जटायु आदि शम, दम, दया और दान आदि गुणोंसे हीन थे, किन्तु नाम लेनेसे ही श्रीरामजीने इन सबको इतना परम पवित्र कर दिया कि उनका गुणगान करनेसे मनुष्य तर जाता है ॥२॥ व्याधने अपराध करनेमें कौन-सी साध बाकी रख छोड़ी थी (क्या उठा रखा था)? अथवा पिंगला नाम्नी वेश्याकी ही बुद्धि कौन-सी भक्तिसे सींची (भींगी) हुई थी? अधम अजामिलने कब सोमयज्ञ किया था, और गजेन्द्र कौन-सा अश्वमेध यज्ञ करनेवाला था? ॥३॥ पांडवों, गोपियों, बिदुर और कुबरी आदिको, जिन्हें इस बातका रंचमात्र भी ज्ञान न था कि शुद्धता क्या वस्तु है—आपने पवित्र कर दिया। हे श्रीकृष्णजी! आपने प्रेम देखकर इन्हें भी अपना लिया। उसीका यह परिणाम है कि संसारमें उनका सुन्दर यश विष्णु और शिवकी तरह छा रहा है ॥४॥ कोल, खस, भील, यवन आदि खलोंमें ऐसा कौन है जिसने राम-नाम उच्चारण करके नीच होनेपर भी ऊँचा पद नहीं पाया? दीनोंका दुःख दूर करनेवाले, तथा करुणाके स्थान लक्ष्मीपति श्रीरामजीका पतितोंको पवित्र करना ही बाना है—ऐसा वेदोंने कहा है ॥५॥ तुलसीदासके समान मन्द-बुद्धि, कुटिल और खल-शिरोमणि तीनों लोकमें और तीनों कालमें कोई नहीं हुआ; फिर भी अपने नामका लिहाज करके तथा अपना दास जानकर कलिकाल-रूपी सर्पसे ग्रसित इस तुलसीदासको भी श्रीरामजीने अपनी शरणमें रख लिया ॥६॥

विशेष

१—'उपल'—अहिल्या; ४३ पदके 'विशेष'में देखिये ।

२—'केवट'—वन-यात्राके समय गंगा-तटपर पहुँचकर भगवान्‌ने केवटसे नाव माँगी थी । उसने प्रेम-विह्वल होकर कहा थाः—

> इहि घाटते थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू ।
> परसे पग धूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
> तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ।
> बरु मारिय मोहि बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥

३—'सबरि'—शबरी नामकी भीलनीको मतंग ऋषिकी सेवा करते-करते ईश्वर-भक्ति हो गयी थी । जब श्रीरामजी उसके स्थानपर पहुँचे, तब उसने चख-चखकर जूठे बेर भगवान्‌को खिलाये । उसे भगवान्‌ने नवधा भक्तिका उपदेश देकर मुक्त कर दिया था । नवधा भक्तिका लक्षण यह हैः—

> आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ।
> निष्ठा वृत्तिस्तपोदानं नवधा कुललक्षणम् ॥

४—'गीध'—जटायु; ४३ पदके 'विशेष'में देखिये ।

५—'पिंगला'—९४ पदके 'विशेष'में देखिये ।

६—'भेई' शब्दका अर्थ श्रीवियोगी हरिजीने 'लगाई' लिखा है; किन्तु वास्तवमें इस शब्दका अर्थ है 'सींचा' भिगोया या तर किया ।

७—गजराज—८३ पदके विशेषमें देखिये ।

८—'बिदुर'—दासीपुत्र थे । वह श्रीकृष्ण भगवान्‌के अनन्य भक्त थे । इसीसे हस्तिनापुरमें जानेपर भगवान् कौरवोंके घर न जाकर बिदुरके ही अतिथि हुए थे । जिस समय भगवान् वहाँ पहुँचे, उस समय बिदुर घरमें नहीं थे । उनकी स्त्रीने ही श्रीकृष्णका सत्कार किया । वह केले लेकर प्रभुजीको खिलाने बैठी; पर प्रेममें विभोर होनेके कारण केलोंको छीलकर नीचे गिराने लगी और छिलके भगवान्‌के हाथोंमें देने लगी । प्रेमके भूखे भगवान् प्रसन्न होकर उन छिलकोंको ही खाने लगे ।—विदुरके साथ भगवान्‌का सख्य भाव था ।

९—'कुबरी'—कंसकी दासी थी । कंसको मारकर लौटते समय भगवान् इसके अतिथि बने थे । यह भगवान्‌की परम भक्त थी ।

राग बिहाग बिलावल

[१०७]

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन, सुठि सुन्दर स्याम ॥१॥
सिय-समेत सोहत सदा छवि अमित अनंग।
भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारु निषंग ॥२॥
बलि-पूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति ॥३॥
देहि सकल सुख, दुख दहै, आरत-जन-बन्धु।
गुन गहि, अघ-औगुन हरै, अस करुनासिन्धु ॥४॥
देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान।
सबको प्रभु, सबमें बसै, सबकी गति जान ॥५॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ॥६॥

शब्दार्थ—नीको = अच्छे। निषंग = तरकस। भलो = अच्छा मानते हैं, प्रसन्न होते हैं। औगुन = दोष। बद = कहते हैं।

भावार्थ—कोशलाधीश श्रीरामजी मेरे अच्छे देवता हैं। उनके सुन्दर नेत्र कमलके समान हैं और मनोहर श्याम शरीर बड़ा ही लावण्यमय है ॥१॥ वह अनेक कामदेवोंके समान शोभावाले हैं और सदैव महारानीजीके साथ शोभित रहते हैं। अपनी विशाल भुजाओंमें धनुष बाण लिये रहते हैं और कमरमें सुन्दर तरकस बाँधे हुए हैं ॥२॥ वह बलि और पूजा नहीं चाहते; चाहते हैं, केवल प्रेम। स्मरण करते ही वह प्रसन्न हो जाते तथा सबको पवित्र भी कर देते हैं ॥३॥ वह दुःखोंका नाश करके हर तरहका सुख देनेवाले हैं और दीन-जनोंके बन्धु हैं। वह ऐसे करुणा-सागर हैं कि गुणोंको ग्रहण करते और पाप तथा दुर्गुणोंको हर लेते हैं ॥४॥ वेदों और पुराणोंका कथन है कि देश और काल सदैव उन्हींसे परिपूर्ण रहते हैं, वह सबके स्वामी हैं, सबमें निवास करते हैं और सबकी गति जाननेवाले हैं ॥५॥ करोड़ों तरहकी कामनाओंसे प्रेरित होकर बहुत-से देवताओं-

को कौन पूजने जाय। तुलसीदास कहते हैं कि उन्हीं श्रीरामजीकी सेवा करनी चाहिये जिनकी पूजा शिवजी किया करते हैं ॥६॥

विशेष

१—'नीको'—श्रीवियोगी हरिजीने 'नीको' शब्दका अर्थ 'सर्वश्रेष्ठ' किया है।

(१०८)

बीर महा अवराधिये, साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय ॥१॥
बेगि, बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस।
बीज मंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस ॥२॥
प्रेम-बारि-तरपन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय-समिध, अगिनि छमा, ममता-बलि देहु॥३॥
अघ-उचाटि, मन बस करै, मारै मद-मार।
आकरषै सुख-संपदा-संतोष-बिचार ॥४॥
जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभु पथ चढ्यो, जौ लेहु निबाहि ॥५॥

शब्दार्थ—बीजमंत्र = मूलमंत्र। समिध = हवनकी लकड़ी। अघ = पाप। उचाटि = छ महाप्रयोगोंमें उच्चाटन एक प्रयोग है। मार = कामदेव।

भावार्थ—महावीर श्रीरामजीकी आराधना कीजिये, क्योंकि उन्हें साध लेनेसे सब काम सिद्ध हो जाता है। यह बात सब लोग जानते हैं कि वह सब काम पूरा कर देते हैं ॥१॥ बस, अब देर न कीजिये, शीघ्र उपदेश लीजिये, और वही मूलमंत्र जपिये, जिसे शिवजी जपते हैं ॥२॥ (मन्त्रजपकी विधि कहते हैं) प्रेमरूपी जलसे तर्पण करना उत्तम है। यहाँ स्वाभाविक स्नेहरूपी घी है, संशय (इस कार्यसे सिद्धि होगी या नहीं, इस प्रकारका भाव) ही समिध है और क्षमा ही अग्नि है। (वीरकी आराधनामें बलि चाहिये, अतः कहते हैं कि) उसमें ममताकी बलि दो ॥३॥ (इस प्रकार सब कार्य करके) पापोंका उच्चाटन करके मनको वशमें करना चाहिये, अहंकार और कामदेवका मारण तथा सन्तोष और विचाररूपी सुख-सम्पत्तिका आकर्षण करना चाहिये ॥४॥ जिन लोगोंने इस प्रकार

भजन किया, उन्हें श्रीरघुनाथजी मिले हैं। अब हे प्रभो! तुलसीदास आपके पथपर चढ़ा है, यदि आप निवाह लें (तो वह आपतक पहुँच जायगा) ॥५॥

विशेष

१—'लीजै उपदेस'—उपदेस देना गुरुका कार्य है। वास्तवमें बिना गुरुके भवसागरसे पार होना असम्भव है। गोस्वामीजीने कहा भी है :—

बिनु गुरु भव-निधि तरै न कोई। जौ बिरंचि संकर सम होई ॥

किन्तु गुरु वही है, जो अज्ञानान्धकारको दूर करे। देखिये:—

गुकारोस्त्वन्धकारस्यादुकारस्त्वं निरोधकः।
अन्धकारविनाशित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥

(१०९)

कस न करहु करुना हरे! दुख हरन मुरारि।
त्रिबिधताप-संदेह-सोक-संसय-भय-हारि ॥१॥
इक कलिकाल-जनित मल, मतिमंद, मलिन-मन।
तेहि पर प्रभु नहिं कर सँभार, केहि भाँति जियै जन ॥२॥
सब प्रकार समरथ प्रभो, मैं सब बिधि दीन।
यह जिय जानि द्रवौ नहीं, मैं करम बिहीन ॥३॥
भ्रमत अनेक जोनि रघुपति, पति आन न मोरे।
दुख-सुख सहौं, रहौं सदा सरनागत तोरे ॥४॥
तो सम देव न कोउ कृपालु, समुझौं मन माहीं।
तुलसिदास हरि तोषिये, सो साधन नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—सँभार = रक्षा। आन = दूसरा। तोषिये = सन्तोष दीजिये।

भावार्थ—हे हरे! हे मुरारे!! आप तो दुःखोंके हरनेवाले हैं, फिर मुझपर कृपा क्यों नहीं करते? आप तीनों तापोंका तथा सन्देह, शोक, संशय और भयका हरण करनेवाले हैं ॥१॥ एक तो कलिकाल-जनित पापोंसे यों ही बुद्धि मन्द हो गयी है तथा मन मलिन हो गया है, तिसपर हे प्रभो! आप मेरा सम्भार भी नहीं करते, (अब आप ही बतावें कि) यह दास किस प्रकार जिये ॥२॥ हे प्रभो! आप सब तरहसे सामर्थ्यवान् हैं और मैं सब तरहसे दीन हूँ। क्या आप

अपने दिलमें यह जानकर मुझपर नहीं पिघल रहे हैं कि मैं कर्म-हीन (भाग्य-हीन) हूँ ? ॥३॥ हे रघुनाथजी ! मैं अनेक योनियोंमें भ्रम रहा हूँ, मेरे लिए दूसरा कोई स्वामी नहीं है। इसीसे मैं दुःख-सुख सहता हुआ सदा आपकी शरणमें आकर रहता हूँ ॥४॥ आपके समान कृपालु दूसरा कोई भी देवता नहीं है, यह मैं अपने मनमें खूब समझ रहा हूँ। किन्तु हे नाथ ! आप तुलसीदासको सन्तोष दीजिये, क्योंकि (मेरे पास) वह साधन नहीं है जिससे आप प्रसन्न होते हैं। अर्थात् तुलसी-दास भाग्य और उपाय दोनोंसे रहित है, आप ही उसका कल्याण करें ॥५॥

(११०)

कहु केहि कहिय कृपानिधे ! भव-जनित बिपति अति।
इंद्रिय सकल बिकल सदा, निज निज सुभाउ रति ॥१॥
जे सुख-संपति, सरग नरक संतत सँग लागी।
हरि ! परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी ॥२॥
मैं अति दीन, दयालु देव सुनि मन अनुरागे।
जो न द्रवहु रघुबीर धीर, दुख काहे न लागे ॥३॥
जद्यपि मैं अपराध-भवन, दुख-समन मुरारे।
तुलसिदास कहँ आस इहै बहु पतित उधारे ॥४॥

शब्दार्थ—बिकल = व्याकुल। मोर = मेरा।

भावार्थ—हे कृपानिधे ! कहिये, संसार-जनित भारी विपत्तियोंको मैं किससे कहूँ ? सब इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभावकी प्रीतिमें सदा विकल रहती हैं ॥१॥ हे हरे ! मेरा अभागा मन भी आपको छोड़कर वही यत्न कर रहा है जिससे सुख-सम्पत्ति, स्वर्ग-नरकका बखेड़ा सदैव साथ लगा रहे ॥२॥ मैं अत्यन्त दीन हूँ। देव (श्रीरामजी) दयालु हैं, यह सुनकर मनमें प्रसन्नता हुई। हे धैर्यवान् श्रीरघुनाथजी ! यदि आप द्रवीभूत न होंगे तो भला मुझे दुःख कैसे न होगा ? ॥३॥ यद्यपि मैं अपराधोंका घर हूँ, पर हे मुरारे ! आप तो दुःखोंका शमन करनेवाले हैं न ! तुलसीदासको यही भरोसा है कि आपने बहुत-से पतितों-को तार दिया है (इसलिए तुलसीदासको भी तारेंगे) ॥४॥

(१११)

केसव ! कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ॥१॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न मरै भीति दुख, पाइय इहि तनु हेरे ॥२॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥३॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥४॥

शब्दार्थ—चितेरे=चित्रकार। हेरे=ढूँढ़नेसे। रविकर-नीर=ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी किरणोंसे मरुभूमि पर जो जलका भ्रम होता है, उसीको 'रविकर-नीर' कहा गया है। इसे मृगतृष्णा या मृगजल भी कहते हैं। वदन=मुख। आपन=अपनेको, आत्माको।

भावार्थ—हे केशव ! कहा नहीं जाता, क्या कहूँ ? हे हरे ! आपकी इस विचित्र रचनाको देखकर मन ही मन समझकर रह जाता हूँ (कुछ कहते नहीं बनता) ॥१॥ इस संसाररूपी चित्रको अशरीरी (अव्यक्त, निराकार ब्रह्मरूपी) चित्रकारने शून्य (माया अथवा आकाशरूपी) दीवारपर बिना रंगके (संकल्पसे ही) बनाया है। (इस मायाचित्रका रंग) धोनेसे नहीं मिटता और इसे मरनेका भय और दुःख होता है। (तात्पर्य, जड़ चित्रका रंग धोनेसे मिट जाता है; पर यह पांचभौतिक चित्र धोनेसे नहीं मिटता; जड़ चित्रको मरनेका भय और दुःख नहीं होता, पर इस पांचभौतिक शरीर-रूपी चित्रको मरणका दुःख और भय बना रहता है)। यह सब विचित्रता कहाँ दिखलाई पड़ती है, इसके लिए ग्रंथकारका कथन है कि इसी शरीरमें ढूँढ़नेसे (यह सब विचित्रता) मिलती है ॥२॥ (अब दूसरी विचित्रता कहते हैं) मरीचिकामें अत्यन्त भयानक मगररूपी तृष्णा रहती है जोकि मुख-हीन है (यानी उस मगरके मुँह नहीं है)। किन्तु जो भी वहाँ जल पीने जाता है, चाहे वह जड़ हो अथवा चैतन्य, उसे वह ग्रस लेती है। भाव यह है कि, यह संसार मृगजलके समान है और इसमें मगररूप निराकार काल निवास करता है। उसके मुख नहीं है, पर वह

सबको (जल पीनेके लिए जानेवाले लोगोंको) खा जाता है। या यों कहिये कि मृगजल-तुल्य भ्रममय संसारमें मगररूपी रूप-रसादि पाँचों विषय बसते हैं, जो लोग इनमें सुख मानकर फँस जाते हैं, वे खाली हाथ कालके मुखमें चले जाते हैं ॥३॥ कोई तो कहता है कि (यह संसार) सत्य है, कोई कहता है कि झूठा (मिथ्या) है, और कोई इन दोनोंको ही प्रबल मानता है; यानी यह सत्य भी है और मिथ्या भी (अर्थात् पूर्वमीमांसावाले कर्मवादी सत्य मानते हैं और उत्तरमीमांसावाले अद्वैतवेदान्ती मिथ्या मानते हैं, और सांख्यशास्त्रके आचार्य दोनों-(सत्य और मिथ्या) को ही जगत्का कारणरूप सत्य मानते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि जो मनुष्य इन तीनों भ्रमोंको त्याग देता है वही अपनेको पहचानता है (उसे ही आत्मज्ञान होता है) ॥४॥

विशेष

१—गोस्वामीजीने इस पदमें बहुत ही गम्भीर दार्शनिक भाव व्यक्त किया है। मननशील पाठक ही इसके असली अर्थकी गहराईतक पहुँच सकते हैं।

२—'रविकर-नीर···माहीं'—का भाव यह है कि जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी किरणोंको जल समझकर मृग उन किरणोंके पीछे दौड़ता है और जल न पाकर प्यासा ही मर जाता है, उसी प्रकार इस भ्रमात्मक संसारमें सुख समझकर लिप्त रहनेवालोंको बिना मुखका कालरूपी अथवा रूप-रसादि विषयरूपी मगर निगल जाता है। एक अर्थ इसका यह भी हो सकता है कि इस मिथ्या संसार-सरोवरमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ही रविकर-नीर है और उसमें मगररूप काल रहता है। जो लोग उस विषयरसको पीनेके लिए जाते हैं, उन्हें मगर निगल जाता है। मृगजल और विषयरसका जोड़ भी ठीक जँचता है। ५९ वें पदमें गोस्वामीजीने 'रूपादि सब सर्प' लिखकर पंच विषयोंको ही कालरूप सर्प बनाया है।

(११२)

केशव ! कारन कौन गुसाईं ।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेउ अग्य की नाईं ॥१॥
परम पुनीत सन्त कोमल-चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई ।
तौ कत विप्र, व्याध, गनिकहिं तारेहु, कछु रही सगाई ? ॥२॥

काल, करम, गति अगति जीव की, सब हरि! हाथ तुम्हारे।
सोइ कछु करहु, हरहु ममता प्रभु! फिरउँ न तुमहिं बिसारे ॥३॥
जौ तुम तजहु, भजौं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे।
मन-बच-करम नरक-सुरपुर जहँ तहँ रघुबीर निहोरे ॥४॥
जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई ॥५॥

शब्दार्थ—असाधु = दुष्ट। अग्य = अज्ञ, मूर्ख। बनि आई = पटती है। विप्र = अजामिल। निहोरे = विनय। सीदत = शिथिल होता जाता है।

भावार्थ—हे केशव! हे स्वामी! कौन-सा कारण है जिस अपराधसे आपने मुझे दुष्ट जानकर अज्ञकी तरह छोड़ दिया? ॥१॥ (यदि यह कहा जाय कि) जो परम पवित्र और कोमल चित्तवाले सन्त हैं, उन्हींसे आपकी पटती है, तो फिर आपने अजामिल, व्याध और गणिकाको क्यों तार दिया? क्या उनसे आपका कुछ रिश्ता था? ॥२॥ हे हरे! जीवका काल (नाशकर्त्ता), कर्म (जो विश्व-ब्रह्माण्डको बाँधे हुए हैं), गति (स्वर्गादिकी प्राप्ति) और अगति (नरककी प्राप्ति) सब आपके ही हाथ है। अतः हे प्रभो! मेरी ममता दूर करके कुछ ऐसा उपाय करिये, जिससे मैं आपको भूलकर भटकता न फिरूँ ॥३॥ हे प्रभो! यदि आप मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं दूसरेको न भजूँगा, यही मेरे प्रणका प्रमाण है। हे रघुनाथजी! मन, वचन और कर्मसे नरक या देवलोकमें जहाँ कहीं आप भेजेंगे, वहाँ आपकाही निहोरा करता रहूँगा ॥४॥ हे नाथ! यद्यपि यह जो आपसे ऐसी ढिठाई कर रहा हूँ, वह उचित कार्य नहीं हो रहा है; किन्तु तुलसीदास रातदिन (कलिकालसे) शिथिल होता जा रहा है, तिसपर वह आपकी निष्ठुरता भी देख रहा है; अर्थात् एक तो वह यों ही कष्ट भोग रहा है दूसरे आपकी निष्ठुरता उसे और भी अधिक सता रही है ॥५॥

विशेष

१—इस पदमें गोस्वामीजीने पहले तो 'कछु रही सगाई' कहकर प्रभुजीको खूब खरी-खोटी सुनायी है, पीछे उसे अनुचित समझकर दीनता प्रकट की है।

२—'व्याध गनिकहिं'—९४ पदके 'विशेष'में देखिये।

(११३)

माधव ! अब न द्रवहु केहि लेखे ।
प्रनतपाल पन तोर, मोर पन जियउँ कमल-पद देखे ॥१॥
जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी ।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अंतरजामी ॥२॥
तैं उदार, मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत श्रुति गावै ।
बहुत नात रघुनाथ ! तोहिं मोहिं, अब न तजे बनि आवै ॥३॥
जनक-जननि, गुरु-बंधु, सुहृद-पति, सब प्रकार हितकारी ।
द्वैतरूप तम-कूप परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारी ॥४॥
सुनु अदभ्र करुना बारिजलोचन मोचन भय भारी ।
तुलसिदास प्रभु ! तव प्रकास बिनु, संसय टरै न टारी ॥५॥

शब्दार्थ—जनक = पिता । जननि = माता । सुहृद = मित्र । द्वैत = यहाँ मैं-मेराको द्वैत कहा है । अदभ्र = अत्यधिक, असीम ।

भावार्थ—हे माधव ! अब आप किस कारणसे कृपा नहीं कर रहे हैं ? आपकी तो शरणागतोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा है, और आपके चरणारविन्दों-को देख-देखकर जीनेकी प्रतिज्ञा मेरी है ॥१॥ जबतक मैं दीन नहीं बना था और आप दयालु नहीं हुए थे, मैं सेवक नहीं हुआ था और आप स्वामी नहीं हुए थे, तबतक मैंने जो कष्ट सहन किया था, उसे आपसे नहीं कहा था—यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं, (घटघटके भीतरका हाल जाननेवाले हैं) ॥२॥ आप उदार हैं, मैं कृपण हूँ; मैं पापी हूँ और आप पवित्र हैं, ऐसा वेदोंने कहा है । हे रघु-नाथजी ! आपमें और मुझमें बहुत-से रिश्ते हैं, अब मुझे छोड़नेसे काम नहीं चल सकता ॥३॥ आप मेरे पिता, माता, गुरु, भाई, मित्र, स्वामी और सब प्रकारसे हितकारी हैं । इसलिए कुछ ऐसा उपाय सोचिये, जिससे मैं द्वैतरूपी अन्धकूपमें न पड़ूँ । हे कमलनेत्र ! आपकी असीम करुणा संसारके भारी भयको दूर करने-वाली है । हे प्रभो ! बिना आपके प्रकाशके तुलसीदासका संशय (अज्ञानान्धकार) टाले नहीं टल सकता ।

(११४)

माधव ! मो समान जग माहीं ।
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं ॥१॥
तुम सम हेतु-रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
मैं दुख-सोक-विकल कृपालु ! केहि कारन दया न लागी ॥२॥
नाहिं न कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
ग्यान-भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥३॥
बेनु करील, श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावै ।
सार-रहित हत-भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै ॥४॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ विचार जिय मोरे ।
तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥५॥

शब्दार्थ—हेतुरहित = निष्काम । बेनु = बाँस । श्रीखंड = चन्दन । सुरभि = सुगन्ध । पल्लव = पत्तियाँ । मृदुल = कोमल ।

भावार्थ—हे माधव ! इस संसारमें मुझसा, सब प्रकारसे हीन, मलिन, अत्यन्त दीन और विषयासक्त दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ और आपके समान निष्काम कृपा करनेवाला, दुखियोंका हितू और परम त्यागी स्वामी दूसरा कोई नहीं है । मैं दुःख और शोकसे इतना विकल हूँ , फिर भी हे परम कृपालु ! किस कारणसे आपको मुझपर दया नहीं आयी ? ॥२॥ किन्तु इसमें आपका कुछ दोष नहीं है, यह सब मेरा ही अपराध है—इसे मैं मानता हूँ । हे नाथ ! (वह अपराध यही है कि) आपने तो मुझे ज्ञानका आगार (मनुष्य) शरीर दिया, पर उसे भी पाकर मैंने आपको नहीं पहचाना ॥३॥ सार-हीन बाँस चन्दनको और हतभाग करील वसन्त ऋतुको व्यर्थ ही दोष देते हैं । भला कहो तो सही, चन्दन सारहीन बाँसको कैसे सुगंध प्रदान कर सकता है और करीलको (जिसमें पत्ते होते ही नहीं), वसन्त ऋतु द्वारा पत्ते किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ? ॥४॥ हे प्रभो, मेरे हृदयका यह दृढ़ विचार है कि मैं हर तरहसे कठोर हूँ , और आप कोमल हैं । हे प्रभो ! तुलसीदासकी मोह-शृंखला आपके ही छोड़नेसे छूटेगी ॥५॥

(११५)

माधव ! मोह-फाँस[1] क्यों टूटै ।
बाहर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ॥१॥
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत, औटत नास न पावै ॥२॥
तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटै मरै न जैसे ।
साधन करिय विचार-हीन मन शुद्ध होइ नहिं तैसे ॥३॥
अंतर मलिन विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि विविध विधि मारे ॥४॥
तुलसिदास हरि-गुरु करुना बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु बिवेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई ॥५॥

शब्दार्थ—ग्रंथि = गाँठ । प्रतिबिम्ब = छाया । कोटर = कोड़र, छेद । बिचार = सत्-असत्‌का विचार, आत्मज्ञान । बलमीकि = बिल ।

भावार्थ—हे माधव ! मेरा यह मोहका फन्दा क्यों कर टूटेगा ? बाहरसे करोड़ों उपाय क्यों न किये जायँ, उनसे भीतरकी गाँठ नहीं छूट सकती ॥१॥ घीसे भरे हुए कड़ाहमें जो चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसका सौ कल्पतक ईंधन और आग लगाकर औटानेसे नाश नहीं हो सकता (जबतक कड़ाहमें जरा भी घी रहेगा, तबतक वह प्रतिबिम्ब ज्योंका त्यों बना रहेगा) इसी प्रकार जबतक मोह रहेगा, तबतक आवागमनकी फाँसी भी बनी रहेगी ॥२॥ जैसे वृक्षके कोटरमें रहनेवाला पक्षी वृक्षके काटनेसे नहीं मर सकता, वैसे ही (बाहरी) साधनोंसे (सत्-असत्) विचार-शून्य मन शुद्ध नहीं हो सकता ॥३॥ जिस प्रकार साँपके बिलपर अनेक प्रकारसे मारने अथवा नाना उपाय करनेसे उसके भीतरका सर्प नहीं मरता, उसी प्रकार शरीरको बाहरसे धोकर पवित्र या स्वच्छ करनेसे विषयोंके कारण मलिन हुआ मन ज्योंका त्यों मलिन ही रह जाता है—पवित्र नहीं होता ॥४॥ हे तुलसीदास ! बिना भगवान् और गुरुकी

१. पाठान्तर—'पास' ।

करुणाके निर्मल विवेक (ज्ञान) नहीं होता और विवेक हुए बिना इस घोर संसार-सागरसे कोई भी पार नहीं जा सकता ॥५॥

विशेष

१—'घृत पूरन······पावै'—कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है; "प्रतिबिम्बके औटानेसे आकाशके चन्द्रमाका नाश नहीं होता तथा वृक्षके काटनेसे उसके कोटरमें रहनेवाला पक्षी नहीं मर जाता, वैसे ही······"

२—'साधन······तैसे'—वियोगी हरिजीने लिखा है, 'बिना आत्मज्ञानके मन शुद्ध होनेका नहीं।' अर्थात् आत्मज्ञान होनेके बाद मन शुद्ध होता है। किन्तु यह बात बिलकुल ही असंगत है। क्योंकि मनकी शुद्धि हुए बिना तो आत्मज्ञान होता ही नहीं।

(११६)

माधव ! असि[१] तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥१॥
सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित भव दारुन बिपति सतावै ॥२॥
ब्रह्म-पियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल-रूप बिषय कारन निसि-बासर धावै ॥३॥
जेहि के भवन बिमल चिन्तामनि, सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परै, जागि देखत केहि जाइ निहोरै ॥४॥
ग्यान-भगति साधन अनेक, सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं ॥५॥

शब्दार्थ—पियूष=अमृत। चिन्तामनि=चिन्ताओंको दूर करनेवाला स्वर्गका एक रत्न।

भावार्थ—हे माधव ! तुम्हारी यह माया ऐसी है कि यत्न करते-करते मर-पच जानेपर भी जबतक आप दया नहीं करते, तबतक (मायासे) उद्धार नहीं

१. पाठान्तर—'अस'।

होता ॥१॥ सुनता हूँ, विचार करता हूँ, समझता हूँ, दूसरोंको समझाता हूँ, फिर भी तुम्हारी उस मायाकी गति मनमें नहीं बैठती, जिसका अनुभव हुए बिना मोह-जनित संसारकी भयंकर विपत्तियाँ सताती रहती हैं ॥२॥ ब्रह्मामृत बड़ा ही मधुर और शीतल है, उसका स्वादु यदि कहीं यह मन पा जाय, तो फिर यह मृगजल-रूप विषयोंके लिए रातदिन क्यों दौड़े ॥३॥ जिसके घरमें स्वच्छ चिन्तामणि है, वह काँच क्यों बटोरने लगा ! भाव यह है कि जिसे भगवान्‌के रूप-माधुर्यका आनन्द प्राप्त हो जायगा, वह तुच्छ सांसारिक विषयोंकी ओर नहीं झुक सकता। जैसे कोई स्वप्नमें किसीके पराधीन हो जाय, किन्तु जागनेपर वह (छूटनेके लिए) किसीसे विनय करते नहीं देखा जाता ॥४॥ ज्ञान, भक्ति तथा और जो बहुत-से साधन हैं, वे सब सच्चे हैं, झूठा कुछ भी नहीं है, किन्तु तुलसीदासके मनमें यह विश्वास है कि केवल श्रीरामजीकी कृपासे ही भ्रमका नाश हो सकता है ॥५॥

विशेष

'यह माया'—भगवान्‌की माया कैसी है, इसे भगवान्‌ने स्वयं ही गीतामें कहा है—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'—श्रीमद्भगवद्गीता

श्लोकार्थ—मेरी यह गुणमयी (गुणात्मक) और दिव्य माया दुस्तर है। इस मायाको वे ही पार करते हैं, जो मेरी शरणमें आ जाते हैं।

(११७)

हे हरि ! कवन दोष तोहिं दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसि-बासर कीजै ॥१॥
जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब येहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत विषय अनुरागे ॥२॥
भूत-द्रोह कृत मोह बस्य हित आपन मैं न विचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ज्ञान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ॥३॥
वेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगव्यापी ।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी ॥४॥

मैं अपराध-सिंधु करुनाकर! जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥५॥

शब्दार्थ—अर्थ = इन्द्रियोंके विषय। स्वान = कुत्ता। अज = बकरा। खर = गधा। अपारो = बेहद। श्रीखंड = चन्दन। बेनु = बाँस।

भावार्थ—हे हरे! मैं तुम्हें क्या दोष दूँ? जिस उपायसे स्वप्नमें भी उद्धार होना दुर्लभ है, वही मैं रातदिन किया करता हूँ ॥१॥ मैं जानता हूँ कि इन्द्रियों-के विषय अनर्थरूप हैं, इनके कारण मैं अन्धकूपमें गिर पड़ूँगा; फिर भी मैं उन्हें न छोड़कर कुत्ते, बकरे और गधेकी भाँति विषयानुरागमें भटक रहा हूँ ॥२॥ सब प्राणियोंसे द्रोह करके और मोहके वशीभूत होकर मैंने अपनी भलाईपर विचार नहीं किया और ज्ञानके शत्रु मद, ईर्ष्या, अभिमान आदिमें बेहद लीन रहने लगा ॥३॥ समस्त संसारमें श्रीरघुनाथजी ही व्याप्त हैं, यह वेदों और पुराणोंमें सुनते और समझते हुए भी, मेरे सारहीन पापी मनमें वह बात ठीक उसी प्रकार नहीं घुस रही है जैसे चन्दनकी सुगन्ध बाँसमें नहीं भीनती ॥४॥ हे करुणाकी खानि श्रीरामजी! मैं अपराधोंका समुद्र हूँ, इसे आप जानते हैं,—क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं। इसलिए हे गरुड़गामी! संसार-सर्पसे ग्रसित यह तुलसीदास आपकी शरणमें है ॥५॥

(११८)

हे हरि! कवन जतन सुख मानहुँ।
ज्यों गज दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु ॥१॥
जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय बच्छपद जैसे।
रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद-सुख पाइय कैसे ॥२॥
देखत चारु मयूर बयन सुभ बोल सुधा इव सानी।
सविष उरग-आहार, निठुर अस, यह करनी वह बानी ॥३॥
अखिल-जीव-वत्सल, निरमत्सर, चरन कमल अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुवीर धीर मति, अतिसय निज-पर-त्यागी ॥४॥
जद्यपि मम औगुन अपार संसार जोग्य रघुराया।
तुलसिदास निज गुन विचारि करुना-निधान करु दाया ॥५॥

शब्दार्थ—गज = हाथी। दसन = दाँत। बच्छ = बछड़ा। चारु = सुन्दर। मयूर = मोर। सविष = विषके सहित। निरमत्सर = ईर्ष्यारहित।

भावार्थ—हे हरे! मैं किस तरह (उपायसे) सुख मानूँ? जैसे हाथीके दाँत (दिखानेके तो और होते हैं किन्तु खानेके और) होते हैं, वैसे ही मेरी करनी है। (दिखानेके लिए तो आपका दास बना हूँ, किन्तु मेरा अन्तःकरण विषयोंका दास है), इसे आप भली भाँति जानते भी हैं ॥१॥ जो कुछ कहे, उसे करे, (ऐसा करनेसे मनुष्य) भवसागरको इस प्रकार पार कर जाता है जैसे बछड़ेका पैर; अर्थात् अपने कथनानुसार काम करनेवाला मनुष्य गऊके खुरसे जमीनपर बने हुए गड्ढेमें भरे हुए जलकी तरह संसार-रूपी समुद्रको अनायास ही लाँघ सकता है, किन्तु जब कि रहन-सहन कुछ और तरहकी है और कथन कुछ और ही है, तो फिर हे हरे! आपके चरणोंका आनन्द उसे कैसे मिल सकता है? ॥२॥ देखनेमें मोर सुन्दर लगता है और ऐसी मंगलमय वाणी बोलता है मानों अमृतसे सनी हुई हो! किन्तु उसका आहार विषधर सर्प है। वह ऐसा कठोर है। उसकी यह करनी है और वह वाणी ॥३॥ जो समस्त प्राणियोंपर प्रेम करते हैं, जो ईर्ष्या-रहित हैं, जो आपके चरणारविन्दोंके भक्त हैं, जो धीर-बुद्धि हैं, जो विशेष रूपसे अपने-परायेका भाव छोड़ चुके हैं, हे रघुनाथजी! वे ही साधु आपको प्रिय हैं। हे रघुनाथजी! यद्यपि मेरे अपार दुर्गुण संसारके ही योग्य हैं, फिर भी हे करुणानिधान! आप अपने गुणोंपर विचार करके मुझ तुलसीदासपर दया कीजिये ॥५॥

(११९)

हे हरि! कवन जतन भ्रम भागै।
देखत, सुनत, बिचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥१॥
भगति ग्यान-बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि बासना न उर ते जाई ॥२॥
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपा-पात्र जन जागै।
निज करनी बिपरीत देखि मोहिं समुझि महाभय लागै ॥३॥
जद्यपि भग्न-मनोरथ बिधिबस, सुख इच्छत दुख पावै।
चित्रकार करहीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥४॥

हृषीकेस सुनि नाउँ जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख, हरे बनहि प्रभु तोरे ॥५॥

शब्दार्थ—सूतहिं = सोते हैं। विपरीत = उलटा। विधिवस = विधाताकी इच्छासे। हृषीकेस = (हृषीक + ईश) इन्द्रियोंके स्वामी। संभव = उत्पन्न।

भावार्थ—हे हरे! (यह सांसारिक भ्रम) किस उपायसे दूर होता है? यह मन (संसारका मिथ्यात्व) देख रहा है, सुन रहा है, सोच रहा है, फिर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ रहा है ॥१॥ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि सब साधन इसीके (मनको, स्थिर करनेके) लिए उपाय हैं। फिर भी 'कोई मुझे अच्छा कहे,' 'कोई कुछ दे', ऐसी वासना मेरे हृदयसे नहीं जाती ॥२॥ जिस (संसार) रात्रिमें सब प्राणी सोते हैं, उसमें आपके कृपापात्र भक्त जागते हैं। किन्तु अपनी करनीको विपरीत देखकर उसे समझनेपर मुझे बड़ा डर लग रहा है ॥३॥ यद्यपि विधाताकी इच्छासे लोगोंका मनोरथ भंग हो जाता है, और वे सुखकी इच्छा करनेमें वैसे ही दुःख पाते हैं जैसे बिना हाथका चित्रकार बिना स्वार्थके ही (मनोकल्पित) चित्र बनाता है (अर्थात् चित्रोंसे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, पर हाथ न रहनेके कारण भग्न-मनोरथ होकर दुःख पाता है) ॥४॥ आपका 'हृषीकेश' नाम सुनकर मैं आपकी बलैया लेता हूँ। मेरे जीमें आपका बहुत बड़ा भरोसा है। हे प्रभो! तुलसीदासका इन्द्रिय-जन्य दुःख आपको अवश्यमेव दूर करना पड़ेगा (क्योंकि आप हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी हैं) ॥५॥

विशेष

१—'जेहिनिसि' ' 'जागै'—यह बात गीतामें भगवान्ने भी कही है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ६९।

(१२०)

हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥

अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गुसाईं ।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‍यो कीर की नाईं ॥२॥
सपने व्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥३॥
श्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥४॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै ।
तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥५॥

शब्दार्थ—अविद्यमान = नाशवान्, क्षणभंगुर । संसृति = संसार, क्लेश । कीर = तोता ।

भावार्थ—हे हरे ! आप मेरे इस भारी भ्रमको क्यों नहीं दूर करते ? यद्यपि यह संसार मिथ्या है, तथापि जबतक आपकी कृपा नहीं हो रही है, तबतक यह सत्य-सा भास रहा है ॥१॥ यह मैं जानता हूँ कि इन्द्रियोंके विषय झूठे हैं, तथापि हे गुसाईं ! क्लेश दूर नहीं हो रहा है (संसार बना है) । बिना (किसीके) बाँधे ही मैं अपने हठसे शठतावश तोतेकी तरह दूसरेके अधीन पड़ा हूँ ॥२॥ जैसे किसीको स्वप्नमें रोगकी अनेक तरहकी बाधाओंसे मृत्यु निकट आ जाय और वैद्य अनेक उपाय करें, किन्तु जागे बिना दुःख दूर नहीं हो सकता (वैसे ही भ्रममें पड़कर हमलोग पीड़ा भोग रहे हैं और उसे दूर करनेके लिए मिथ्या उपाय कर रहे हैं, पर बिना तत्त्वज्ञानके उससे छुटकारा नहीं मिल सकता) ॥३॥ वेद, गुरु, साधु और स्मृतियोंकी सम्मति है कि यह दृश्य (दिखलाई पड़नेवाला जगत्) असत् है—दुःखदायक है । इसे त्यागकर श्रीरामजीका भजन किये बिना सांसारिक दुःखोंको कौन टाल सकता है ? ॥४॥ वेद निर्मल वाणीसे कह रहे हैं कि संसार-सागरको पार करनेके लिए बहुत-से उपाय हैं; किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि 'मैं और मेरा' भाव नष्ट हुए बिना इस जीवको कभी भी सुख नहीं मिलता ॥५॥

[१२१]

हे हरि ! यह भ्रम की अधिकाई ।
देखत, सुनत, कहत समुझत संसय-संदेह न जाई ॥१॥

जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे ॥२॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ॥३॥
अनविचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी ।
सम-संतोष-दया-विवेक तें, व्यवहारी सुखकारी ॥४॥
तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै ।
रघुपति, भगति, संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै ॥५॥

शब्दार्थ—मृगबारि = मृगजल । आपु = स्वयं ।

भावार्थ—हे हरे ! यह भ्रमकी ही विशेषता है कि देखते, सुनते और समझते रहनेपर भी संशय और सन्देह दूर नहीं हो रहा है ॥१॥ यदि यह कहो कि जब संसार मिथ्या ही है, तो फिर त्रिविध तापोंका अनुभव किस प्रकार होता है (क्योंकि संसारके मिथ्या होनेपर उसके तापोंका मिथ्या होना स्वाभाविक है)—तो (इसका उत्तर यह है कि) मृगजल सत्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु भ्रमवश विशेष दुःख होता ही है ॥२॥ स्वप्नमें सुन्दर सेजपर सोया हुआ मनुष्य समुद्रमें डूबनेसे भयभीत होता है; किन्तु जबतक वह स्वयं नहीं जागता, तबतक करोड़ों नावोंके रहनेपर भी पार नहीं जा पाता ॥३॥ यह बड़ा ही भयंकर संसार विचार न रहनेके कारण ही सदैव रमणीय दिखाई देता है । हाँ, सम, सन्तोष, दया और विवेकयुक्त व्यवहार करनेवालोंके लिए (यह भयानक संसार) सुखकर अवश्य है ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि यद्यपि संसारका प्रपंच सब तरहसे झूठा है—ऐसा वेदोंका कथन है, फिर भी रामजीकी भक्ति और सन्त-जनोंकी संगतिके बिना संसार-भयको कौन दूर कर सकता है ? ॥५॥

विशेष

१—'संसय-संदेह'—देखनेमें दोनों शब्द एक ही अर्थके द्योतक प्रतीत हो रहे हैं, पर दोनों शब्दोंका भिन्न-भिन्न आशय है । यहाँपर 'संशय' शब्दसे अभिप्राय है, 'मिथ्या जगत्को सत्य मानना' और 'सन्देह' शब्दसे अभिप्राय है 'केवल परमात्माकी ही सत्ता है या और कुछ' ।

(१२२)

मैं हरि, साधन करइ न जानी ।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी ॥१॥
सपने नृप कहँ घटै विप्र-बध, बिकल फिरै अघ लागे ।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होइ बिनु जागे ॥२॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अविचारे ।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि हारहि मरइ न मारे ॥३॥
निज भ्रम ते रवि-कर-संभव सागर अति भय उपजावै ।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ॥४॥
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निरमूल न जाई ।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय, तरिय नहिं भाई ॥५॥

शब्दार्थ—आमय = रोग । भेषज = दवा । दिरमानी = हिकमत (यह अरबी भाषाका शब्द है । किसी-किसी प्रतिमें 'दिरमानी' की जगह 'बरबानी' पाठ है) । स्रग = माला । अवगाहत = डूबता है । बोहित = जहाज ।

भावार्थ—हे हरे ! मैंने साधन करना नहीं जाना । जैसा रोग था, वैसी दवा नहीं की, इसमें हिकमत (दवा) का दोष ही क्या है ? ॥१॥ स्वप्नमें किसी राजाको ब्रह्महत्या लग जानेपर वह उस पापके कारण विकल होकर घूमता है, पर चाहे वह सौ करोड़ अश्वमेध यज्ञ कर डाले—बिना जागे शुद्ध नहीं होता (वैसे ही तत्त्वज्ञानके बिना अज्ञान-जनित पापोंसे छुटकारा नहीं होता) ॥२॥ अज्ञानके कारण मालामें बड़े भयानक सर्पका भ्रम पैदा हो जाता है; किन्तु वह बहुत-से हथियारोंके द्वारा अनेक तरहका बल-प्रयोग करके मारते-मारते हार जानेपर भी नहीं मरता (मरता तभी है, जब सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाती है) ॥३॥ अपने ही भ्रमसे सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न हुआ (मृगजलका) समुद्र अत्यधिक भय उत्पन्न करता है और उसमें डूबकर जहाज या नावपर चढ़नेसे कोई पार नहीं पाता ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि जबतक अहंपनके सहित संसारका निर्मूल नाश न होगा, तबतक हे भाई ! करोड़ों कल्पतक उपाय करते-करते मर जाओ, पर संसार-सागरसे पार नहीं हो सकते ॥५॥ (सारांश, जैसे

अज्ञानवश ब्रह्महत्या लगी, मालामें सर्पकी भ्रान्ति हुई, मृगतृष्णाके समुद्रने भय पैदा किया, और भ्रमके दूर होते ही उन सबका अपने आप ही नाश हो गया, वैसे ही मिथ्या जगत्‌रूपी शरीरादिके अधिष्ठान-(अहंबुद्धि) द्वारा जबतक शरीरमें सत्यताकी प्रतीति है, तबतक अनेक उपाय करनेपर भी उसका मूलोच्छेद नहीं हो सकता। क्योंकि यदि कोई वस्तु हो तब तो उपायों द्वारा उसका नाश हो सकता है; जो पदार्थ है ही नहीं, वह कैसे जायगा? किन्तु जब मिथ्या संसारके अधिष्ठानरूप अहंबुद्धिमें यह विचार पैदा होता है कि मैंने अज्ञानवश इसे मान रखा था, वास्तवमें यह कुछ नहीं है—और जब यह विचार दृढ़ हो जाता है, तब देहादिक संसार तथा उसके अधिष्ठान अहंबुद्धिरूप जीवका लय हो जाता है; अर्थात् यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्माके अतिरिक्त यह सब वस्तु मिथ्या है। बस, इसी दवासे संसाररूपी रोगका नाश होता है—अन्यथा नहीं।

विशेष

१—'स्रग महँ सर्प'—वास्तवमें संसार भ्रान्तिरूप है। भ्रान्तिरूप संसार पाँच प्रकारका है। भेदभ्रान्ति, कर्त्ता-भोक्तापनकी भ्रान्ति, संगकी भ्रान्ति, विकारकी भ्रान्ति और ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌के सत्यताकी भ्रान्ति। वेदान्त शास्त्रने इस भ्रान्तिको अध्यास भी कहा है। इसके दो भेद माने गये हैं; यथा ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास।

[१२३]

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु! दास-हित मोह न छूटै माया॥१॥
बाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई॥२॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति असन-हीन दुख पावै।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै॥३॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैन बखानै।
बिनु बोले सन्तोष-जनित सुख खाइ सोई पै जानै॥४॥

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—वाक्य-ग्यान = वाणीकी चातुरी, मौखिक ज्ञान। तम = अन्धकार। असन = भोजन। रैन = रात।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! मुझे तो कुछ ऐसा जान पड़ता है कि हे दयालु! बिना आपकी कृपाके भक्तोंके हितार्थ न तो उनका मोह ही दूर होता है और न माया ही छूटती है ॥१॥ कोई मनुष्य मौखिक ज्ञान छाँटनेमें अत्यन्त निपुण होनेसे संसार-सागरको पार नहीं कर सकता। रातके समय घरमें दीपककी बातें करनेसे अन्धकारकी निवृत्ति नहीं हुआ करती (अन्धेरा तो दूर होता है, दीपक जलानेपर ही) ॥२॥ (और सुनिये) जैसे कोई अत्यन्त दीन और दुःखित मनुष्य बिना भोजनके (भूखके मारे) दुःख पा रहा है तो उसके घरमें कल्पवृक्ष और कामधेनुका चित्र लिखने (बनाने) से उसकी विपत्ति (क्षुधाकी पीड़ा) दूर नहीं की जा सकती, (वैसे ही शास्त्रोंकी कोरी बातोंसे या जबानी जमा-खर्चसे मोह नहीं छूटता) ॥३॥ यह तो ठीक वैसा ही है जैसे कोई मनुष्य अनेक प्रकारके षट्रस व्यञ्जनोंका दिन रात बखान (वर्णन) करता रहे; किन्तु उन व्यञ्जनोंका आनन्द तो केवल वही जानता है जो बिना बोले चाले उसे खाकर क्षुधाकी तृप्ति करता है (इसी प्रकार शास्त्रोंके पन्ने चाटने अथवा उनकी व्याख्या करनेसे कुछ नहीं होता) ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि जबतक अपने हृदयमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश नहीं होता और मनमें विषयोंकी आशा बनी रहती है, तबतक यह जीव संसारकी अनन्त योनियोंमें भटकता रहता है, स्वप्नमें भी सुख नहीं पाता ॥५॥

विशेष

१—'षट्रस'—१ मधुर, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटु, ५ तिक्त, ६ कषाय ये ही छः रस हैं।

२—इस पदमें गोस्वामीजीने अच्छी युक्तिसे ईश्वरीय कृपाको प्रधानता दी है। ठीक ही है, 'अमृत'का गुण जाननेसे कहीं अमरता प्राप्त हो सकती है? अमरत्व तो तभी प्राप्त हो सकता है जब अमृत पान करे। इसी प्रकार

केवल शास्त्रीय ज्ञानसे कुछ नहीं होता, उद्धार तो तब होता है जब उसके अनुसार आचरण करे।

[१२४]

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ॥१॥
सत्रु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये, मन कीन्हें बरिआईं।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाईं ॥२॥
असन, बसन, पसु, वस्तु विविध विधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥३॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥४॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद्-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥५॥

शब्दार्थ—मध्यस्थ = बीचका, न शत्रु ही, न मित्र ही, यानी उदासीन। बरिआईं = जबर्दस्ती। हाटक = सोना। पुतरिका = पुतली। कंचुकि = वस्त्र। छालित = प्रक्षालित, धुलकर।

भावार्थ—यदि अपना मन विकारों-(संकल्प-विकल्परूप चाञ्चल्य) को छोड़ दे, तो द्वैतभावसे उत्पन्न सांसारिक दुःख, संशय और अपार शोक, क्यों हो ? ॥१॥ मनने ही अपनी जबर्दस्तीसे किसीको शत्रु, किसीको मित्र और किसीको उदासीन इन तीनोंको मान रखा है (पर वास्तवमें न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन)। शत्रु सर्पके समान त्याग देने योग्य हैं, मित्र सुवर्णकी तरह ग्रहण करने योग्य हैं और उदासीन तृणकी भाँति उपेक्षा करने योग्य हैं ॥२॥ जैसे भोजन, वस्त्र, पशु और नाना प्रकारकी वस्तुएँ ये सब मणिके अन्तर्गत हैं (अर्थात् यदि मणि हो, तो उसे बेचकर उक्त वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं), वैसे ही स्वर्ग, नरक, जड़, चैतन्य तथा बहुत-से लोक मनमें रहते हैं (तात्पर्य, मनके प्रतापसे वह जीव हर जगह जा सकता है) ॥३॥ जैसे वृक्षके बीचमें कठपुतली तथा सूतमें वस्त्र बिना बनाये ही मौजूद रहते हैं, उसी प्रकार मनके भीतर अनेक

शरीर लीन रहते हैं और अवसर पाकर प्रकट होते हैं ॥४॥ श्रीरामजीकी भक्तिरूपी जलसे चित्तके धुल जानेपर अनायास ही दृष्टि खुल जाती है (यानी ऊपर कही हुई बात दृष्टिगोचर होने लगती है)। तुलसीदास कहते हैं कि तभी (रामभक्तिरूपी जलसे चित्तके धुल जानेपर ही) चैतन्यका विलासरूप जगत् समझते समझते समझमें आता है ॥५॥

विशेष

१—'मन'—शत्रु और मित्र मानना मनका ही धर्म है, और मन ही स्वर्ग तथा नरकमें ले जानेवाला है। अन्यत्र भी लिखा है:—

'मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः।'

२—'सत्रु, मित्र···नाईं' इसमें क्रम अलंकार है। जहाँ क्रमसे दो या इससे अधिक वस्तुओंका वर्णन अर्थका मिलान करते हुए किया जाय वहाँ क्रमालंकार होता है।

[१२५]

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हित कारी ॥१॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥२॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥३॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा ॥४॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहिं जानि अनाथा ॥५॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥६॥
भागेहु नहिं नाथ! उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा ॥७॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा ॥८॥
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा ॥९॥

शब्दार्थ—बरजोरा = जबर्दस्ती। बोधरिपु = ज्ञानका शत्रु। मार = कामदेव। बटपारा = डाकू। धामा = घर।

भावार्थ—हे धीरतापूर्वक हित करनेवाले रघुनाथजी! मैं अपनी महान् विपत्ति किससे कहूँ? ॥१॥ हे प्रभो! मेरा हृदय आपका घर है, किन्तु उसमें अब बहुत-से चोर आ बसे हैं ॥२॥ (ये चोर) बड़े कठिन हैं, और विनती निहोरा

न मानकर जबर्दस्ती करते हैं ॥३॥ अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध, और ज्ञानका शत्रु काम, ॥४॥ यही सब चोर हैं जोकि हे नाथ ! बड़ा उपद्रव कर रहे हैं, और मुझे अनाथ जानकर कुचल रहे हैं ॥५॥ मैं अकेला हूँ और डाकू बहुत-से हैं, मेरा चिल्लाना भी कोई नहीं सुन रहा है॥६॥ हे नाथ ! भागनेपर भी मैं नहीं बच सकता। अतः हे रघुनाथजी ! मेरा सम्भार कीजिये ॥७॥ तुलसीदास कहते हैं कि हे रामजी ! सुनो, (ऊपर कहे हुए) चोर आपका घर लूट रहे हैं ॥८॥ इसीलिए मुझे इस बातकी बड़ी चिन्ता हो रही है कि इससे कहीं आपकी बदनामी न हो ॥९॥

[१२६]

मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निजु भगति चहै हरि केरी ॥१॥
उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते ॥२॥
दुख-सुख अरु अपमान बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई ॥३॥
सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही॥४॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट-लौ लाये ॥५॥

शब्दार्थ—अपनपौ = अहंकार। विदूषहि = दोष दे।

भावार्थ—रे मेरे मन ! यदि तू अपनेमें भगवान्‌की भक्ति चाहता है तो मेरी शिक्षा मान ले ॥१॥ (सबसे पहले तू) परमात्माने जितने उपकार किये हों, उनका हृदयमें स्मरण कर और अहंकार छोड़कर चेत करके उनकी सेवा कर ॥२॥ सुख-दुःख और मान-अपमान सबको बराबर समझ, तभी तेरी विपत्ति दूर होगी ॥३॥ रे दुष्ट मन ! सुन, यह शरीर काल-ग्रसित है, इसके लिए तू किसीको दोष न दे ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि ऐसी बुद्धि हुए बिना, केवल कपट-प्रेम करनेसे, रामजी नहीं मिल सकते ॥५॥

विशेष

(१) 'दुख··बिहाई'—भगवान्‌ने भी गीतामें यही कहा है:—

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १२, श्लो० १८-१९

(१) 'देही' वास्तवमें देहका अर्थ शरीर और देहीका अर्थ जीव है। यद्यपि जीवका नाश नहीं होता, फिर भी जबतक शरीरमें अहंबुद्धि रहती है, तबतक जीवका आवागमनरूप जन्म-मरण लगा रहता है। इसीसे साधारण रीतिसे जीवको कालग्रसित कह दिया गया है। किन्तु ऐसा अर्थ करनेमें खींचातानी करनी पड़ती है, अतः यहाँ देही शब्दका 'शरीर' अर्थ ही लिया गया है—और भाषाके काव्यमें शरीरके लिए देहके स्थानपर देही लिखा भी जा सकता है।

(१२७)

मैं जानी, हरिपद-रति नाहीं। सपनेहुँ नहिं बिराग मन माहीं ॥१॥
जे रघुबीर-चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे ॥२॥
काम-भुजंग डसत जब जाही। बिषय नींब कटु लगत न ताही ॥३॥
असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित नूतन भारी ॥४॥
जब कब राम-कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥५॥

भावार्थ—मैं समझ गया कि भगवान्‌के चरणोंमें मेरा प्रेम नहीं है; क्योंकि मेरे मनमें स्वप्नमें भी वैराग्य नहीं है ॥१॥ जो लोग श्रीरामजीके चरणोंके प्रेममें पगे हैं, वे समस्त भोगोंको रोगके समान त्याग चुके हैं ॥२॥ जब भी जिसे काम-सर्प डँस लेता है, तब उसे विषयरूपी नीम कड़वी नहीं लगती ॥३॥ ऐसा हृदयमें विचारकर असमंजसमें पड़ गया हूँ और (मेरे मनमें) नित नया और महान् सोच बढ़ता जा रहा है ॥४॥ तुलसीदास कहते हैं कि जब कभी भी हो, श्रीराम-जीकी कृपासे ही दुःख दूर होगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥५॥

(१२८)

सुमिरु सनेह-सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिंन आनि गति १
जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलिमति-बिकल,न कछु निरुपाधी२
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं३
हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा—कालिका४

भावार्थ—स्नेह-पूर्वक श्रीरामजीका स्मरण कर; क्योंकि रामजीके चरणोंको छोड़कर दूसरी गति नहीं है ॥१॥ जप, तप, तीर्थ, योगाभ्यास, समाधि आदि कोई भी उपाधिरहित नहीं है,—सब कलियुगी बुद्धिसे व्याकुल हो रहे हैं ॥२॥ पुण्य करते हुए भी पापोंका अन्त नहीं होता। रक्तबीजके समान (पाप) बढ़ता ही जा रहा है ॥३॥ तुलसीदास कहते हैं कि पाप-रूपी राक्षस-समूहको नाश करनेवाली केवल श्रीरामजीकी कृपारूपी काली है ॥४॥

विशेष

१—'रक्तबीज' नामका महाप्रतापी दैत्य था। उसने तप करके भगवान् शिवजीसे यह वर प्राप्त किया था कि 'यदि मेरे शरीरसे एक बूँद रक्त गिरे तो उससे सैकड़ों रक्तबीज पैदा हो जायँ।' यह वर प्राप्त करके उसने तीनों लोकको कँपा दिया। अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर ध्यान देकर महाकाली प्रकट हुईं और उससे युद्ध करने लगीं। जब देखा कि उसके रक्तसे अगणित रक्तबीज पैदा होते जा रहे हैं, तब उन्होंने अपनी जीभ इतनी लम्बी बढ़ायी कि जितना रक्त गिरता, सब वह ऊपर ही ऊपर चाट-चाट जाती थीं,—जमीनपर रक्त गिरने ही नहीं पाता था। इस प्रकार उन्होंने रक्तबीजका वध किया। यह कथा दुर्गासप्तशतीमें विस्तारपूर्वक लिखी है।

(१२९)

रुचिर रसना तू राम राम[१] क्यों न रटत।
सुमिरत सुख-सुकृत बढ़त, अघ अमंगल घटत ॥१॥
बिनु स्रम कलि-कलुष-जाल कटु कराल कटत।
दिनकर के उदय जैसे तिमिर-तोम फटत ॥२॥
जोग, जाग, तप, बिराग, तप, सुतीरथ-अटत।
बाँधिबे को भव-गयंद रेनुकी रजु बटत ॥३॥
परिहरि सुर-मनि सुनाम, गुंजा लखि लटत।
लालचै लघु तेरो लखि, तुलसि तोहिं हटत ॥४॥

---

१. पाठान्तर—'राम राम राम'।

शब्दार्थ—तिमिर = अन्धकार। तोम = समूह। अटत = पहुँचाता है। गुंजा = घुँघची। लटत = लोभ। हटत = हटता जा रहा है, अलग या दूर होता जा रहा है।

भावार्थ—ऐ सुन्दर जिह्वे! तू राम नाम क्यों नहीं रट रही है? उनका स्मरण करनेसे सुख और आनन्द बढ़ते हैं तथा पाप और अनिष्ट घटते हैं ॥१॥ राम-नाम रटनेसे बिना परिश्रमके ही कलियुगके कटु और विकराल पापोंका जाल उसी प्रकार कट जाता है, जैसे सूर्यके उदय होते ही सघनान्धकार फट जाता है ॥२॥ तू योग, यज्ञ, जप, वैराग्य, तप और तीर्थमें पहुँचती है (वह सब करती है); किन्तु ऐसा करके तू संसाररूपी हाथीको बाँधनेके लिए धूलकी रस्सी बँट रही है ॥३॥ तू राम-नामरूपी चिन्तामणिको छोड़, घुँघची देखकर उसपर लट्टू हो रही है। तेरा यह तुच्छ लोभ देखकर तुलसीदास तुझसे हटता जा रहा है॥४॥

विशेष

१—'अटत'का अर्थ टीकाकारोंने 'फिरता है' लिखा है। किन्तु हमारी समझसे इसका अर्थ है 'पहुँचता है'। भाषामें इसका प्रयोग इसी अर्थमें किया भी जाता है।

[१३०]

राम राम, राम राम, राम राम, जपत।
मंगल-मुद उदित होत, कलि-मल छल छपत ॥१॥
कहु के लहे फल रसाल, बबुर बीज बपत।
हारहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत ॥२॥
काल, करम, गुन, सुभाउ सबके सीस तपत।
राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत ॥३॥
साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम नगर खपत ॥४॥
नाम सों प्रतीति-प्रीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किये रावन-रिपु तुलसिहुँ-से अपत ॥५॥

शब्दार्थ—बपत = बोनेसे। गाल = गाल बजाना, अनर्गल बात करना। गूल = शोर करना। गपत = गप्पें हाँककर। चपत = दब जाते हैं। खपत = खप जाता है। रिपु = रावणके शत्रु श्रीरामजी। अपत = पतित, पापी।

भावार्थ—राम-राम जपते ही कल्याण और आनन्दका उदय होता है और कलिके पाप एवं छल-प्रपंच छिप जाते हैं ॥१॥ कहो तो सही, बबूरका बीज बोकर किसे आमका फल मिला है ? गाल बजाकर तथा गप्पें हाँककर हल्ला करनेमें जीवन बीता जा रहा है, पर उसे इस प्रकार न खो दे। सारांश, गल्लगुल्ल या गुल्लपाड़ा छोड़कर ईश्वर भजन कर ॥२॥ काल, कर्म, गुण और स्वभाव ये सबके सिरपर तप रहे हैं; किन्तु राम-नामकी महिमाकी चर्चा चलनेपर ये सब दब जाते हैं ॥३॥ व्याकुल प्राणी बिना साधनके ही सब सिद्धियाँ लपक लेना चाहता है। इस कलियुगका श्रेष्ठ वाणिज्य व्यापार (नाना प्रकारका निषेध कर्म रूप सौदा) बहुत है, और वह नाम-नगरमें ही खपता है; अर्थात् जिस प्रकार बड़े शहरमें अच्छा-बुरा सब माल बिक जाता है, उसी तरह नाम-रूपी नगरमें पापरूपी सौदा बिक जाता है या नष्ट हो जाता है ॥४॥ राम-नाममें विश्वास और प्रेम करनेसे हृदय स्थिर होकर भगवान्‌में स्थित हो जाता है। श्रीरामजीके नामने तुलसी-सरीखे पापियोंको भी पवित्र कर दिया है ॥५॥

[१३१]

पावन प्रेम राम-चरन-कमल जनम लाहु परम।
रामनाम लेत होत, सुलभ सकल धरम ॥१॥
जोग, मख, बिबेक, बिरति, बेद-बिदित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर, सुनत मधुर, नरम ॥२॥
तुलसी सुनि, जानि-बूझि, भूलहि जनि भरम।
तेहि प्रभुको होहि, जाहि सब ही की सरम ॥३॥[1]

भावार्थ—श्रीरामजीके चरण-कमलोंमें पवित्र प्रेम होना परम लाभकी वस्तु है। रामका नाम लेते ही सब धर्म सुलभ हो जाते हैं ॥१॥ योगाभ्यास, यज्ञ, विवेक, वैराग्य आदि कर्म वेदोंमें प्रकट हैं, पर वे सब सुननेमें ही मधुर और कोमल हैं, करनेमें बड़े ही कटु और कठोर हैं। अर्थात्, योग-यज्ञादि कर्मोंके स्वर्ग ऐश्वर्यादि फल सुननेमें मधुर या मीठे हैं, नाम भी उनके कोमल हैं; किन्तु

१. पाठान्तर 'तेहि प्रभु की तू सरन होहि जेहि सबकी सरम'। तथा 'तेहि प्रभुको तू होहि जाहि सबहीकी सरम।'

करनेमें पहाड़के समान भारी और कठिक हैं ॥२॥ अतः हे तुलसीदास ! तू सुन और जान-बूझकर भ्रममें पड़कर भूल न जा। तू श्रीरामजीका हो जा, जिसे सबकी लाज है ॥३॥

[१३२]

राम-से प्रीतम की प्रीति-रहित जीव जाय जियत।
जेहि सुख सुख मानि लेत, सुख सो समुझ कियत ॥१॥
जहँ-जहँ जेहि जोनि जनम महि, पताल, वियत।
तहँ-तहँ तू विषय-सुखहिं, चहत लहत नियत ॥२॥
कत विमोह लट्यो, फट्यो गगन मगन सियत।
तुलसी प्रभु-सुजस गाइ, क्यों न सुधा पियत ॥३॥

शब्दार्थ—कियत = कितना। महि = पृथिवी। वियत = आकाश। नियत = प्रारब्ध। विमोह = अज्ञान।

भावार्थ—राम सरीखे प्रीतमके प्रेमसे रहित होकर यह जीव व्यर्थ जीता है। जिस सुखको तू सुख मान लेता है, जरा समझ तो सही कि वह सुख कितना है ? अर्थात् सांसारिक सुख क्षणिक हैं, बड़े दुःखदायी हैं ॥१॥ आकाश, पाताल और पृथिवीमें जहाँ-जहाँ और जिस-जिस योनिमें तूने जन्म लिया, तहाँ-तहाँ तूने विषय-सुखकी ही कामना की और प्रारब्धवश वही तुझे मिला भी ॥२॥ क्यों तू अज्ञानमें लुब्ध होकर फटे आकाश (जो कि फटा हुआ नहीं है) की सिलाई करनेमें मग्न है ? (यदि तुझे सुखकी ही इच्छा है, तो) तुलसीदास कहते हैं कि तू श्रीरामजीका सुयश गाकर अमृत पान क्यों नहीं करता ? ॥३॥

विशेष

१—'सुख'—सांसारिक सुख क्या है और कितना है, इसपर भिन्न-भिन्न आचार्योंका मत देखिये :—

'प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति मनः।

—भर्तृहरि

अर्थात्, किसी व्याधि अथवा दुःखके होनेपर उसका जो निवारण किया जाता है, उसीको लोग भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं।

ययातिने अपने पुत्र पुरुकी तरुणावस्था माँगकर एक हजार वर्षतक खूब सुखोपभोग किया। अन्तमें उन्हें जो अनुभव हुआ, वह यह है:—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
—महाभारत, आदिपर्व

अर्थात् 'सुखोंके उपभोगसे विषय-वासनाकी तृप्ति नहीं होती; उससे तो विषय-वासना उसी प्रकार बढ़ती है जैसे हवनके पदार्थोंसे अग्निकी ज्वाला।'

[१३३]

तोसों हौं फिरि फिरि हित, प्रिय पुनीत सत्य वचन कहत।
सुनि मन, गुनि, समुझि, क्यों न सुगम सुमग गहत॥१॥
छोटो बड़ो, खोटो खरो, जग जो जहँ रहत।
अपने अपने को भलो कहहु, को न चहत॥२॥
बिधि लगि लघु कीट अवधि सुख सुखी, दुख दहत।
पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत॥३॥
विषय मुद निहारु भार सिर काँधे ज्यों बहत।
यों ही जिय जानि, मानि सठ! तू साँसति सहत॥४॥
पायो केहि घृत बिचारु, हरिन—वारि महत।
तुलसी तकु ताहि सरन, जाते सब लहत॥५॥

शब्दार्थ—लगि = से। अवधि = तक। लौं = समान। पसुपाल = अहीर, ग्वाला। नहत = नाथता है, जोतता है। निहारु = देख। महत = मथकर। तकु = देख। लहत = प्राप्त होता है।

भावार्थ—रे जीव! मैं तुझसे फिर-फिर हितकारी, प्रिय, पवित्र और सत्य-वचन कहता हूँ। उसे तू सुनकर मनमें गौर करके (गुनकर) और समझकर सीधा रास्ता क्यों नहीं पकड़ता॥१॥ संसारमें छोटा-बड़ा, खरा-खोटा जो जहाँ रहता है, कहो तो, उनमें ऐसा कौन है जो अपना और अपने परिवारका भला नहीं चाहता?॥२॥ ब्रह्मासे लेकर छोटे कीड़ेतक सुखसे सुखी और दुःखसे

जलते हैं, अर्थात् सुख-दुःखका प्रभाव सबपर पड़ता है। परमात्मा ग्वालेकी तरह जीवरूपी पशुओंको बाँधता है, खोलता है और जोतता है। अर्थात्, कोई भी प्राणी स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त जीवोंको ईश्वर जगत्रूप क्रीड़ाके निमित्त उनके योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न व्यापारमें लगाता है, विमुख रहनेवाले जीवोंको बाँधता है, सम्मुख हुए जीवोंको छोड़ता है ॥३॥ विषयोंके आनन्दको देख, वह मानों सिरके ऊपरके बोझको कन्धेपर रखता है। रे शठ! यों ही तू हृदयमें जान और मानकर कष्ट सह रहा है। तात्पर्य, जैसे कोई सिरके ऊपरके बोझको कन्धेपर रखकर क्षणभरके लिए सुखका अनुभव करता है, और फिर जब कन्धा दुखने लगता है, तब वह उसे सिरपर रख लेता है, उसी तरह तू एक विषयसे हटकर दूसरे विषयमें फँसता, और क्षणिक सुखको आनन्द मानता है ॥४॥ सोच तो सही, मृगजल मथकर किसने घी पाया? ऐ तुलसी! तू उसी प्रभुकी शरण देख (शरणमें जा) जिस (प्रभु) से सब-कुछ प्राप्त होता है ॥५॥

विशेष

१—'विधि लगि ··· बहत'—यहाँ गोस्वामीजीने यह दिखाया है कि ब्रह्मासे लेकर छोटे कीड़ेतक सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होते हैं, पर वे मूर्ख हैं; बुद्धिमान् तो वे हैं जो दोनों अवस्थाओंमें समान भावसे धैर्य धारण किये रहें। देखिये न, लिखा भी है:—

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥
—रामचरितमानस

यथार्थतः सब प्राणी ईश्वराधीन हैं—कोई भी जीव स्वतन्त्र नहीं है। ऐसी दशामें सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होनेकी क्या जरूरत?

"नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत।"
—रामचरितमानस

न तो अपनी इच्छासे सुख ही मिलता है और न वह स्थायी रूपसे रहता ही है। सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका आना अनिवार्य है।

[१३४]

तातें हौं बार बार देव! द्वार परि पुकार करत।
आरति, नति, दीनता कहे प्रभु संकट हरत ॥१॥
लोकपाल सोक-बिकल रावन-डर डरत।
का सुनि सकुचे कृपालु नर-सरीर धरत ॥२॥
कौसिक, मुनि-तीय, जनक सोच-अनल जरत।
साधन केहि सीतल भये, सो न समुझि परत ॥३॥
केवट, खग, सबरि सहज चरन-कमल न रत।
सनमुख तोहिं होत नाथ! कुतरु सुफरु फरत ॥४॥
बंधु-बैर कपि-बिभीषन गुरु गलानि गरत।
सेवा केहि रीझि राम, किये सरिस भरत ॥५॥
सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।
ताको लिये नाम राम सब को सुढर ढरत ॥६॥
जाने बिनु राम-रीति पचि पचि जग मरत।
परिहरि छल सरन गये तुलसिहुँ-से तरत ॥७॥

शब्दार्थ—नति = नम्रता। कुतरु = बुरे वृक्ष। सुफरु = सुन्दर फल। कपि = सुग्रीव गुरु = भारी। पवन-पूत = वायुके पुत्र हनुमान्‌जी। अनुहरत = अनुहारि करने लगे।

भावार्थ—हे देवाधिदेव! मैं आपके द्वारपर पड़ा हुआ इसलिए बार-बार पुकार कर रहा हूँ कि आप नम्रतापूर्वक दुःख, और दीनता कहनेपर संकट हर लेते हैं ॥१॥ जब कुबेर, इन्द्र आदि लोकपाल रावणके डरसे डरकर शोक-व्याकुल हो गये थे, तब हे कृपालु! आपने कौन-सी बात सुनकर संकोच किया था और मनुष्यशरीर धारण किया था? ॥२॥ यह बात मेरी समझमें नहीं आती कि शोकाग्निसे जलते हुए विश्वामित्र, अहिल्या और जनक किस साधनसे शीतल हुए थे ॥३॥ आपके चरण-कमलोंमें गुह, निषाद, जटायु पक्षी, शबरी आदिका सहज-प्रेम नहीं था। किन्तु हे नाथ! आपके सम्मुख आते ही बुरे वृक्ष भी उत्तम फल फलने लगते हैं ॥४॥ भाई-(बालि और रावण) के बैरसे सुग्रीव और विभीषण भारी ग्लानिसे गले जा रहे थे। हे रामजी! आपने उन्हें किस सेवापर

रीझकर भरतके समान मान लिया ? अर्थात् सुग्रीव और विभीषणने सेवा तो पीछे की; जब उन लोगोंने कुछ भी सेवा नहीं की थी, तभी आपने उनसे मिलकर कहा था कि 'तुम मुझे भरतके समान प्रिय हो' ॥५॥ सेवक हनुमान्‌जी (सेवा करते-करते) आपकी अनुहारि करने लगे या आपहीके समान हो गये। हे रामजी ! अब उनका नाम लेनेसे आप सबपर पूर्ण रीतिसे ढल (प्रसन्न हो) जाते हैं ॥६॥ हे नाथ ! आपकी रीति जाने बिना संसार पच-पचकर मर रहा है। किन्तु छलभाव त्यागकर आपकी शरणमें जानेपर तुलसी-जैसे जीव भी तर जाते हैं ॥७॥

विशेष

(१) 'साहब अनुहरत'—यों तो हनुमान्‌जी शिवजीके अवतार हैं और शिवजी तथा रामजीमें कोई अन्तर ही नहीं है, तिसपर वह परमात्माका तात्त्विक स्वरूप भी पहचान चुके थे।

राग सूहो बिलावल

[१३५]

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनिहूँ सो तनु तोहिं दियो॥

दियो सुकुल जनम, सरीर सुंदर, हेतु जो फल चारिको।
जो पाइ पंडित परम पद, पावत पुरारि-मुरारि को॥
यह भरत खंड, समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर ! कलप-बल्ली चहति[1] विष फलफली॥१॥

* * *

अजहूँ समुझि चित दै सुनु परमारथ।
है हित सो जगहूँ जाहिते स्वारथ॥

स्वारथहि प्रिय, स्वारथ सो काते कौन वेद बखानई।
देखु खल, अहि-खेल परिहरि, सो प्रभुहिं पहिचानई॥

---

१. पाठान्तर 'चहति है'।

पितु-मातु, गुरु, स्वामी, अपनपौ, तिय, तनय, सेवक, सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेमसों, बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा ॥२॥

* * *

दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।
छलहिं छाँड़ि सुमिरे छोहु किये ही है ॥

किये छोहु छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै।
जगदीस, जीवन जीव को, जो साज सब सबको सजै ॥
हरिहि हरिता, बिधिहिं विधिता, सिवहिं सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई ॥३॥

* * *

ठाकुर अतिहि बड़ो, सील, सरल, सुठि।
ध्यान अगम सिवहूँ, भेंट्यो केवट उठि ॥

भरि अंक भेंट्यो सजल नयन, सनेह सिथिल सरीर सो।
सुर, सिद्ध, मुनि, कवि कहत कोउ न प्रेम-प्रिय रघुबीर सो ॥
खग, सबरि, निसिचर, भालु, कपि किये आपु ते वंदित बड़े।
तापर तिन्हकि सेवा सुमिरि जिय जात जनुसकुचनि गड़े॥४॥

* * *

स्वामी को सुभाउ कह्यो सो जब उर आनिहैं।
सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मन मानिहैं ॥

भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै
ततकाल तुलसीदास जीवन-जनम को फल पाइहै ॥
जपि नाम करहि प्रनाम, कहि गुन-ग्राम, रामहि धरि हिये।
बिचरहि अवनि अवनीस-चरन सरोज मन-मधुकर किये ॥५॥

शब्दार्थ—अमरनिहूँ = देवताओंको भी। सुकुल = उत्तम कुल। तनय = पुत्र। सुठि = सुन्दर। उर = हृदय। आनिहैं = लावेंगे।

भावार्थ—तूने स्नेही रामसे प्रेम नहीं किया। उन्होंने तुझे वह (मनुष्य) शरीर दिया है, जो देवताओंके लिए भी दुर्लभ है। उन्होंने तुझे सुन्दर कुलमें

जन्म दिया है। ऐसा सुन्दर शरीर दिया है जो चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का कारण है। जिस शरीरको पाकर पंडित (ज्ञानी) लोग शिव और कृष्णके परमपदको प्राप्त करते हैं। स्थल उत्तम है, क्योंकि यह देश भारतवर्ष है; और संगति भी अच्छी है, क्योंकि समीपमें ही देवनदी गंगाजी हैं। किन्तु रे कायर! तेरी कुबुद्धिरूपी कल्पबेलि विषैले फल फला चाहती है ॥१॥ अब भी सोच-समझ ले और मन लगाकर परमार्थकी बात सुन। वह भलाईकी बात है अर्थात् परमार्थ सिद्ध करनेवाली है और उससे इस संसारमें भी स्वार्थ सिद्ध होता है। यदि तुझे (परमार्थ प्रिय न हो, केवल) स्वार्थ ही प्रिय है, तो वह स्वार्थ किससे प्राप्त होगा, कौन है, जिसकी वेद बड़ाई करते हैं (यह तो समझ)। रे खल! देख, (विषयरूपी) सर्पके साथ खेलना छोड़कर उस प्रभु (श्रीरामजी) को पहचान, जिसके प्रेमके कारण पिता, माता, गुरु, स्वामी, अपना हृदय, स्त्री, पुत्र, सेवक, मित्र आदि प्रिय लगते हैं। उस अकारण हित करनेवाले (श्रीरामजी) को तूने नहीं देखा ॥२॥ तेरे वह हितू दूर नहीं हैं। वह तेरे हृदयमें ही हैं—ढूँढ़ या देख। छल छोड़कर स्मरण करनेपर वह कृपा किये बैठे हैं। अर्थात् ज्यों ही तू छल छोड़कर उनका स्मरण करेगा—तुरन्त वह तुझपर कृपा करेंगे। वह कृपा करके भक्तोंके ऊपर अपने हस्त-कमलकी छाया किये रहते हैं। वह भजते ही भजने लगते हैं; तात्पर्य, जो उन्हें भजता है, वह भी उसे भजने लगते हैं। वह जगत्के स्वामी हैं, जीवके जीवन हैं। जो सबके लिए सब साज-सामान प्रस्तुत करता है, जिसने विष्णुको विष्णुत्व (विष्णुपन), ब्रह्माको ब्रह्मापन और शिवको शिवपन प्रदान किया है, अर्थात् विष्णुको जगत्-पालनकी शक्ति, ब्रह्माको सृजनकी शक्ति और शिवको संहार-शक्ति जिसने दी है, वह जानकीनाथ श्रीरामजी ही हैं; उनकी मधुरमूर्त्ति आनन्दमयी और कल्याणमयी है ॥३॥ वह शीलमूर्त्ति, सरलमूर्त्ति और सुन्दरताकी मूर्त्ति श्रीरामजी बहुत बड़े ठाकुर (स्वामी) हैं। उनका ध्यान शिवजीको भी दुर्लभ है, (किन्तु वह इतने सरल हैं कि) उन्होंने उठकर निषाद-को हृदयसे लगा लिया। स्नेह-शिथिल शरीरसे ज्यों ही वह केवटको छातीसे लगाकर मिले, त्यों ही उनकी आँखें भर आयीं। देवता, सिद्ध, मुनि और कवि कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीके समान प्रेमप्रिय कोई भी नहीं है। (प्रेमप्रियताका ही प्रभाव है कि) उन्होंने जटायु, शबरी, राक्षस (विभीषण), रीछ (जाम्ब-

वान) और बन्दरों-(सुग्रीव आदि) को अपनेसे भी अधिक वन्दनीय बना दिया। इसपर भी जब वह उन लोगोंकी सेवाओंका स्मरण करते हैं, तब मन-ही-मन मानों संकोचसे गड़-से जाते हैं ॥४॥ स्वामी श्रीरामजीका जो स्वभाव मैंने अभी कहा है उसे जब तू अपने हृदयमें लावेगा, तब तेरी सब चिन्ताएँ मिट जायँगी, और रामजी भी मनमें भला मानेंगे, तुझपर प्रसन्न होंगे। रघुनाथजी तो तभी प्रसन्न हो जायँगे, जब तू हाथ जोड़कर मस्तक नवा देगा अर्थात् प्रणाम करेगा। ऐ तुलसीदास! (उस समय) तू तत्काल ही जन्म लेनेका फल पा जायगा। तू राम-नामका जप कर, उन्हें प्रणाम कर और श्रीरामजीके स्वरूपको हृदयमें धारण करके उनकी गुणावलीका कीर्त्तन कर। तू जगदीश भगवान् रामजीके चरण-कमलोंमें अपने मन-मधुकर-(भ्रमर) को लगाकर पृथिवीपर विचरण कर ॥५॥

विशेष

१—'हरिहि···जो दई'—इसमें यह सन्देह हो सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें तो कोई भेद ही नहीं है, तो फिर गोस्वामीजीने ऐसा क्यों लिखा। इसका समाधान कई तरहसे किया जा सकता है। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि यह अनन्य भक्तिका लक्षण है। अनन्य भक्त चाहे वह शिवजीका उपासक हो अथवा और किसी देवताका—अपने आराध्य देवको सर्वश्रेष्ठ देखता ही है।

२—'ध्यान अगम सिव हूँ'—एक बार भगवान्‌के स्वरूपको हृदयमें स्थित करनेके लिए भगवान् शंकरने सत्तासी हजार वर्षकी एक समाधि लगायी थी।

३—'केवट'—गुह निषाद; १०६ठे पदके 'विशेष'में देखिये।

४—'रावण'—जटायु; इसने सीताको छुड़ानेके लिए रावणसे युद्ध करके देह-त्याग किया था। रामजीने अपने पिताके समान इसका दाह-संस्कार किया था।

५—'सबरि'—१०६ठे पदके 'विशेष'में देखिये।

[१३६]

१

जिय जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो ॥
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो ॥

पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो ।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो ॥
बहु जोनि जनम, जरा-बिपति, मतिमन्द ! हरि जान्यो नहीं ।
श्री राम बिनु बिश्राम मूढ़ ! बिचारु, लखि पायो कहीं ॥

२

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा ॥
मृग-भ्रम वारि सत्य जिय जानी । तहँ तू मगन भयो सुख मानी ॥
तहँ मगन मज्जसि, पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल ! भूलि अब आयो तहाँ ॥
निरमल निरञ्जन, निर्विकार, उदार सुख तैं परिहर्‌यो ।
निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो ॥

३

तैं निज करम-डोरि दृढ़ कीन्हीं । अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं ॥
ताते परबस पर्‌यो अभागे । ता फल गरभ-बास-दुख आगे ॥
आगे अनेक समूह संसृति उदरगत जान्यो सोऊ ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ ॥
सोनित-पुरीष, जो मूत्र-मल कृमि-कर्दमावृत सोवई ।
कोमल सरीर, गँभीर बेदन, सीस धुनि-धुनि रोवई ॥

४

तू निज करम-जाल जहँ घेरो । श्री हरि संग तज्यो नहिं तेरो ॥
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों । परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों ॥
तोहि दियो ज्ञान-बिवेक, जनम अनेक की तब सुधि भई ।
तेहि ईस की हौं सरन, जाकी बिषम माया गुनमई ॥
जेहि किये जीव-निकाय बस रस-हीन, दिन-दिन अति नई ।
सो करौ बेगि सँभार श्रीपति, बिपति महँ जेहि मति दई ॥

५

पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी । अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ॥
ऐसेहि करि बिचारि चुप साधी । प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी ॥

प्रेर्‍यो जो परम प्रचण्ड मारुत, कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान, ध्यान, विराग अनुभव जातना पावक दह्यो॥
अति खेद ब्याकुल, अलप बल, छिन एक बोलि न आवई।
तव तीव्र कष्ट न जान कोउ, सब लोग हरषित गावई॥

६

बाल-दसा जेते दुख पाये। अति असीम, नहिं जाहिं गनाये॥
छुधा-ब्याधि-बाधा भइ भारी। वेदन नहिं जानै महतारी॥
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सोइ करै विविध उपाय, जातें अधिक तुव छाती जरै॥
कौमार, सैसव अरु किशोर अपार अघ को कहि सकै।
ब्यतिरेक तोहि निर्दय! महाखल! आन कहु को सहि सकै॥

७

जोबन जुवती सँग रँग रात्यो। तब तू महा मोह-मद मात्यो॥
ताते तजी धरम-मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम बिषादा॥
बिसरे बिषाद, निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत-आवर्त संसृति चक्र जेहि होइ सोइ कियो॥
कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु, तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार, परधन, द्रोह पर, संसार बाढ़ै नित नयो॥

८

देखत ही आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रगट देखु तन माहीं॥
सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि, सूल सतावई।
सिर-कंप, इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत, बचन काहु न भावई॥
गृहपालहूतें अति निरादर, खान-पान न पावई।
ऐसिहु दसा न बिराग तहँ, तृष्णा-तरंग बढ़ावई॥

९

कहि को सकै महाभव तेरे। जनम एक के कछुक गनेरे॥
चारि खानि संतत अवगाहीं। अजहुँ न करु बिचार मन माहीं॥

अजहुँ बिचारु, बिकार तजि, भजु राम जन-सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं, भजु चक्रधर सुर-नायकं॥
बिनु हेतु करुनाकर, उदार, अपार-माया-तारनं।
कैवल्य-पति, जगपति, रमापति, प्रानपति, गतिकारनं॥

१०

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप-सोक-भय-हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवैं जब सोई॥
जब द्रवैं दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥
जिनके मिले दुख-सुख समान, अमानतादिक गुन भये।
मद-मोह-लोभ-विषाद-क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये॥

११

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्री रघुवीर-चरन लौ लागै॥
देह-जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥
अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।
संतोष, सम, सीतल सदा दम, देहवंत न लेखिये॥
निरमल, निरामय, एक रस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥

१२

जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग श्रुति-साधु दिखावैं। तेहि पथ चलत सबै सुख पावैं॥
पावै सदा सुख हरि-कृपा, संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत-दरसन, बात कोटिक को कहै॥
द्विज, देव, गुरु, हरि संत बिनु संसार-पार न पाइये।
यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गाइये॥

शब्दार्थ—विलगान्यो = अलग हुआ। जरा = बुढ़ापा। मज्जसि = स्नान कर रहा है। संसृति = संसार। हेठ = नीचे। सोनित = रक्त। पुरीष = मल, विष्ठा। कर्दमावृत = कीचसे ढँका हुआ। निकाय = समूह। सिसु = बालक। व्यतिरेक = अतिरिक्त, सिवा। रात्यो = फँस

गया। आवर्त्त = गढ़ा, जन्म-मरणके चक्रमें घूमना। विट = मल। प्रतिहत = नष्ट। गृहपाल = कुत्ता। महाभव = महाजन्म।

१

भावार्थ—हे जीव ! जबसे तू परमात्मासे अलग हुआ (अर्थात्, जबतक तू परमात्माके स्वरूपमें स्थित था, तबतक तेरा जीव नाम नहीं पड़ा था; किन्तु जबसे अविद्याके आवरण द्वारा तू भगवान्से पृथक् हुआ), तबसे तेरा जीव नाम पड़ गया और तभीसे तूने इस शरीरको ही अपना घर समझ लिया। तूने मायाके वश होकर अपने असली सत्-चित्-आनन्दस्वरूपको भुला दिया, और उसी भ्रमके कारण तुझे (जन्म-मरणरूप) भयंकर दुःख हुआ। जो भयंकर और असह्य दुःख तुझे भोगना पड़ा, उसमें स्वप्नमें भी सुखका लेशमात्र न रहा। तू हठपूर्वक उस मार्गसे चलता रहा, जिसमें संसारके शूल (गर्भवास) और अनेक शोक भरे पड़े हैं। रे मन्दबुद्धि ! बहुत-सी योनियोंके जन्म और बुढ़ापेकी विपत्तियाँ तुझे झेलनी पड़ीं, फिर भी तूने श्रीरामजीको न पहचाना। रे मूढ़ ! विचारकर देख, श्रीरामजीके बिना तुझे और कहीं शान्ति मिली ?

२

रे जीव ! तेरा निवास आनन्दके समुद्रमें है, अर्थात् तू आनन्दस्वरूप परब्रह्मसे भिन्न नहीं है। तू बिना जाने (अज्ञानवश) क्यों प्यासा मर रहा है ? तूने मृग-तृष्णाके जल-(इन्द्रिय-विषयों) को सत्य मान लिया, और उसीमें सुख मानकर मग्न हो गया। वहीं तू डूबकर (विषयोंका ध्यान कर) नहा रहा है, और उसीको पी रहा है, जहाँ तीनों कालमें जल (सुख) नहीं अर्थात् विषयोंमें न तो कभी सुख था, न है, और न रहेगा। रे खल ! अब तू अपने सहज अनुभव-रूपको भूलकर वहीं (जहाँ त्रिकालमें जल नहीं) आ पड़ा है। अर्थात् अपने सच्चिदानन्दरूपको भूलकर अब तू अपनेको शरीररूप मान रहा है। तूने विशुद्ध, अविनाशी, षट्-विकार-(जन्म, अस्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, नाश) रहित परम सुखको त्याग दिया। तेरी वही दशा है जैसे कोई राजा व्यर्थ ही स्वप्नमें राज छोड़कर कारागृहमें पड़ा हो।

३

तूने अपनी कर्मरूपी डोरीको मजबूत कर ली और अपने हाथोंसे (अज्ञानसे)

कसकर गाँठ लगा दी। अभागे! इसीसे तू परतंत्र पड़ा हुआ है। उसका फल गर्भवासका दुःख है जोकि तेरे आगे है। आगे (गर्भवासमें) जो अनेक दुःखोंके समूह हैं, वे माताके पेटमें पड़े हुए प्राणीको ज्ञात हैं, (गर्भमें) सिर तो नीचे रहता है और पैर ऊपर। इस संकटकालमें कोई बात भी नहीं पूछता। रक्त, विष्ठा, मूत्र, मल, कृमि और कीचसे ढँका हुआ (गर्भमें) सोता है। उस समय तेरा शरीर तो कोमल रहता है, पर वेदना (पीड़ा) अत्यधिक सहनी पड़ती है। इससे तू सिर धुन-धुनकर रोता है।

४

जहाँ-जहाँ तू अपने कर्म-जालमें घिरा, तहाँ-तहाँ भगवान् तेरे साथ रहे। प्रभुने हर प्रकारसे तेरा पालन-पोषण किया, और उस परम कृपालुने तुझे ज्ञान भी दिया। जब परमात्माने ज्ञान और विवेक दिया, तब तुझे पिछले अनेक जन्मोंका स्मरण हुआ। फिर तो कहने लगा कि 'मैं उस ईश्वरकी शरणमें हूँ जिसकी यह त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जिस (माया) ने जीव-समुदायको अपने वशमें कर रखा है, जिसने जीवोंको रसहीन (आनन्द-रहित) बना रखा है और जो दिनपर दिन अत्यन्त नयी दिखाई देती है, उस मायासे हे लक्ष्मीनारायण! मेरी शीघ्र रक्षा कीजिये; क्योंकि आपहीने तो इस विपत्तिकालमें (गर्भमें) बुद्धि दी है।'

५

फिर तू अपने मनमें बहुत तरहकी ग्लानि मानकर कहने लगा कि अब मैं संसारमें जाकर या जन्म लेकर चक्रपाणि भगवान्का भजन करूँगा। ऐसा विचारकर ज्यों ही तूने चुप्पी साधी, त्यों ही प्रसवकालकी वायुने तुझ अपराधीको प्रेरित किया। उस परम प्रचंड वायुके प्रेरणा करनेपर तुझे अनेक तरहके कष्ट सहन करने पड़े। फिर क्या था, तेरा वह ज्ञान, ध्यान, वैराग्य और अनुभव (सब जन्मकालकी) यातनाकी आगमें जल-भुन गया, अर्थात् असह्य कष्टमें तू सब भूल गया। (जन्म होनेपर) अत्यन्त कष्टके कारण व्याकुल होने, तथा थोड़ा बल रहनेके कारण एक क्षणतक बोल नहीं आया। उस समयके तेरे तीव्र कष्टको किसीने न जाना, उलटा सब लोग हर्षित होकर गाने लगे।

६

बाल्यावस्थामें तुझे जितने दुःख मिले, वे इतने अधिक हैं कि गिनाये नहीं जा सकते। क्षुधा और रोगकी भारी बाधा खड़ी हुई। तेरी वेदनाको माताने न जाना। तेरी उस पीड़ाको माता नहीं जान पाती कि बच्चा किस कारणसे रो रहा है। वह (तेरे हितकी दृष्टिसे) अनेक तरहके ऐसे उपाय (उलटा उपचार) करती है, जिससे तेरी छाती अधिकाधिक जलती है। शैशव, कौमार और किशोरावस्थाके तेरे अपार अघों (दुखों) को कौन कह सकता है? रे निर्दय! महाखल! तू ही कह, कि (उन दुःखोंको) तेरे अतिरिक्त दूसरा कौन सह सकता है?

७

उसके बाद तेरा यौवनकाल आया। तब तू महान् मोहके मदमें मतवाला हो गया और युवतीके साथ रस-रंगमें फँस गया। इससे तूने धर्मकी मर्यादा छोड़ दी। उस समय तू पहलेके सब दुःखोंको भूल गया। पिछले दुःखोंके भूल जाने और आगेके संकटोंको समझकर तेरी छाती नहीं फट जाती? फिर तूने वही काम किया जिससे तुझे गर्भगत आवर्त्तमें (गर्भवास होना, जन्म होना, मरण होना इस प्रकार घूमना, अथवा गर्भके गढ़ेमें) या संसारचक्रमें पड़नेकी नौबत आवे। जिस शरीरका (अन्तिम) परिणाम कृमि होना, राख होना या बीट (मल) होना है, (अर्थात्, मरनेके बाद यदि शरीर सड़ जाता है तो कीड़ोंके रूपमें बदल जाता है, जला दिया जाता है तो राखके रूपमें हो जाता है और यदि जीव-जन्तु खा जाते हैं तो विष्ठा बन जाता है), उसीके लिए तू संसारका बैरी बना। दूसरेकी स्त्री, दूसरेके धन का लोभ तथा दूसरोंसे द्रोह यही सब संसारमें प्रतिदिन नया-नया बढ़ता जाता है।

८

देखते ही देखते बुढ़ापा आ गया। जिस बुढ़ापेको तूने स्वप्नमें भी नहीं बुलाया था उस बुढ़ापेके गुण कुछ भी नहीं कहे जा सकते। उसके गुणोंको अब तू अपने शरीरमें ही प्रकट रूपसे (प्रत्यक्ष) देख ले। वे गुण प्रत्यक्ष हैं। वृद्धावस्थाके कारण शरीर जर्जर हो गया है, रोग और शूल सता रहे हैं, सिर हिल रहा है, इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो गयी है, तेरा बोलना किसीको नहीं भाता।

कुत्तेसे भी बढ़कर तेरा निरादर होने लगा, अन्न-जल भी (समयसे) नहीं मिलता। ऐसी दशामें भी तुझे उससे विराग नहीं हो रहा है और तू तृष्णाकी तरंगोंको बढ़ाता जा रहा है।

९

तेरे महान् संसार, अथवा अनेक जन्मों और अनेक योनियोंकी बातें कौन कह सकता है? यह तो एक जन्मकी कुछ बातें गिनायी गयी हैं। सदैव चार खानों-(अंडज, जैसे पक्षी आदि; पिंडज, जो गर्भसे उत्पन्न होते हैं जैसे मनुष्य, पशु आदि; स्वेदज, जैसे खटमल जुएँ आदि; उद्भिज, जैसे वृक्ष आदि) में जन्म ग्रहण करना या घूमना पड़ता है। अब भी तू मनमें विचार नहीं कर रहा है। अब भी तू विचार कर और विकारोंको छोड़कर भक्तोंको आनन्द देनेवाले श्रीरामजीको भज। दुस्तर संसार-सागरके लिए जलयान (नाव) रूपी चक्र सुदर्शनधारी देवाधिदेव भगवान् रामचन्द्रजीका भजन कर। वह अकारण ही करुणा करनेवाले, उदार और अपार मायासे उद्धार करनेवाले हैं। वह कैवल्यके स्वामी अर्थात् मोक्ष-दाता, जगत्के स्वामी, लक्ष्मीजीके पति, प्राणनाथ और सुगतिके कारण हैं।

१०

श्रीरघुनाथजीकी भक्ति सुलभ और सुखदायिनी है। वह तीनों तापों, शोक और भयको हरनेवाली है। किन्तु वह भक्ति बिना सत्संगके पैदा नहीं होती, और संतजन तब मिलते हैं जब वह (श्रीरामजी) द्रवित होते हैं। जब दीनदयालु राघव कृपा करते हैं, तब ऐसे साधु-महात्माओंकी संगति प्राप्त होती है, जिनके दर्शनसे, स्पर्शसे और समागम आदिसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं, जिनके मिलनेसे सुख और दुःख समान प्रतीत होने लगते हैं तथा अमानता आदि सद्गुण पैदा हो जाते हैं। फिर तो सुबोध अर्थात् आत्मज्ञान हो जाता है और उसके प्रभावसे मद, मोह, लोभ, शोक, क्रोध आदि सहजहीमें दूर हो जाते हैं। सारांश, सत्संगके प्रभावसे जीवन ही धन्य हो जाता है।

११

साधु-सेवा करते ही द्वैतका भय भाग जाता है ('सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भान हो जाता है), और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें ध्यान लग जाता है। जब शरीरसे

उत्पन्न होनेवाले सब विकारोंको छोड़ दे, तब जाकर अपने स्वरूपमें प्रेम होता है। जिसे अपने स्वरूपमें अनुराग है, वह संसारमें विलक्षण दिखाई देता है। उसे सदा सन्तोष, समता और शान्ति रहती है तथा उसके मन एवं इन्द्रियोंका निग्रह स्वाभाविक ही हो जाता है। फिर तो वह देहधारी समझा ही नहीं जाता; वह विशुद्ध, नीरोग, आधि-व्याधि-रहित, एकरस हो जाता है; उसे हर्ष और शोक नहीं व्यापता। जिसकी सदैव ऐसी दशा हो गयी, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।

१२

जो मनुष्य इस मार्गपर मन लगाकर चलता है, उसकी सहायता प्रभुजी क्यों न करेंगे? जिस मार्गको वेदों और संतोंने दिखाया है, उस मार्गपर चलने-से सब लोग सुख पाते हैं। वे ईश्वरकी कृपासे नित्यानन्द प्राप्त करते हैं, और सांसारिक भावनाओंको छोड़ देते हैं। (मूल बात यह है कि) उसे स्वप्नमें भी द्वैतके दुःखका दर्शन नहीं होता, करोड़ों बातें कौन कहे। ब्राह्मण, देवता, गुरु, हरि और संतोंके बिना संसार-सागरको पार करना असम्भव है। यही समझकर तुलसीदास भव-भयहारी लक्ष्मीनारायण भगवान्‌के गुण गाता है।

विशेष

१—'जिय'—जीव और ईश्वर क्या हैं, इस विषयमें अद्वैतवादमें कई मत हैं। उनमें प्रत्येकके मतकी परिभाषा नीचे लिखी जाती है। इससे पाठक-गण समझ सकेंगे कि अद्वैतके ही अन्तर्गत भिन्न-भिन्न आचार्योंके विचारमें कितना सूक्ष्म अन्तर है।

अवच्छेदवाद—जब शुद्ध चेतन ब्रह्मके साथ मायाका विशेषण लगता है, तो वह ईश्वर कहलाता है, और जब उसके साथ अविद्याका विशेषण लगता है, तो वह जीव कहलाता है। किन्तु अवच्छेदवादके दूसरे मतके अनुसार, जब चेतनका विशेषण अन्तःकरण होता है, तो वह जीव है, और जब अन्तःकरण उसका विशेषण नहीं है, तो वह ईश्वर है। अवच्छेदका अर्थ है, पृथक् करना, सीमा बाँधना।

आभासवाद—इस सिद्धान्तमें शुद्ध चेतनाका जो आभास माया, अविद्या,

अन्तःकरण, बुद्धि अथवा अज्ञानमें पड़ता है, उसके कारण ईश्वर और जीवके रूप कई तरहके माने गये हैं। आभास मिथ्या होता है, अतः ईश्वर और जीवके रूप भी मिथ्या हैं। इस मतके अनुसार ईश्वर और जीवके रूप ये हैं—शुद्ध चेतन और मायामें शुद्ध चेतनका आभास ईश्वर है। अविद्या, अविद्याका अधिष्ठान कूटस्थ, और कूटस्थका अविद्यामें आभास जीव है। बुद्धि-वासना-विशिष्ट अज्ञानमें शुद्ध चेतनका आभास ईश्वर है। अन्तःकरण, अन्तःकरणका अधिष्ठान कूटस्थ, और कूटस्थका अन्तःकरणमें आभास जीव है। शुद्ध चेतन और मायामें शुद्ध चेतनका आभास ईश्वर है। बुद्धि, बुद्धिका अधिष्ठान कूटस्थ और कूटस्थका बुद्धिमें आभास जीव है। अथवा बुद्धिका अधिष्ठान कूटस्थ, और बुद्धिमें ब्रह्मका आभास जीव है। अथवा अज्ञानका अधिष्ठान कूटस्थ और कूटस्थका अज्ञानमें आभास जीव है। समष्टि बुद्धि वासना-विशिष्ट अज्ञानमें चेतनका आभास ईश्वर है। अन्तःकरणमें चेतनका आभास जीव है।

प्रतिबिम्बवाद—दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह मुखका प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब तो मिथ्या नहीं है, पर बिम्ब मुखमें ही प्रतिबिम्बकी प्रतीति भ्रमरूप है। तात्पर्य यह कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक ही हैं। इसी प्रकार माया और अविद्यामें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब दिखता है, वह और ब्रह्म एक ही हैं। प्रतिबिम्बवादके कई भेद हैं। १—शुद्ध चेतनके आश्रित मूल-प्रकृतिमें चेतनका प्रतिबिम्ब ईश्वर है। अविद्या-रूप अनेक अंशोंमें चेतनके अनेक अनन्त प्रतिबिम्ब जीव हैं, और आवरण-शक्ति विशिष्ट मूल-प्रकृतिके अंशोंको अविद्या कहते हैं। २—मायामें चेतनका प्रतिबिम्ब ईश्वर, और अविद्यामें चेतनका प्रतिबिम्ब जीव है। यहाँपर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मूलप्रकृतिके दो रूप हैं—माया और अविद्या। शुद्ध सत्व-प्रधान माया है, जिसमें विक्षेप-शक्तिकी प्रधानता है और मलिन-सत्त्व-प्रधान अविद्या है जिसमें आवरण-शक्तिकी प्रधानता है। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। ३—अविद्यामें चेतनका प्रतिबिम्ब ईश्वर है, और अन्तःकरणमें चेतनका प्रतिबिम्ब जीव है। (यहाँ अविद्याका अर्थ अज्ञान है) ४—अज्ञानोपहत बिम्ब ईश्वर है, और अज्ञानमें प्रतिबिम्ब जीव है।

एकजीव-वाद—अद्वैत-मतमें आत्मा एक है, और जीव अनेक। जीवोंका

ही आवागमन होता है। इन्हींको पिछले कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। कुछ वेदान्तियोंके मतमें आत्मा और जीव दोनों ही एक हैं। अन्य जीव, जीवाभास अर्थात् भ्रम-मात्र हैं। इस पक्षका कथन है कि ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे जीव हो गया है। वही ईश्वरकी कल्पना कर लेता है। न तो जीव अवच्छेदरूप है और न आभास या प्रतिबिम्बरूप ही। ब्रह्ममें जो कल्पित अज्ञानसे जीवभाव उत्पन्न हुआ है, वह ठीक वैसे ही है, जैसे कुन्तीका पुत्र कर्ण अज्ञानके कारण अपनेको दासी-पुत्र समझता था। ब्रह्मने ही अज्ञानसे जीव बनकर ईश्वरको भी उत्पन्न कर लिया है। या यों भी कहा जा सकता है कि शुद्ध चेतन ब्रह्म अपने आश्रित अज्ञानकी उपाधिके कारण जीवरूप हुआ है। इसी एक जीवने अपने विषयमें नाना जीवों, ईश्वर और जगत् प्रपंचकी कल्पना कर ली है। इस मतमें भी निम्नलिखित भेद हैः—

क—जीव एक है, अनेक नहीं। सजीव शरीर एक ही है। जो अन्य शरीर दिखाई देते हैं; वे स्वप्नके शरीरोंके समान निर्जीव हैं।

ख—ब्रह्म जीव नहीं है, ब्रह्मका प्रतिबिम्ब-रूप हिरण्यगर्भ एक मुख्य जीव है। बिम्ब ब्रह्म उससे भिन्न है। इसी हिरण्यगर्भने जगत्‌की रचना की है। हिरण्यगर्भका शरीर इस मुख्य जीवसे सजीव है और दूसरे शरीर जीवाभास-रूप जीवोंसे सजीव हैं।

ग—अविद्यामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ही जीव है और अविद्याके एक होनेसे वह एक है। वह जीव भोगके लिए सब शरीरोंको आश्रय देता है। उसी जीव-के प्रतिबिम्ब अन्य सब जीव हैं। इन प्रतिबिम्बाभास-रूप जीवोंसे अन्य सब शरीर सजीव हैं।

नानाजीव-वाद—इस मतमें भी कई भेद हैं।

अ—अन्तःकरण अनेक हैं, अतः जीव भी अनेक हैं। कारण, जीवोंमें अन्तःकरण आदि उपाधियाँ होती हैं। अन्तःकरणोंका उपादानमूला-ज्ञान एक है; वह शुद्ध ब्रह्मके आश्रित है, ब्रह्मको ही विषय किये हुए है और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके स्पष्ट रूपसे ये भेद हैः—

क—मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर है। अज्ञानके नाना अंशोंसे अवच्छिन्न चेतन नाना जीव हैं।

ख—अविद्यावच्छिन्न चेतन ईश्वर है। नानान्तःकरणावच्छिन्न चेतन नानाजीव हैं।

ग—समष्टि अज्ञानावच्छिन्न चेतन ईश्वर है। नाना अज्ञानांशसे सम्बन्ध-युक्त चेतन नाना मत उपाधिवाले जीव हैं।

घ—समष्टि अविद्या उपाधिवाला ईश्वर है। अनेक अविद्यांश उपाधिवाला चेतन जीव है।

इस अद्वैतवादमें वार्त्तिककारके मतसे जीव और ईश्वरके लक्षण ये हैं:—मूलाज्ञान-विशिष्ट चेतन ईश्वर है। तूलाज्ञान-विशिष्ट चेतन जीव है। मूलाज्ञान सामान्य अज्ञान है। यह एक है, अतः ईश्वर भी एक है। तूलाज्ञान विशेष अज्ञान है। यह नाना है, अतः जीव भी नाना हैं।

यह स्मरण रहे कि केवल आभास या प्रतिबिम्ब जीव नहीं है, बल्कि उपाधि सहित चिदाभास या प्रतिबिम्ब और अधिष्ठान चेतन, दोनों मिलकर जीव हैं। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् और पराधीन है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान और स्वतन्त्र है। जीवकी सात अवस्थाएँ हैं। अज्ञान, आवरण, भ्रान्ति, द्विविधज्ञान, शोक, नाश और अतिहर्ष।

इस प्रकार शास्त्रोंमें जीव और ईश्वरके लक्षण पाये जाते हैं। गोस्वामीजी किस मतके अनुयायी थे, इसका विस्तृत उल्लेख अन्यत्र किया गया है। जीव और ईश्वरका विस्तृत विवरण देनेसे पाठकगण विचार कर सकेंगे कि गोस्वामी-जीके ग्रन्थोंमें किस 'वाद' का आभास पाया जाता है। इस पदमें गोस्वामीजीके सिद्धान्तकी झलक भली भाँति दिखलाई पड़ती है। यों तो विनयपत्रिकाके प्रत्येक पद अपूर्व हैं, पर यह पद हर मनुष्यके लिए कण्ठस्थ करने योग्य है।

२—'छिन एक बोलि न आवई'—वियोगी हरिजीने इसका अर्थ लिखा है, 'एक क्षण भर भी तुझसे न बोलते बना।' किन्तु कबतक बोलते न बना, कुछ पता नहीं। वास्तवमें बात यह है कि नवजात शिशु माताके गर्भसे बाहर निकलने या पैदा होनेके बाद प्रसव-पीड़ासे बेहोश रहनेके कारण थोड़ी देरतक रोता भी नहीं। उसीके लिए गोस्वामीजीने लिखा है, 'छिन एक बोलि न आवई', इसका अर्थ है, एक क्षणतक बोल नहीं आता (रोता भी नहीं)।

३—'कौमार···सकै'—इसका अर्थ भी उक्त टीकाकारने किया है, 'कुमारा-

वस्था, बचपन और किशोरावस्थामें तूने कितने अनन्त, अगणित, पाप किये हैं, इसका वर्णन करना सामर्थ्यके बाहर है।' किन्तु शास्त्रकारोंने यह कहा है कि पाँच वर्षकी अवस्थातक पुण्य और पाप लगता ही नहीं। फिर यह कैसी बात है ? यहाँ 'अघ'का अर्थ 'पाप' नहीं बल्कि दुःख है। यथार्थ अर्थ पाठकगण इस टीकामें देख लें। अथवा यदि 'अघ' का अर्थ 'पाप' ही ग्राह्य हो, तो इसका अर्थ इस प्रकार किया जाना संगत हो सकता है:—'कौमार, शैशव और किशोर अवस्था कितना घोर पाप है अथवा कितने घोर पापका फल है, इसे कौन कह सकता है ?'

४—'सोइ······छाती जरै'—का अर्थ आप करते हैं—'किन्तु वह बराबर वही उपाय करती है, जिससे तेरी छाती और जले'। खूब ! माता अपने नव-जात-शिशुकी छाती जलानेके लिए उपाय करती है, यह वियोगी हरिजीकी नयी सूझ है। किन्तु महाराज ! यहाँ तो आप विनयपत्रिकाकी टीका लिखने बैठे हैं, फिर आप अपनी नयी सूझका नमूना क्यों दिखाने लगे ! गोस्वामीजीके शब्द तो यह नहीं कहते कि माता अपने बच्चेकी छाती जलाती है। वे तो यह कह रहे हैं कि 'वह (तेरे हितकी दृष्टिसे) अनेक तरहके ऐसे उपाय करती है, जिससे तेरी छाती अधिकाधिक जलती है।' तात्पर्य, माता यत्न तो करती है बच्चेको सुख पहुँचानेके लिए, पर उससे उसे होता है और अधिक कष्ट।

राग बिलावल

[१३७]

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै ॥१॥
तकै नीचु जो मीचु साधु की, सो पामर तेहि मीचु मरै।
बेद-बिदित-प्रहलाद-कथा सुनि, को न भगति-पथ पाउँ धरै ॥२॥
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै।
अंबरीष की साप-सुरति करि, अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै ॥३॥
सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य बिजय-जस, पांडुतनै बरिआइ बरै ॥४॥

जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनेहुँ सुख न संत-द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ विष-फरनि फरै ॥५॥
हैं काके द्वै सीस ईस के, जो हठि जनकी सीवँ चरै।
तुलसिदास रघुवीर-बाहुबल, सदा अभय, काहू न डरै ॥६॥

शब्दार्थ—सरै=पूरा पड़ सकता है, हो सकता है। मीचु=मौत। अबुध=मूर्ख। खनैगो=खोदेगा। फरनि=फलोंसे। सीव=सीमा।

भावार्थ—यदि कृपालु रघुनाथजीकी कृपा रहे, तो दूसरोंके वैर करनेसे क्या बिगड़ सकता है ? यदि कोई करोड़ों उपाय करे, तब भी भक्तका बाल बाँका नहीं होता ॥१॥ जो नीच किसी साधुकी मौत देखता है, वह पामर स्वयं उस मौतसे मरता है। वेदोंमें विदित भक्त प्रह्लादकी कथा सुनकर, भक्ति-पथपर कौन नहीं पैर रखेगा ? ॥२॥ भगवान्‌ने गजेन्द्रका उद्धार किया, विभीषणको राजगद्दी-पर बिठाया और ध्रुवको ऐसा अविचल पद दे दिया जो कभी टल नहीं सकता। अम्बरीषके शापकी सुध करके आज भी महामुनि (दुर्वासा) ग्लानिसे गले जाते हैं ॥३॥ दुर्योधनने (पाण्डवोंके अहितके लिए) क्या-क्या नहीं किया, वह मूर्ख अपने ही घमण्डमें जलता रहा। किन्तु ईश्वरकी कृपासे सौभाग्य, विजय और यशने पाण्डवोंको ही हठपूर्वक वर लिया, अर्थात् सौभाग्य, विजय और यश पाण्डवोंको ही प्राप्त हुआ ॥४॥ जो कोई दूसरेके लिए कुआँ खोदेगा, वह शठ स्वयं घूम-फिरकर उसी कुएँमें गिरेगा। सन्त-द्रोहीको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता। ऐसे आदमीके लिए तो जो कल्पवृक्ष है, वह भी जहरीले फल फलेगा ॥५॥ किसके दो सिर हैं जो जबर्दस्ती भगवान्‌के भक्तकी सीमाको लाँघेगा ? तुलसीदास तो श्री रघुवीरके बाहु-बलके भरोसे सदा निर्भय है, वह किसीसे नहीं डरता ॥६॥

विशेष

१—प्रह्लाद, गजराज, ध्रुव और अम्बरीष, दुर्वासाकी कथा पीछे क्रमशः ९३, ८३, ८६ और ९८ पदोंके विशेषमें लिखी जा चुकी है।

२—'पांडुतनै'—यह पाठ काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाकी प्रतिमें है। अन्यान्य प्रतियोंमें 'पांडवने' पाठ है। गीता प्रेसकी प्रतिमें 'पांडवनै' पाठ है।

इसपर उक्त प्रतिके टीकाकारने टिप्पणी लिखी है—'पांडवनै' पाठ ही शुद्ध है। पांडुतनै पाठ कर देनेवालोंने भूल की है। अवधीमें पांडवका बहुवचन कर्म-कारकका शुद्ध रूप है 'पांडवनहिं' या 'पांडवनै'। 'पांडवन्हि' भी लाघवसे बनता है, परन्तु यहाँ एक मात्रा उससे अधिक होनी चाहिये थी।'

[१३८]

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक! धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥१॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवल भेंट्यो ॥२॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निज धाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित, कपि कुल-पति सुग्रीव कियो ॥३॥
आयो सरन सभीत बिभीषन, जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभय दान देवन्ह दीन्हों ॥४॥
सीतल सुखद छाँह जेहि करकी, मेटति पाप, ताप, माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥५॥

शब्दार्थ—बारक = एक बार। हति = मारकर।

भावार्थ—हे रघुकुल-नायक! हे नाथ! क्या आप कभी अपने उस कर-कमलको मेरे मस्तकपर रखेंगे, जिस हाथसे, विवश होकर एक बार पुकारते ही आपने आर्त्त जनोंको अभय कर दिया था? ॥१॥ आपने जिस हस्त-कमलसे शिवजीके कठोर धनुषको तोड़कर महाराज जनकका संशय दूर किया था, और जिस कर-कमलसे केवट निषादको भाईकी तरह उठाकर बड़े प्रेमसे सीनेसे लगाया था ॥२॥ हे कृपालु! आपने जिस कर-कमलसे जटायु गीधको पिण्डदान देकर उसे अपने साकेत धाममें भेज दिया था, और जिस हाथसे अपने सेवककी भलाईके लिए बालिको मारकर, सुग्रीवको वानर-वंशका राजा बनाया था ॥३॥ आपने जिस कर-कमलसे भयभीत होकर शरणमें आये हुए विभीषणका राज्याभिषेक किया था, तथा जिस हाथसे 'धनुष-बाण लेकर, असुरोंको मारकर देवताओंको अभय दान दिया था ॥४॥ जिस हाथकी शीतल और सुखद छाया

पाप, ताप, और मायाका नाश कर देती है, तुलसीदास रातदिन आपके उसी कर-कमलकी छाया चाहता है ॥५॥

[१३९]

दीन दयालु, दुरित-दारिद-दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन, वेद-बुध-सम्मत, मम मूरति महिदेव मई है।
तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद, लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति, प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥३॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-वेद-मरजाद गई है।
प्रजा पतित, पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥४॥
सांति, सत्य, सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति, कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सकल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर बिबस बिकल जामति न वई है ॥६॥
कलि-करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यों त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों ज्यों सील बस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहैं कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि ना तौ बलि, मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम कृपा-चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम-राज भयो काज, सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है ॥१०॥
समरथ बड़ो, सुजान सुसाहब, सुकृत-सैन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास साँसति बितई है ॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर, अभय बाँह केहि केहि न दई है ॥१२॥

शब्दार्थ—दुरित = पाप । दुनी = संसार । तई = तप्त । महिदेव = पृथिवीके देवता, ब्राह्मण । रिस = क्रोध । प्रतीति = वेद-शास्त्रके वचन । परमिति = परम्पराकी रीति । पति = प्रतिष्ठा । हेतुवाद = नास्तिकवाद । हई = नाश, हानि । सीदत = कष्ट पाते हैं । सई = सच्ची । गोमर = गाय मारनेवाला, कसाई । वई = बोया जाता है । टहल = सेवा । टई = काम । ठई = ठहरी है । जई = जन्मी, वतिया । दादि = इन्साफ । रितई = खाली । हेरि = देखकर । भिजई = भिगो दिया ।

भावार्थ—हे दीनदयालु ! पाप, दरिद्रताके दुःख और तीनों दुःसह तापोंसे संसार तप्त है । हे देवाधिदेव ! यह आर्त्त आपके द्वारपर पुकार रहा है, क्योंकि सबलोगोंके सब सुखोंकी हानि हो गयी है, अर्थात् सबलोग दुःखी हैं ॥१॥ हे प्रभो ! वेदों और पंडितोंकी राय है, तथा आपका भी यह वचन है कि मेरी मूर्त्ति ब्राह्मणमयी है, अर्थात् ब्राह्मण मेरी ही प्रतिमूर्त्ति हैं । किन्तु उनकी (ब्राह्मणों की) लालची बुद्धिको क्रोध, राग, मोह, मद और लोभने निगल लिया है ॥२॥ राज-समाज (क्षत्रिय-वंश) कटु फल देनेवाली करोड़ों बुरी बातों (लूटना, पीटना, सताना आदि) से भरा है । वह नित्य-प्रति पापपूर्ण नयी-नयी कुचालें चल रहा है । नास्तिकवादने हठपूर्वक राजनीति, वेद-शास्त्र, श्रद्धा, परम्परा-की रीति (वर्णाश्रमकी मर्यादा) की प्रतिष्ठाको ढूँढ़-ढूँढ़कर नाश कर डाला है ॥३॥ आश्रम-धर्म और वर्ण-धर्मसे यह संसार रहित हो गया है और लोक तथा वेदकी मर्यादा नष्ट हो गयी है । प्रजा पतित होकर पाखंड और पापमें रत है । सबलोग अपने-अपने रंगमें रँगे हैं ॥४॥ शान्ति, सत्य और कल्याणका ह्रास हो गया और कुरीतियाँ बढ़ गयी हैं जिनपर कि छल या कपटकी कलई की हुई है । साधु कष्ट पाते हैं और साधुता सोचमें पड़ी है । दुष्ट विलास कर रहे हैं और दुष्टता आनन्दमें है ॥५॥ परमार्थके स्वार्थमें परिणत हो जानेके कारण उसकी साधना निष्फल होने लगी है और सब सिद्धियाँ भी अब सही नहीं उतरतीं । कामधेनुरूपी पृथिवी कलिरूपी कसाईके हाथमें विवश पड़ी है । वह इस प्रकार व्याकुल है कि जो कुछ भी बोया जाता है, वह जमता (उगता) ही नहीं ॥६॥ कलियुगकी करनीका वर्णन कहाँतक किया जाय, यह बिना कामका सब काम करता फिरता है । इतनेपर भी दाँत पीस पीसकर हाथ मल रहा है (सोच रहा है कि अभी तो मैंने कुछ किया ही नहीं) । कौन जानता है कि इसने अपने दिलमें क्या ठान रखी है, अर्थात् इसने क्या करना स्थिर किया है ॥७॥

ज्यों-ज्यों आप शीलमें पड़कर इसे ढील दे रहे हैं, त्यों-त्यों यह नीच सिरपर चढ़ता जा रहा है। यदि आप क्रोधके साथ डाँटकर इसे मना कर दें, तो यह उसी प्रकार मुरझा जायगा जैसे तर्जनी अँगुली दिखानेसे कुम्हड़ेकी बतिया ॥८॥ मैं आपकी बलैया लेता हूँ, आप न्याय कीजिये, नहीं तो अब पृथिवी आनन्द-मंगलसे खाली होती जा रही है। ऐसा कीजिये, जिससे लोग सौभाग्यशाली होकर प्रेमके साथ कहें कि श्रीरामजीने कृपाकी दृष्टिसे देखा है ॥९॥ मेरी यह विनती सुनकर (भगवान्‌ने) हँसकर आनन्दित भावसे मेरी ओर देखा, और करुणजलसे पृथिवीको भिगो दिया। राम-राज्य होनेसे सब काम हो गया। शुभ शकुन होने लगे, क्योंकि महाराज श्री रामजी संसारविजयी हैं ॥१०॥ वह बड़े सामर्थ्यवान हैं तथा चतुर और अच्छे स्वामी हैं। उन्होंने सुकृत (पुण्य) रूपी सेनाको हारनेसे जिता दिया है। उनके उत्तम भक्त स्वभावतः आदरपूर्वक उनकी सराहना करते हैं कि उन्होंने अनायास ही कष्टको बिता दिया—दूर कर दिया ॥११॥ उखड़े हुएको स्थापित करना, उजड़े हुएको बसाना और गयी हुई वस्तुको फिरसे दिलाना ही उनका सदैवका बाना है (यही उनकी बानि या आदत है)। तुलसीदासके प्रभु श्रीरामजी आर्त्तोंकी आर्त्तता हरनेवाले हैं। उन्होंने किस-किसको अभय बाँह नहीं दी? अर्थात् किसकी रक्षा नहीं की? ॥१२॥

विशेष

१—'त्यों त्यों नीच···दई है' इसपर गोस्वामीजीने दोहावलीमें भी लिखा है:—

नीच चंग सम जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढीलि देत भुइँ गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास॥

२—'कुम्हड़ेकी जई है'—कुम्हड़ेकी बतिया तर्जनी अँगुली दिखा देनेपर मर जाती है। इसे गोस्वामीजीने रामायणमें इस प्रकार कहा है:—

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जो तर्जनी देखि मरि जाहीं॥

३—इस पदमें गुसाईंजीके हृदयमें, लोकोपकारका भाव कितना अधिक था, यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पहले ब्राह्मणोंके ऐश्वर्यकी हानि कही गयी

है, उसके बाद क्षत्रियोंका पतन। दोनों उच्च वर्णोंकी भ्रष्टता कहकर समुदाय रूपमें संसारका दुःख दिखाया गया है। जैसे कोई राजा दूसरे देशपर चढ़ाई करके पहले उस देशके किलेपर अधिकार करता है, और पीछे सब देश स्वयं ही उसके अधीन हो जाता है, उसी प्रकार कलिकालरूपी राजाने संसारको दखल करनेके लिए धर्मके किलारूपी ब्राह्मण-क्षत्रियोंको जीत लिया है, अतः अन्य वर्णाश्रम आदि अपने आप ही उसके वशमें हो गये हैं।

[१४०]

ते नर नरक-रूप जीवत जग
भवभंजन-पद-विमुख अभागी।
निसिवासर रुचिपाप असुचिमन,
खलमति-मलिन, निगमपथ-त्यागी ॥१॥
नहिं सतसंग, भजन नहिं हरि को
स्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि
सोवत अति, न कबहुँ मति जागी ॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि,
सठ हठि पियत विषय-विष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिसजन,
जनमत जगत जननि-दुख लागी ॥३॥

भावार्थ—वे मनुष्य संसारमें नरकरूप होकर जीते हैं और अभागे हैं जो भव-भय-भंजन करनेवाले भगवच्चरणोंसे विमुख हैं। रातदिन उनकी रुचि पापमें रहती है, और मन अपवित्र रहता है। वैदिक मार्गको त्यागकर उनकी दुष्ट बुद्धि मलिन रहती है ॥१॥ न तो वे सत्संग करते हैं और न भगवान्‌का भजन ही। राम-कथा सुननमें भी उनका प्रेम नहीं रहता। वे पुत्र, धन, स्त्री और घरकी ममतारूपी रात्रिमें अचेत होकर सोते रहते हैं; उनकी बुद्धि (इस ममतारात्रिमें) कभी जागती ही नहीं ॥२॥ तुलसीदासका कथन है कि वे दुष्ट रामनामामृतको छोड़कर हठ-पूर्वक विषयरूपी विष माँग-माँगकर पीते हैं। ऐसे मनुष्य सूअर, कुत्ते

और सियारके समान संसारमें केवल अपनी माताको दुःख देनेके लिए जन्म लेते हैं ॥३॥

[१४१]

रामचन्द्र रघुनायक तुमसों हौं बिनती केहि भाँति करौं ।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥१॥
पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत-सील नहिं हृदय धरौं ।
देखि आनकी बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥२॥
भगति-बिराग-ग्यान साधन कहि बहुबिधि डहँकत लोग फिरौं ।
सिव-सरवस सुखधाम नाम तव, बेंचि नरकप्रद उदर भरौं ॥३॥
जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं ।
रज-समपर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रजते निदरौं ॥४॥
नाना वेष बनाय दिवस-निसि, पर-बित जेहि तेहि जुगुति हरौं ।
एकौ पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद-सरोज सुमिरौं ॥५॥
जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि औटि मरौं ।
तुलसिदास प्रभु कृपा-बिलोकनि, गोपद-ज्यों भवसिंधु तरौं ॥६॥

शब्दार्थ—अनघ = पाप रहित । डहँकत = ठगता हुआ । सीकर = बूँद, कण । रज = धूल । अलोल = स्थिर, शान्त । औटि = औटाकर, खौलाकर ।

भावार्थ—हे रघुनायक श्रीरामचन्द्रजी ! मैं आपसे किस प्रकार विनती करूँ ? क्योंकि मैं अपने अनेक पापोंको देखता हुआ आपके पाप-रहित नामका अनुमान करके डर रहा हूँ ॥१॥ दूसरेके दुःखसे दुखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना जो सन्त-स्वभाव है, उसे मैं अपने हृदयमें धारण नहीं करता । (मेरा तो यह स्वभाव है कि) मैं दूसरेकी विपत्ति देखकर प्रसन्न होता हूँ और दूसरेकी सम्पत्तिका हाल सुनकर (देखनेको कौन कहे) बिना आगके ही जलने लगता हूँ ॥२॥ मैं भक्ति, वैराग्य, ज्ञान और साधनोंकी बातें कहकर नाना प्रकारसे लोगोंको ठगता फिरता हूँ । आपका जो नाम सुखका धाम और शिवजीका सर्वस्व है, उसी नामको मैं बेचकर नरकप्रद (नरकमें पहुँचानेवाला) पेटको भरता हूँ ॥३॥ (यद्यपि) मैं अपने हृदयमें जानता हूँ कि मेरे पाप समुद्रके समान (अपार) हैं, फिर भी (जब मैं

दूसरोंके मुखसे अपना) जल-कणके समान (जरासा) पाप भी सुनता हूँ, तो उससे लड़ पड़ता हूँ; अर्थात् दूसरेके मुखसे अपने पापकी बात सुनकर सहन नहीं करता। किन्तु मैं दूसरोंके रजके समान (थोड़ेसे) अवगुणको सुमेरुगिरि पर्वतके समान, और पर्वतके समान गुणको रज-कणके समान बतलाकर उनका निरादर करता हूँ ॥४॥ नाना प्रकारके वेष बनाकर दिन-रात जैसे-तैसे छलोंसे दूसरेका धन हरण करता हूँ, किन्तु कभी एक पल भी स्थिर चित्तसे हित करनेवाले आपके पद-पद्मका स्मरण नहीं करता ॥५॥ यदि आप मेरे आचरणपर विचार करेंगे, तो मुझे करोड़ों कल्पतक खौलकर मरना पड़ेगा—कभी उद्धार न होगा; किन्तु हे प्रभो! आपकी कृपा-दृष्टि होते ही मैं तुलसीदास संसार-समुद्रको गो-खुरके (जलके) समान पार कर जाऊँगा ॥६॥

विशेष

१—'देखि·········आगि जरौं'—यहाँ गुसाईंजीने दूसरेकी विपत्तिको तो देखनेपर सुखी होनेके लिए कहा है और दूसरेकी सम्पत्तिको सुनकर जलनेके लिए कहा है। तात्पर्य यह है कि दूसरोंकी सम्पत्तिको आँखसे देखनेपर ही परम सुख होता है—सुनकर उतना नहीं। अर्थात् इतना कठोर हृदय है। किन्तु—दूसरेकी सम्पत्तिको देखनेके लिए कौन कहे, उसकी सम्पत्तिका हाल सुनते ही जला जाता हूँ,—यदि प्रत्यक्ष देखूँ, तब तो न जानें क्या गति हो।

[१४२]

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि! क्यों करि विनय सुनावौं।
सकल धरम-विपरीत करत, केहि भाँति नाथ! मन भावौं ॥१॥
जानत हौं हरि रूप चराचर, मैं हठि नयन न लावौं।
अंजन केस-सिखा जुवती, तहँ लोचन-सलभ पठावौं ॥२॥
स्रवननि को फल कथा तुम्हारी, यह समुझौं, समुझावौं।
तिन्ह श्रवननि परदोष निरन्तर सुनि सुनि भरि-भरि तावौं ॥३॥
जेहि रसना गुन गाइ तिहारे, बिनु प्रयास सुख पावौं।
तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यों रटि-रटि जनम नसावौं ॥४॥

'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि', कहि कहि सबहि सिखावौं।
हौं निज उर अभिमान-मोह-मद, खल-मण्डली बसावौं ॥५॥
जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन, सो बिनु काज गँवावौं।
हाटक-घट भरि धस्यो सुधा गृह, तजि नभ कूप खनावौं ॥६॥
मन-क्रम बचन लाइ कीन्हें अघ, ते करि जतन दुरावौं।
पर-प्रेरित इरषा बस कबहुँक किय कछु सुभ, सो जनावौं ॥७॥
बिप्र-द्रोह जनु बाँट पस्यो, हठि सबसों बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति-बिलास सब संतन माँझ गनावौं ॥८॥
निगम सेस सारद निहोरि जो अपने दोष कहावौं।
तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु, कहा एक मुख गावौं ॥९॥
जो करनी आपनी बिचारौं, तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं ॥१०॥
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं, जेहि सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं।
नाथ-कृपा भव-सिंधु धेनुपद-सम जो जानि सिरावौं ॥११॥

शब्दार्थ—अंजन-केस = अग्नि। तावौं = मूँदता हूँ, बन्द करता हूँ। भेक = मेढक। गवावौं = खो रहा हूँ। हाटक = सुवर्ण। दुरावौं = छिपाता हूँ। बाँट = हिस्से। रिझावौं = प्रसन्न कर सकूँ। सिरावौं = सन्तोष कर लेता हूँ।

भावार्थ—हे कृपानिधि राम! मैं सकुच रहा हूँ, आपको अपनी विनती कैसे सुनाऊँ। हे नाथ! मैं सब काम धर्म-विरुद्ध करता हूँ, ऐसी दशामें भला मैं किस प्रकार आपको अच्छा लगूँगा? ॥१॥ यद्यपि यह मैं जानता हूँ कि संसारमें जड़-चैतन्य जितने भी प्राणी हैं, सब परमात्माके स्वरूप हैं, तथापि मैं जबर्दस्ती उन्हें (ईश्वररूपमें) नहीं देखता। मैं तो अपने नेत्र-रूपी पतंगोंको युवती-रूपी अग्नि-शिखामें (जलनेके लिए) भेजता हूँ ॥२॥ आपकी कथा सुननेमें ही कानोंकी सार्थकता है, यह मैं समझता हूँ और दूसरोंको भी यही समझाता हूँ; किन्तु उन कानोंसे मैं निरन्तर और दूसरोंके दोष सुन-सुनकर, उसे उन्हीं (दूसरेके दोषों) से भर-भरकर बन्द करता हूँ (जिसमें वे निकलने न पावें) ॥३॥ जिस जीभसे आपके गुण गाकर मैं बिना परिश्रमके ही परमानन्द पा सकता हूँ, उस मुखसे मेढककी तरह दूसरोंकी बुराइयाँ रट-रटकर अपना

जन्म नष्ट कर रहा हूँ ॥४॥ सबको सिखलाता तो हूँ यह कह-कहकर कि 'अपना हृदय खूब स्वच्छ कर डालो ताकि उसमें परमात्मा निवास करें', किन्तु मैं स्वयं अपने हृदयमें अभिमान, मोह और मद आदि खलोंकी मण्डली बसाता हूँ ॥५॥ जिस शरीरसे भक्तजन भगवान्‌के परम पदको प्राप्त करनेकी साधना करते हैं, उस मनुष्य शरीरको मैं व्यर्थ गँवा रहा हूँ। घरमें सोनेका घड़ा अमृतसे भरा हुआ रखा है, किन्तु उसे छोड़कर आकाशमें कुआँ खुदवा रहा हूँ ॥६॥ मन, वचन और कर्मसे मैंने जो पाप किये हैं, उन्हें तो मैं यत्नपूर्वक छिपाता हूँ, किन्तु यदि दूसरेकी प्रेरणासे, अथवा ईर्ष्यावश कभी कोई शुभ कर्म हो गया है, तो उसे (चारों ओर) जनाता फिरता हूँ ॥७॥ ब्राह्मण-द्रोह तो मानो मेरे हिस्से पड़ गया है। जबर्दस्ती सबसे वैर बढ़ाता हूँ। इतनेपर भी अपनी बुद्धिके विलास-को (अपनी कृतियोंको) सब सन्तोंके बीच गिनाता हूँ, अर्थात् मैं भी सन्त बनता हूँ ॥८॥ यदि मैं वेद, शेषनाग और शारदा आदिका निहोरा करके उनसे अपने दोषोंको कहलाऊँ, तो भी हे प्रभो! वे सैकड़ों कल्पतक समाप्त नहीं हो सकते; फिर भला मैं एक मुखसे उन्हें कहाँतक कहूँ ? ॥९॥ यदि कहीं मैं अपनी करनीपर विचार करूँ, तो क्या मैं आपकी शरणमें कभी आ सकता हूँ ? किन्तु मैं अपने मनको इसी बातका बल दिखाया करता हूँ कि श्रीरामजीका शील-स्वभाव कोमल है। ॥१०॥ हे प्रभो! मुझ तुलसीदासमें वह गुण ही नहीं है जिससे मैं आपको स्वप्नमें भी रिझा सकूँ। किन्तु हे नाथ! आपकी कृपासे यह भवसागर गायके खुरके समान हो जाता है, इसलिए कोई साधन न होनेपर भी मैं भवसागरको पार कर जाऊँगा, यह जानकर सन्तोष कर लेता हूँ ॥११॥

विशेष

१—'तावौं'—वियोगी हरिजीने इस शब्दका अर्थ किया है, 'दृढ़तासे धारण करता हूँ, उमंगसे फूला नहीं समाता।' विचित्र अर्थ है।

२—'मति-विलास'—इसका अर्थ 'बुद्धिका विलास' हो सकता है।

[१४३]

सुनहु राम रघुबीर गुसाईं, मन अनीति-रत मेरो।
चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो ॥१॥

मानत नाहिं निगम अनुसासन, त्रास न काहू केरो।
भूल्यो सूल करम-कोल्हुन तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ॥२॥
जहँ सतसंग कथा माधव की, सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्ह सों प्रेम घनेरो ॥३॥
पर-गुन सुनत दाह, पर-दूषन सुनत हरष बहुतेरो।
आपु पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ॥४॥
साधन-फल, स्रुति-सार नाम तव, भव-सरिता कहँ बेरो।
सो पर-कर काकिनी लागि सठ, बेंचि होत हठ चेरो ॥५॥
कबहुँक हौं संगति-प्रभाव ते, जाउँ सुमारग नेरो।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो ॥६॥
इक हौं दीन, मलीन, हीन मति, बिपति-जाल अति घेरो।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मन को दुसह दरेरो ॥७॥
हारि पर्‍यो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सवेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो ॥८॥

शब्दार्थ—अनेरो = व्यर्थ, बिना प्रयोजन। घनेरो = गहरा। खेरो = खेड़ा, छोटी बस्ती। बेरो = बेड़ा। काकिनी = पाँच गंडा कौड़ी, कौड़ी, छदाम। नेरो = निकट। भटभेरो = अड़चन, बाधा। दरेरो = धक्का, रगड़ना। पर्‍यो = गिर पड़ा। सवेरो = शीघ्र।

भावार्थ—हे राम! हे रघुवीर स्वामी! सुनिये, मेरा मन अन्यायमें लीन है। वह आपके चरण-कमलोंको भूलकर रात-दिन बेकार चक्कर काटा करता है ॥१॥ न तो वह वेदाज्ञा मानता है, और न उसे किसीका भय है। वह अनन्त बार कर्मके कोल्हुओंमें तिलकी तरह पेरा गया, पर उस व्यथाको भूल गया ॥२॥ जहाँ सत्संग होता है, भगवान्‌की कथा होती है, वहाँ वह स्वप्नमें भी नहीं जाता। परन्तु जो लोग लोभ, मोह, मद, काम और क्रोधमें रत हैं, उनसे उसका गहरा प्रेम है ॥३॥ दूसरेका गुण सुनकर उसे बड़ी जलन होती है; और दूसरे का दोष सुननेपर बड़ा हर्ष होता है। खुद तो पापोंका नगर बसा रहा है, पर दूसरेका (पापका) खेड़ा अर्थात् थोड़ासा पाप भी वह सहन नहीं कर सकता ॥४॥ आपका नाम सब साधनोंका फल है, वेदोंका सार है, तथा संसाररूपी नदीके लिए बेड़ा है। वह दुष्ट उसे (आपके नामको) पाँच गण्डा कौड़ियोंके लिए

दूसरोंके हाथ बेचकर जबरदस्ती उनका गुलाम हो जाता है ।।५।। यदि कभी संगके प्रभावसे सुमार्गके समीप जाता भी हूँ, तो कुत्सित मनोरथोंका संग अर्थात् विषयासक्ति क्रुद्ध होकर गहरी अड़चन डाल देती है ।।६।। एक तो मैं दीन, मलीन और मन्दबुद्धि हूँ , विपत्तियोंके जालमें खूब घिरा हुआ हूँ , तिसपर हे करुणानिधि ! मनका दुस्सह धक्का सहा नहीं जाता ।।७।। मैं अनेक यत्न करके हारकर गिर गया, इससे पहले ही कहे देता हूँ कि तुलसीदासका यह त्रास तभी मिटेगा, जब आप उसके हृदयमें डेरा डालेंगे ।।८।।

विशेष

१—वियोगी हरिजीने 'अनेरो'का अर्थ 'अन्यत्र, दूर, विमुख' और 'भटभेरो' का अर्थ 'धक्का' लिखा है । समझमें नहीं आता कि उक्त टीकाकारने ऐसा ऊट-पटाँग अर्थ कैसे लिख डाला है ।

[१४४]

सो धौं को जो नाम-लाज तें, नहिं राख्यो रघुबीर ।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भव-भीर ।।१।।
वेद-विदित, जग-विदित अजामिल विप्रबंधु अघ धाम ।
घोर जमालय जात निवार्‍यो सुत-हित सुमिरत नाम ।।२।।
पसु पामर अभिमान-सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु, हर्‍यो दुसह उर-दाह ।।३।।
व्याध, निषाद, गीध, गनिकादिक, अगनित औगुन-मूल ।
नाम ओटतें राम सबनि की दूरि करी सब सूल ।।४।।
केहि आचरन घाटि हौं तिनतें, रघुकुल-भूषन भूप ।
सीदत तुलसिदास निसिबासर पर्‍यो भीम तम-कूप ।।५।।

शब्दार्थ—सकृत = एक बार । सपदि = शीघ्र । घाटि = कम, घटकर । सीदत = दुःख पा रहा है ।

भावार्थ—ऐसा कौन है जिसे रामजीने अपने नामकी लज्जासे नहीं रख लिया (नहीं अपनाया), और अकारण ही परम कारुणिक भगवान्‌ने उसकी तमाम सांसारिक झंझटोंको नहीं हर लिया ! ।।१।। वेदोंमें विदित है और संसारमें भी

प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण-बन्धु अजामिल पापका घर था; किन्तु पुत्रके बहाने (नारायण) नामका स्मरण करते ही आपने उसे घोर यमलोकमें जानेसे उबार लिया ॥२॥ जब ग्राहने आकर पशु, पापी एवं महा अभिमानी गजको ग्रस लिया, तब उसके एक बार स्मरण करते ही आपने शीघ्रतासे आकर उसके हृदयकी दुस्सह ज्वालाको हर लिया ॥३॥ व्याध, निषाद, गीध और गणिका आदि अगणित अवगुणोंकी जड़ थे; किन्तु हे राम ! आपने अपने नामकी आड़से इन सबके तमाम कष्टोंको दूर कर दिया ॥४॥ हे रघुकुल-भूषण महाराज रामचन्द्रजी ! मैं इन लोगोंसे किस आचरणमें कम हूँ, जिससे यह तुलसीदास (अज्ञानके) भीषण अन्ध-कूपमें पड़ा रात-दिन दुःख पा रहा है ॥५॥

विशेष

१—'अजामिल'—पद ५७ के विशेषमें देखिये ।

२—'गज···ग्राह'—पद ५७ के विशेषमें देखिये ।

३—'व्याध'—पद ९४ के विशेषमें देखिये ।

४—'निषाद'—गुह; पद १०६ के विशेषमें देखिये ।

५—'गनिका'—पिंगला; पद ९४ के विशेषमें देखिये ।

[१४५]

कृपासिंधु ! जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे ।
जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तहँ तिन्हके दुख दाहे ॥१॥
गज, प्रहलाद, पांडुसुत, कपि, सबको रिपु-संकट मेट्यो ।
प्रनत बन्धु-भय-बिकल, बिभीषन, उठि सो भरत ज्यों भेंट्यो॥२॥
मैं तुम्हरो लेइ नाउँ गाउँ इक उर आपने बसावों ।
भजन, बिबेक, बिराग, लोग भले, मैं क्रम-क्रम करि ल्यावों ॥३॥
सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआईं ।
तिन्हहिं उजारि नारि-अरि-धन पुर राखहिं राम गुसाईं ॥४॥
सम-सेवा-छल-दान-दण्ड हौं, रचि उपाय पचि हार्‌यो ।
बिनु कारनको कलह बड़ो दुख, प्रभु सों प्रगटि पुकार्‌यो ॥५॥

सुर स्वारथी, अनीस, अलायक, निठुर, दया चित नाहीं ।
जाउँ कहाँ, को बिपति-निवारक, भवतारक जग माहीं ॥६॥
तुलसी जदपि पोच, तउ तुम्हरो, और न काहू केरो ।
दीजै भगति-बाँह बारक, ज्यों सुबस बसै अब खेरो ॥७॥

शब्दार्थ—दादि=न्याय । दाहे=भस्म कर दिया । बरिआई=जबर्दस्ती । अनीस=असमर्थ, निःशक्त । पोच=नीच । खेरो=खेड़ा, छोटा गाँव ।

भावार्थ—हे कृपासिन्धु ! यह दीन दास आपके द्वारपर न्याय क्यों नहीं पा रहा है ? जब और जहाँ कहीं भी दुखियोंने आपको पुकारा, वहीं आपने उनके दुःखोंको भस्म कर डाला ॥१॥ आपने गजराज, प्रह्लाद, पांडव, कपि (सुग्रीव) आदि सब लोगोंका शत्रु-संकट दूर कर दिया । भाई-(रावण) के भयसे व्याकुल विभीषणके शरणमें आते ही आपने उठकर उसे भरतकी नाईं हृदयसे लगा लिया ॥२॥ मैं आपका नाम ले-लेकर अपने हृदयमें एक गाँव बसाता हूँ । (उसमें बसनेके लिए) क्रम-क्रमसे भजन, विवेक, वैराग्य आदि अच्छे-अच्छे लोगोंको ला रहा हूँ । अर्थात्, मैं आपके नामके भरोसे अपने हृदयमें विवेक वैराग्य आदि सद्गुणोंको स्थान दे रहा हूँ ॥३॥ यह सुनकर क्रोधसे भरे हुए काम-क्रोधादि जबर्दस्ती जोर कर रहे हैं; और उन्हें (विवेक, वैराग्यादिको) उजाड़कर हे नाथ श्रीरामजी ! स्त्री, शत्रु, धन आदिको उस पुरमें बसाते हैं । भाव यह कि ज्यों-ज्यों मैं अपने हृदयमें सद्भावोंको भरना चाहता हूँ, त्यों-त्यों दुर्भाव जोर पकड़ते जाते हैं ॥४॥ समता (प्रेमपूर्वक मेल), सेवा, छल, दान (उनकी रुचिके अनुसार विषय) और दंड (योगादि साधन) आदि अनेक उपाय करके मैं थक गया; अर्थात् पहले मैंने काम-क्रोधादिसे समताका भाव प्रकट किया, जब उन्होंने नहीं माना, तब मैंने उनकी अधीनता दिखलायी; किन्तु जब उससे भी काम सिद्ध न हुआ तो छल किया (यानी उनकी रुचिके अनुसार वस्तु देनेके लिए कहकर उसे दिया नहीं), फिर भी कोई फल न हुआ, तब उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार विषय दिया, जब वे इससे भी शान्त न हुए तो योगादि साधनोंसे उन्हें निर्बल करना चाहा ; किन्तु इसका भी कोई फल न हुआ । यह कलह बिना कारणके है; अतः मुझे बड़ा दुःख है । इसीसे मैंने (लाचार होकर अन्तमें)

प्रकट रूपमें स्वामीको पुकारा ॥५॥ (यदि आप कहें कि और देवताओंसे फरियाद क्यों नहीं की, तो बात यह है कि और सब) देवता स्वार्थी, असमर्थ, अयोग्य और निष्ठुर हैं, उनके चित्तमें दया नहीं है। इसलिए मैं कहाँ जाऊँ ? कौन मेरी विपत्तियोंका निवारण करनेवाला है ? संसारमें (आपके सिवा) ऐसा कौन है जो संसारसे तार सकता है ? ॥६॥ यद्यपि यह तुलसीदास नीच है, फिर भी आपका है—और किसीका भी नहीं। अतः एक बार भक्तिरूपी बाँह दे दीजिये, जिससे अब यह खेड़ा (गाँव) अच्छी तरह बस जाय; अर्थात् भजन, विवेक, वैराग्य आदि हृदयमें स्थित हो जायँ ॥७॥

विशेष

१—'गज'—पद ५७ के विशेषमें देखिये।

२—'प्रह्लाद'—पद ९३ के विशेषमें देखिये।

३—'पांडुसुत'—पाण्डवोंके हित-साधनके लिए भगवान्‌ने सब-कुछ किया था। उनके दूत बनकर वह दुर्योधनके पास गये, द्रौपदीकी पुकार सुनकर उसके सहायक हुए, युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके सारथी बने।

४—'विभीषण'—जब विभीषणने रावणसे कहा कि रामजी साक्षात् परमात्मा हैं और जानकीजी जगज्जननी हैं, अतः तुम जानकीजीको उनके पास लौटाकर क्षमा माँगो, तब रावणने विभीषणको लात मारकर अपने नगरसे बाहर निकाल दिया। उस समय विभीषण बहुत भयभीत हुआ। उसने निराश होकर अपने मनमें कहा—

जिन पायनिकी पादुकनि, भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु विलोकिहौं, इन नैननि अब जाइ॥

यही सोचकर विभीषण भगवान् श्रीरामके चरणोंमें आ गिरा। भगवान्‌ने उठकर बड़े प्रेमके साथ उसे हृदयसे लगा लिया। गुसाईंजी रामचरित-मानसमें लिखते हैं :—

अस कहि करत दण्डवत देखी। तुरत उठे प्रभु हर्ष बिसेखी।
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥

५—"मैं तुम्हरो······राम गुसाईं"—यहाँ ग्रन्थकारने भगवान्पर बड़े ही सुन्दर ढंगसे आरोप किया है। तात्पर्य यह है कि मेरे लिए विवेक, वैराग्य आदि सद्गुणोंको हृदयमें स्थित करना ही बुरा हुआ। यदि मेरा झुकाव इस ओर न हुआ होता, तो कुटिल काम-क्रोधादि क्रुद्ध होकर न तो मुझपर जोर-जुर्म ही करते और न वे स्त्री, शत्रु तथा धन-सम्पत्तिका इतना प्रबल लोभ ही मेरे हृदयमें उत्पन्न करते। यदि आपके कारण किसी दासको काम-क्रोधादिका कोप-भाजन बनकर दुःख भोगना पड़े, तो इसमें दोष किसका है?

[१४६]

हौं सब विधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो।
ठौर ठौर साहबी होत है, ख्याल काल कलि केरो॥१॥

काल-करम-इंद्रिय-विषय गाहक गन घेरो।
हौं न कबूलत, बाँधि कै मोल करत करेरो॥२॥

बन्दि-छोर तेरो नाम है, बिरुदैत बड़ेरो।
मैं कह्यो, तब छल-प्रीति कै माँगे उर डेरो॥३॥

नाम-ओट अब लगि बच्यो मलजुग जग जेरो।
अब गरीब जन पोषिये पाइबो न हेरो॥४॥

जेहि कौतुक खग स्वान को प्रभु न्याव निबेरो।
तेहि कौतुक कहिये कृपालु! 'तुलसी है मेरो'॥५॥

शब्दार्थ—करेरो = कड़ा। बिरुदैत = बानावाले। मलजुग = कलियुग। जेरो = जेरबार करना, हैरान करना। निबेरो = फैसला किया।

भावार्थ—हे रामजी! मैं सब प्रकारसे आपका सेवक होना चाहता हूँ। किन्तु यहाँ कलि-कालका ऐसा खयाल है कि जगह-जगह साहबी हो रही है॥१॥ (वह साहबी कौन कर रहा है, सो आगे कहते हैं) काल, कर्म और इन्द्रियोंके विषयरूपी ग्राहकोंने मुझे घेर लिया है। मैं कबूल नहीं करता, पर वे बाँधकर अथवा जबर्दस्ती (मुझे खरीद लेनेके लिए) कड़ा मोल करते हैं॥२॥ आपका नाम बन्दीछोर (बन्धनसे मुक्त कर देनेवाला) है और आपका बाना भी बड़ा

है। जब मैंने उनसे कहा कि (मैं तो श्रीरामजीके हाथ बिकना चाहता हूँ, तब उन ग्राहकोंने) कपट-प्रेम दिखाकर मेरे हृदयमें डेरा डालनेके लिए स्थान माँगा ॥३॥ इस संसारमें कलियुगके जेरबार करनेसे अब तक तो मैं आपके नामकी ओटमें बचता आया, पर अब इस गरीब सेवककी आप रक्षा कीजिये; नहीं तो इसे ढूँढ़नेसे पाना कठिन हो जायगा, अर्थात् कलियुग इस दासका नाम-निशान मिटा देगा ॥४॥ हे प्रभो ! आपने जिस कौतुकसे पक्षी (उल्लू) और कुत्तेका फैसला किया था, उसी कौतुकसे हे कृपालु ! कह दीजिये कि तुलसी मेरा है ॥५॥

विशेष

१—'खग'—कुछ प्रतियोंमें 'बक' पाठ मिलता है। पर अधिकांशमें 'खग' पाया जाता है। बक नाम है बगुलेका। बाल्मीकीय रामायणमें उल्लूका प्रसंग आया है। उसकी कथा इस प्रकार है—उल्लू और गीध जंगलमें एक ही घरमें रहते थे। एक दिन गीधने घरपर अधिकार करनेके इरादेसे उल्लूसे कहा,—हमारा घर खाली कर दो, इसपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। अन्तमें दोनों रामजीके दरबारमें अपने झगड़ेका फैसला कराने गये। रामजीने उल्लूसे पूछा,—'घर किसका है ? तू उसमें कबसे रहता है ?' उल्लूने कहा,—'जबसे वृक्षोंकी सृष्टि हुई तभीसे मैं उस घरमें रहता हूँ।' गीधने कहा,—'और जबसे मानव-सृष्टि हुई, तबसे मैं रहता हूँ।' भगवान्‌ने गीधसे कहा,—'वृक्षोंकी सृष्टि मनुष्योंसे पहले हुई है, इसलिए वह घर उल्लूका है, तुम घर खाली कर दो।'

२—'स्वान'—एक दिन रामजीकी सभामें एक कुत्ता आया, और रोकर कहने लगा,—'महाराज ! तीर्थसिद्ध नामक ब्राह्मणने मुझ निरपराधको लाठीसे मारा है।' भगवान्‌ने उक्त ब्राह्मणको बुलाया और उससे लाठी मारनेका कारण पूछा। ब्राह्मणने कहा,—मैं भीख माँग रहा था, इसे रास्तेसे हटाया; जब यह न हटा, तब मैंने लाठी मार दी।' भगवान्‌ने ब्राह्मणको अदण्डनीय समझकर कुत्तेसे ही पूछा कि इसे क्या दण्ड दिया जाय ? अन्तमें प्रभुजीने कुत्तेकी रायसे ही उस ब्राह्मणको कालिंजरका मठाधीश बनाकर दोनोंका झगड़ा तय किया।

---

१. पाठान्तर 'बक'।

[१४७]

कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे।
महाराज! लाज आपु ही निज जाँघ उघारे ॥१॥
मिले रहैं मार्‍यौ चहैं कामादि सँघाती।
मो बिनु रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती ॥२॥
बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
कियो कथक को दंड हौं जड़ करम कुचाली ॥३॥
देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी।
करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ॥४॥
बड़े अलेखी लखि परैं, परिहरे न जाहीं।
असमंजस में मगन हौं, लीजै गहि बाहीं ॥५॥
बारक बलि अवलोकिये, कौतुक जन जी को।
अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसी को ॥६॥

शब्दार्थ—मन मारे = उदास। सँघाती = साथी। अनैसी = अनिष्ट, निषेध। अलेखी = विचित्र, दिखाई न पड़नेवाले।

भावार्थ—हे कृपासिन्धु! हे महाराज! इसीसे मैं रात-दिन मन मारे रहता हूँ कि जंघा उघारना अपने ही लिए लज्जाकी बात है ॥१॥ ये काम-क्रोधादि साथी मिले भी रहते हैं और मारना भी चाहते हैं। ये मेरे बिना रहते भी नहीं और छलसे मेरी ही छाती जलाते हैं। तात्पर्य, जबतक मुझमें जीवन है, तभीतक इनका अस्तित्व है; इस प्रकार आश्रित रहते हुए भी ये मेरा ही सर्वनाश करते हैं ॥२॥ यह जानकर कि ये मेरे हृदयमें बसते हैं, मैंने सबकी रुचिका भी पालन किया, अर्थात् सब विषयोंको भोग लिया, फिर भी इन जड़ और कुचाली कर्मोंने मुझे कथककी लकड़ी बना रखा है। अर्थात्, जिस प्रकार कथक अपने लड़केको नाच सिखानेके लिए लाठीमें घुँघरू बाँधकर नचाता है, उसी तरह ये मुझे नचा रहे हैं। यहाँ लकड़ीकी चंचलतासे तात्पर्य है ॥३॥ आज-तक मैंने ऐसी पराधीनता देखी या सुनी नहीं कि कर्म तो करते हैं वे सब स्वयं, और लौटकर उस कर्मका अनिष्ट पड़ता है मेरे मत्थे। अर्थात् कर्म तो करती

हैं इन्द्रियाँ, और उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है मुझे ॥४॥ ये बड़े विचित्र दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि इन्हें छोड़ते नहीं बनता। हे प्रभो ! मैं असमंजसमें मग्न हो रहा हूँ, मेरी बाँह पकड़ लीजिये ॥५॥ आपकी बलैया लेता हूँ, एक बार इस दासके हृदयका कौतुक तो देख लीजिये। इतनेहीसे तुलसीदास-का संकट अनायास मिट जायगा ॥६॥

[१४८]

कहौं कवन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी सब साइँ दुहाई ॥१॥
सेवत बस, सुमिरत सखा, सरनागत सो हौं।
गुनगन सीतानाथके चित करत न हौं हौं ॥२॥
कृपासिंधु बंधु दीनके आरत-हितकारी।
प्रनत-पाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी ॥३॥
सेइ न धेइ न सुमिरि कै पद-प्रीति सुधारी।
पाइ सुसाहिब रामसों, भरि पेट बिगारी ॥४॥
नाथ गरीब-निवाज हैं, मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ॥५॥

शब्दार्थ—दुहाई=सौगन्ध। हौं=मैं। हौं=हूँ। धेइ=ध्येय। भरिपेट=पेटभर, अधिकसे अधिक। कीबी=कीजियेगा, कीजिये।

भावार्थ—हे रघुवीर ! हे स्वामी ! मैं कौनसा मुँह लेकर आपसे कुछ कहूँ ? दुहाई स्वामीकी ! मैं अपनी करनी समझते ही सकुच जाता हूँ ॥१॥ आप सेवा करनेसे वशमें हो जाते हैं, स्मरण करनेसे मित्र बन जाते हैं और शरणागत होनेसे सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। हे सीतानाथ ! आपके इन गुणोंपर ध्यान नहीं दे रहा हूँ ॥२॥ हे कृपासागर ! आप दीनोंके बन्धु हैं, दुखियोंका हित करनेवाले हैं और शरणागतोंका पालन कनेवाले हैं, आपकी इस विरुदावलीको सुन और जानकर भी मैंने आपको भुला दिया है ॥३॥ सेवा द्वारा, ध्यान द्वारा अथवा स्मरण द्वारा मैंने आपके चरणोंमें प्रेम नहीं किया। हे रामजी ! आपके समान अच्छा स्वामी पाकर भी मैंने खूब बिगाड़ डाला ॥४॥ हे नाथ ! आप तो

गरीबोंपर कृपा करनेवाले हैं, पर मैंने गरीबी अख्तियार नहीं की। हे प्रभो! इस तुलसीके लिए आप अपनी ओरसे जो कुछ बन पड़े सो कीजिये ॥५॥

विशेष

१—'भरि पेट बिगारी'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि मैंने पेट भरनेमें ही सब बिगाड़ दिया अर्थात्, जन्मभर मुझे पेटके ही लाले पड़े रहे, कुछ भी करते-धरते न बना।

[१४९]

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, और ठौर न मेरे।
जनम गँवायो तेरे ही द्वार किंकर तेरे ॥१॥
मैं तो बिगारी नाथ सों आरति के लीन्हें।
तोहि कृपानिधि क्यों बनै मेरी-सी कीन्हें ॥२॥
दिन-दुरदिन दिन-दुरदसा, दिन-दुख दिन दूषन।
जब लौं तू न बिलोकि है रघुबंस-बिभूषन ॥३॥
दई पीठ बिनु डीठ मैं तुम बिस्व-बिलोचन।
तो सों तुही न दूसरो नत सोच-बिमोचन ॥४॥
पराधीन देव दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनय कि झाईं ॥५॥
आपु देखि मोहिं देखिये जन मानिय साँचो।
बड़ी ओट रामनामकी जेहि लई सो बाँचो ॥६॥
रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों भावै त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है ॥७॥

शब्दार्थ—किंकर = दास। आरतिके लीन्हें = क्लेश-ग्रस्त होनेके कारण। डीठ = दृष्टि। नत = झुकनेपर, प्रणत। झाईं = छाया।

भावार्थ—कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ? मेरे लिए तो और कहीं ठौर नहीं! मैं तो आपका ही दास हूँ और आपहीके द्वारपर मैंने सारी जिन्दगी बितायी है ॥१॥ हे नाथ! आपकी ओरसे मैंने तो बिगाड़ा है क्लेश-ग्रस्त होनेके कारण;

किन्तु हे कृपानिधि ! यदि आप भी मेरे जैसा ही करेंगे तो कैसे काम चलेगा ? ॥२॥ हे रघुवंश-विभूषण ! जबतक आप न देखेंगे (कृपा न करेंगे), तबतक नित्य-प्रति बुरे दिन रहेंगे, नित्य-प्रति दुर्दशा होती रहेगी, रोज-रोज दुःख होता रहेगा और नित्य दोष लगते रहेंगे ॥३॥ मैंने जो पीठ दी है (आपसे मुँह मोड़ा है), वह इसलिए कि मैं दृष्टिहीन (अन्धा) हूँ ; किन्तु आप विश्व-विलोचन अर्थात् संसारके द्रष्टा हैं । हे भक्तोंके सोचको हरनेवाले, आपके समान आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं ॥४॥ हे देव ! हे स्वामी ! मैं पराधीन हूँ, दीन हूँ और आप स्वाधीन हैं । मैं आपकी बलि जाऊँ । (आप ही कहिये कि) क्या छाया (कभी) बोलनेवालेसे विनय करती है (कर सकती है) ? ॥५॥ इसलिए पहिले आप अपनी ओर देखकर पीछे मेरी ओर देखिये, बादमें इस दासको सच्चा मानिये । जो राम-नामकी बड़ी आड़में हो गया अर्थात् जिसने राम-नामका प्रधान सहारा ले लिया, वह बच गया ॥६॥ हे रामजी ! आपकी रहन और रीति मेरे हृदयमें नित्य-प्रति उमड़ती रहती है; अतः जैसे रुचे वैसे कृपा कीजिये—यह तुलसी आपका है ॥७॥

विशेष

१—"बोलनिहारे······झाईं"—इसमें बड़ा ही गूढ़ अभिप्राय है । अर्थात् जैसे जड़ परछाईं कुछ नहीं कर सकती, वैसे ही परमात्माका प्रतिबिम्ब यह जीव भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता । क्योंकि प्रतिबिम्ब तो बिम्बके आधारपर आचरण करता है । जैसा आचरण बिम्ब करता है, वैसा ही प्रतिबिम्बमें प्रतीत होता है । जैसे, जब हम खड़े होते हैं, तब हमारी छाया भी खड़ी हो जाती है; जब हम बैठते हैं तब परछाईं भी बैठ जाती है । हम जो भी चेष्टा करते हैं, सब छायामें प्रतीत होती है । ठीक वही दशा जीवकी है । इसी भावको लेकर गोस्वामीजीने कहा है कि आप जो कुछ करते हैं, वही इस जीवमें प्रतीत होता है । ऐसी दशामें यदि आप ईश्वर होकर इससे सेवा चाहें या इसकी करनी देखें, तो क्या उचित होगा ? क्योंकि यह तो आपके आश्रित है । इसीसे आगे एक चरणमें गोस्वामीजी कहते हैं कि हे नाथ ! पहले आप अपनी ओर देखकर पीछे मेरी ओर देखिये । धन्य गोस्वामीजी !

[१५०]

रामभद्र ! मोहिं आपनो सोच है अरु नाहीं ।
जीव सकल संतापके भाजन जग माहीं ॥१॥
नातो बड़े समर्थ सों इक ओर किधौं हूँ ।
तो को मोसे अति घने मोको एकै तूँ ॥२॥
बड़ी गलानि हिय हानि है सबंग्य गुसाईं ।
कूर कुसेवक कहत हौं सेवककी नाईं ॥३॥
भलो पोच राम को कहैं मोहिं सब नरनारी ।
बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब-सिर गारी ॥४॥
असमंजस मनको मिटै सो उपाय न सूझै ।
दीनबन्धु ! कीजै सोई बनि परै जो बूझै ॥५॥
बिरुदावली बिलोकिये तिन्हमें कोउ हौं हौं ।
तुलसी प्रभुको परिहर्यो सरनागत सो हौं ॥६॥

शब्दार्थ—रामभद्र = कल्याण । भाजन = पात्र । कूर = दुष्ट । पोच = बुरा, नीच ।

भावार्थ—हे कल्याण-स्वरूप रामजी ! मुझे अपना सोच है भी और नहीं भी है । क्योंकि संसारमें सब जीव दुःख-भाजन हैं; अर्थात् सोच तो इसलिए है कि हाय ! मेरा अभीतक उद्धार नहीं हुआ और निश्चिन्त इसलिए हूँ कि जीव-मात्रकी तो यही दशा है, फिर सोच किस बातका ? ॥१॥ क्या बड़े समर्थसे केवल एक ही (मेरी ही) ओरसे नाता है ? इसलिए कि आपके लिए मुझ-से बहुत हैं और मेरे लिए आप केवल एक ही हैं ? ॥२॥ किन्तु हे स्वामी ! आप तो सर्वज्ञ हैं—घट-घटकी जानते हैं, मुझे (इस बातकी) बड़ी ग्लानि है और उसे मैं अपने हृदयमें हानि भी समझता हूँ कि दुष्ट और बुरा सेवक होनेपर भी मैं सेवककी तरह आपसे कह रहा हूँ ॥३॥ मैं भला हूँ या बुरा, पर सब स्त्री-पुरुष मुझे रामजीका ही कहते हैं । कुत्तेकी तरह सेवकका भी काम बिगड़नेसे स्वामीके ही सिर गालियाँ पड़ती हैं (बस यही ग्लानि है) ॥४॥ मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं सूझ रहा है जिससे मेरे मनका असमंजस मिट जाय । अतः हे दीनबन्धु ! जो जान पड़े और हो सके, वही (मेरे लिए) कीजिये ॥५॥ आप अपनी बिरदावली-

की ओर देखिये, उसीमें कोई मैं भी होऊँगा। अर्थात् जिन अधमोंको आप तार चुके हैं, उनमें किसी-न-किसी अधमीकीसी ही अधमता मेरी भी होगी। हे प्रभो! आपका त्यागा हुआ यह तुलसी आपकी शरणमें जाकर सामने ही रहेगा—अन्यत्र कहीं न जायगा ॥६॥

विशेष

यह पद अत्यन्त भावपूर्ण और सच्चे हृदयोद्गारका सुन्दर द्योतक है। इसमें गुसाईंजीकी आन्तरिक भावना झलक रही है।

१—'बड़ी .... नाईं'—इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि 'मेरे हृदयमें ग्लानि है कि (मेरे कारण) सर्वज्ञ स्वामीकी हानि हो रही है। क्योंकि कुत्तेकी तरह सेवकका भी काम बिगड़नेपर स्वामीके ही सिर गालियाँ पड़ती हैं। किन्तु असली अर्थ वही है, जो भावार्थमें लिखा गया है। इसमें 'सर्वज्ञ' शब्द बड़ा ही सार्थक है। 'बड़ी ग्लानि है, हृदयमें हानि मानता हूँ' हे नाथ इसे आप समझ रहे हैं कि मैं सच कह रहा हूँ या नहीं। क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं।

[१५१]

जौ पै चेराई राम की करतो न लजातो।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो ॥१॥
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहीं अलसातो।
बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥२॥
जौ तू मन! मेरे कहे राम-नाम कमातो।
सीतापति सनमुख सुखी सब ठाँव समातो ॥३॥
राम सोहाते तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो।
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥४॥
राम-नाम अनुराग ही जिय जो रतिआतो।
स्वारथ-परमारथ-पथी तोहिं सब पतिआतो ॥५॥
सेइ साधु सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो।
जनम कोटि को काँदलो हृद-हृदय थिरातो ॥६॥

भव-मग अगम अनंत है, बिनु श्रमहिं सिरातो ।
महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ॥७॥
अमर-अगम तनु पाइ सो जड़ जाय न जातो ।
होतो मंगल-मूल तू, अनुकूल बिधातो ॥८॥
जो मन, प्रीति-प्रतीति सों राम-नामहिं रातो ।
तुलसी राम प्रसाद सों तिहुँ ताप न तातो ॥९॥

शब्दार्थ—चेराई = सेवा । सूम = कंजूस, कपड़ेका स्वरूप बनाकर बाजीगर जो तमाशा दिखाते हैं, उसे सूम कहते हैं । खेह = धूल । कारनी = कारण, प्रेरक । कोहातो = क्रोध करते, नाराज होते । रतिआतो = प्रीति करता, लगन लगाता । पतिआतो = विश्वास करते । पिरातो = दर्द होता । काँदलो = मलिनता । हृद = सरोवर । जाय = व्यर्थ ।

भावार्थ—(रे जीव !) यदि तू श्रीरामजीकी सेवा करनेमें न लज्जित होता, तो तू दाम (शुद्ध सुवर्ण) होकर कुदाम (ताँबा-पीतल) की तरह इस हाथसे उस हाथ न बिकता । अर्थात् तू परमात्माका अंश होकर अनेक योनियोंमें भटकता न फिरता ॥१॥ यदि तू जीभसे रघुनाथजीका नाम जपनेमें आलस्य न करता, तो रे खल ! तू बाजीगरके सूमकी तरह धूल न फाँकता ॥२॥ रे मन ! यदि तू राम-नामकी कमाई करता, तो सीतानाथके सम्मुख या प्रसन्न हो जानेसे तू सुखी हो जाता और सब जगह (लोक-परलोकमें) प्रवेश करता, अर्थात् लोक-परलोक दोनों ही बन जाते ॥३॥ यदि रामजी तुझे अच्छे लगते तो तू भी सबको भाता । फिर तो काल, कर्म आदि जितने कारणी हैं, कोई भी तुझपर क्रोध न करते ॥४॥ यदि तू हृदयसे राम-नामके अनुरागमें लगन लगाता, तो स्वार्थ और परमार्थ दोनोंके पथिक तुझपर विश्वास करते ॥५॥ यदि तू साधुकी सेवा करता, दूसरोंकी पीड़ा सुन और समझकर तुझे दर्द होता, तो करोड़ों जन्मकी मलिनता तेरे हृदय-सरोवरमें नीचे बैठ जाती ॥६॥ (उस दशामें) संसारका जो मार्ग अगम और अनन्त है, उसे तू बिना परिश्रमके ही पार कर जाता । (देख न) उलटे नामकी महिमाने किरात (वाल्मीकि) को मुनि बना दिया था ॥७॥ रे जड़ ! (फिर तो) तेरा देवताओंके लिए दुर्लभ शरीर पाना व्यर्थ न जाता, तू मंगल-मूल हो जाता, विधाता तेरे अनुकूल हो जाते ॥८॥ रे मन ! यदि तू प्रेम और विश्वाससे राम-

नामसे प्रेम करता, तो यह तुलसी श्रीरामजीके प्रसादसे तीनों तापोंसे तप्त न होता—जलता न ॥९॥

[१५२]

राम भलाई आपनी भल कियो न काको ।
जुगजुग जानकिनाथ को जग जागत साको ॥१॥
ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधाको ।
रवि-कुल-कैरव - चंद भो आनंद - सुधाको ॥२॥
कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तियाको ।
प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपाको ॥३॥
हर्‍यो पाप आप जाइकै संताप सिलाको ।
सोच-मगन काढ्यो सही साहिब मिथिलाको ॥४॥
रोष-रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को ।
चितवत भाजन करि लियो उपसम समता को ॥५॥
मुदित मानि आयसु चले बन मातु-पिताको ।
धरम-धुरंधर धीर धुर गुन-सील-जिता को ? ॥६॥
गुह गरीब गतग्याति हू जेहि जिउ न भखाको ? ।
पायो पावन प्रेम तें सनमान सखा को ॥७॥
सदगति सबरी गीध की सादर करता को ? ।
सोच-सींव सुग्रीव के संकट हरता को ? ॥८॥
राखि बिभीषन को सकै अस काल-गहा को ? ।
आज बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥९॥
बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको ।
सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको ॥१०॥
गति न लहै राम-नाम सों विधि सों सिरजा को ? ।
सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभ गिरिजा को ॥११॥
अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को ? ।
नाम लेत कलिकाल हू हरि पुरहिं न गा को ? ॥१२॥

राम-नाम-महिमा करै काम-भूरुह-आको।
साखी वेद-पुरान हैं तुलसी-तन ताको ॥१३॥

शब्दार्थ—साको = यश। भो = हुए। कौसिक = विश्वामित्र। गरत = गलते थे। अनहित = यह शब्द ताड़काके लिए आया है। उपसम = शान्ति। गतग्याति = नीच जाति वालिस = मूढ़। खाको = खाक। थाको = थक जाता है। सिरजा = सृजा, बनाया। अकनि = अकनकर, सुनकर। भा = हुआ। गा = गया। भूरुह = वृक्ष। आको = आक, मन्दार।

भावार्थ—रामजीने अपनी भलमनसाहतसे किसका भला नहीं किया? संसारमें युग-युगसे जानकीनाथका यश जाग रहा है अर्थात् प्रसिद्ध है ॥१॥ ब्रह्मा आदिने पृथिवीका दुःख कहकर विनती की, और सूर्यवंशरूपी कुमुदिनीको प्रफुल्लित करनेवाले चन्द्ररूप एवं अमृततुल्य आनन्दसे पूर्ण भगवान् रामजीने अवतार लिया ॥२॥ विश्वामित्र, ताड़काका तेज देखकर ओलेकी तरह गले जाते थे। प्रभुने अनहित (ताड़का) को हितका, और कोपका कृपा (के रूपमें) फल दिया। अर्थात्, ताड़काको मारा तो कुपित होकर शत्रुकी तरह, पर उसे मुक्त कर दिया मित्रकी तरह ॥३॥ आपने अपनेसे जाकर शिला अहल्याका पाप-सन्ताप हर लिया और मिथिलाधिपति जनकजीको शोक-सागरमें डूबनेसे उबार लिया। अर्थात् धनुष तोड़कर उनकी चिन्ता दूर कर दी ॥४॥ परशुरामजी क्रोधके समूह और अहंता-ममताके धनी थे; उन्हें भी आपने अपनी दृष्टि डालते ही शान्ति और समताका पात्र बना लिया। अर्थात् वह क्रोध-रहित होकर शान्त हो गये और अहंकार एवं ममत्त्वको छोड़कर समद्रष्टा हो गये ॥५॥ आप माता-पिताकी आज्ञा मानकर प्रसन्नताके साथ वन चले गये। ऐसा धर्म-धुरन्धर, धीरज धारण करनेवाला तथा गुण-शीलको जीतनेवाला दूसरा कौन है? ॥६॥ नीच जातिके गरीब गुहनिषादने भी, जो सब प्रकारके जीवोंको भक्षण करनेवाला था—पवित्र प्रेम और सखाके समान सम्मान पाया था ॥७॥ भला शबरी और गीध (जटायु) को आदरके साथ सद्गति कौन देता? अत्यन्त शोकातुर सुग्रीवका संकट कौन हरण करता? ॥८॥ कालका ग्रसा हुआ ऐसा कौन था जो विभीषण-को (अपनी शरणमें) रख सकता? अर्थात्, किसके सिरपर काल सवार था जो रावणसे बैर मोल लेकर विभीषणको शरण देता? किन्तु (रामजीकी कृपासे) आज भी वह राज्य (लंका) विराजमान है—जहाँका राजा रावण था ॥९॥ अयोध्या-

निवासी मूर्ख धोबी (जगज्जननी जानकीकी निन्दा करनेवाला), जिसमें खाक-पत्थर भी समझ न थी, अथवा जो खाककी तरह तुच्छ समझा जाता था, वह नीच भी उस स्थानपर पहुँच गया था जहाँ पहुँचनेमें मुनियोंका मन भी थक जाता है ॥१०॥ ब्रह्माने ऐसा किसे बनाया है, जो रामनामके प्रभावसे मुक्ति न पा सके। (रामनामका) स्मरण पार्वती-वल्लभ भगवान् शंकर करते हैं और दूसरोंसे कह-कहकर उसका प्रचार करते हैं ॥११॥ अजामिलकी कथा सुनकर कौन आनन्दित नहीं हुआ ? नाम लेते ही इस कलिकालमें भी ऐसा कौन है जो विष्णुलोकमें नहीं गया ? ॥१२॥ रामनामकी ऐसी महिमा है कि वह आकके पेड़को कल्पवृक्ष बना सकती है। इसके लिए वेद और पुराण साक्षी हैं; और फिर तुलसीके शरीरको देखो न ! (वह क्यासे क्या हो गया) ॥१३॥

[१५३]

मेरे रावरियै गति है रघुपति बलि जाउँ ।
निलज नीच निरधन निरगुन कहँ, जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ ॥१॥
हैं घर घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाउँ ।
बानर-बंधु बिभीषन-हितु बिनु, कोसलपाल कहूँ न समाउँ ॥२॥
प्रनतारति-भंजन जन-रंजन, सरनागत पबि-पंजर नाउँ ।
कीजै दास दासतुलसी अब, कृपासिंधु बिनु मोल बिकाउँ ॥३॥

शब्दार्थ—राविरियै = आपहीकी। ठाउँ = जगह। प्रनतारति (प्रणत+आरति) = भक्तोंका दुःख। पबि = वज्र।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! बलिहारी, मुझे तो केवल आपहीकी शरण है। मुझ निर्लज्ज, नीच, निर्धन और गुणहीनके लिए संसारमें न तो दूसरा कोई स्वामी है और न कोई स्थान ही है ॥१॥ यों तो घर-घरमें बहुत-से अच्छे-अच्छे स्वामी भरे पड़े हैं, किन्तु उन सबको अपना दाँव सूझता है। मैं तो बन्दरोंके बन्धु और विभीषणके हितू कोशलपाल रामजीको छोड़कर कहीं भी (किसी भी घरमें) नहीं समा सकता ॥२॥ आपका नाम भक्तोंके दुःखोंका नाशक, भक्तोंको सुख देनेवाला तथा शरणागतोंके लिए वज्रका बना हुआ पिंजरा है। हे कृपासिन्धु ! अब

आप तुलसीदासको अपना दास बना लीजिये—मैं बिना मोल (आपके हाथ) बिकना चाहता हूँ ! तात्पर्य यह है कि मैं निष्काम सेवक बनना चाहता हूँ॥३॥

[१५४]

देव ! दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील-निधान सुजान-सिरोमनि, सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ॥१॥
को समरथ सर्बग्य सकल प्रभु, सिव-सनेह-मानस-मरालु ।
को साहिब किये मीत प्रीति बस खग निसिचर कपि भील भालु॥२
नाथ हाथ माया-प्रपंच सब, जीव-दोष-गुन-करम-कालु ।
तुलसिदास भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिय निहालु॥३॥

भावार्थ—हे देव ! (आपके सिवा) दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है ? आप शील-निधान, ज्ञानियोंमें शिरोमणि, शरणागतोंके परम प्रिय और भक्तों-के पालनेवाले हैं ॥१॥ आपके समान सामर्थ्यवान, सर्वज्ञ और सबका स्वामी कौन है ? आप शिवजीके स्नेहरूपी मानसरोवरमें (विहार करनेवाले) हंस हैं। (आपके सिवा) किस स्वामीने प्रेमवश पक्षी (जटायु), निशाचर (विभीषण), वन्दर (सुग्रीव), भील (निषाद) और भालुओं (जामवन्त आदि) को अपना मित्र बनाया है ? ॥२॥ हे नाथ ! मायाके प्रपंच, जीवोंके दोष, गुण कर्म और काल सब आपके हाथ हैं। यह तुलसीदास भला हो या बुरा, आपका ही है। जरा इसकी ओर देखकर इसे निहाल कर दीजिये ॥३॥

विशेष

१—'खग'—जटायु; २१५वें पदके विशेषमें देखिये ।

राग सारङ्ग

[१५५]

बिस्वास एक राम-नाम को ।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को ॥१॥
पढ़िबो परयो न छठी छ मत रिगु जजुर अथर्बन सामको ।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को ? ॥२॥

करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।
ग्यान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को ॥३॥
सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन-ग्राम को।
बैठे नाम-कामतरु-तर डर कौन घोर घन घाम को ॥४॥
को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर-धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलाम को ॥५॥

शब्दार्थ—बाम = टेढ़े। पर्‍यो न छठी = भाग्यमें नहीं लिखा। छ मत = छ शास्त्र। सहमत = सहम जाता है, सिकुड़ जाता है। छाम = दुर्बल। परधाम = बैकुण्ठ, ब्रह्मलोक।

भावार्थ—मुझे एक राम-नामका ही विश्वास है। मेरे कुटिल मनका ऐसा ही स्वभाव है; वह (राम नामको छोड़कर) अन्यत्र विश्वास ही नहीं करता ॥१॥ छ शास्त्रों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) का तथा ऋक्, यजु, साम और अथर्वण वेदोंका पढ़ना मेरे भाग्यमें नहीं लिखा है। व्रत, तीर्थ और तप आदिका नाम सुनकर मन सिकुड़ जाता है कि (इनमें) कौन पच-पचकर मरे और शरीरको क्षीण करे ॥२॥ कलिकालमें कर्म-जाल बड़ा ही कठिन है और उसे ठीक-ठीक साध लेना पैसेके अधीन है। रहे ज्ञान, वैराग्य, योग, जप और तप आदि, सो इनके करनेमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भय है ॥३॥ संसारमें श्रीरघुनाथजीके गुणोंको गानेवाले सदा सब प्रकारसे योग्य हैं। क्योंकि राम-नाम-रूपी कल्पवृक्षके नीचे बैठे हुए लोगोंको कड़ी धूप (सांसारिक त्रितापों) का क्या डर है? ॥४॥ कौन जानता है कि कौन यमपुरी (नरक) में जायगा, कौन स्वर्गमें जायगा और कौन ब्रह्मलोकमें जायगा? तुलसीदासको तो इस संसारमें श्रीरामजीके गुलामका जीवन ही बहुत अच्छा लगता है ॥५॥

[१५६]

कलि नाम कामतरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को ॥१॥
नाम लेत दाहिनो होत मन, बाम बिधाता बामको।
कहत मुनीस महेस महातम, उलटे सीधे नाम को ॥२॥

भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललामको।
तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकामको ॥३॥

शब्दार्थ—कामतरु = कल्पवृक्ष। दुकाल = अकाल, दुर्भिक्ष। बाम = प्रतिकूल। दाहिनो = अनुकूल, प्रसन्न। ललित = सुन्दर। ललाम = सुन्दर, रम्य।

भावार्थ—कलियुगमें रामनाम कल्पवृक्ष है। वह दरिद्रता, दुर्भिक्ष, दुःख और दोषको मिटानेवाला तथा सांसारिक त्रितापरूप घामके लिए घोर मेघरूप है ॥१॥ नाम लेते ही विधाताका प्रतिकूल मन भी अधमोंपर या भाग्यहीनोंपर अनुकूल हो जाता है। बड़े-बड़े मुनि और शिवजी भी उलटे-सीधे (किसी प्रकार भी अपनेसे) नामका (ऐसा ही) माहात्म्य कहते हैं, अर्थात् राम-नामरूपी लड्डू टेढ़ा-सीधा हर तरहका सर्वोत्तम है ॥२॥ जिसे ललित-ललाम (सुन्दर और रम्य) राम-नामका भरोसा है उसके लिए लोक-परलोक दोनों ही अच्छे हैं। हे तुलसी-दास! नामके प्रभावसे इस संसारसे कूच करने अथवा इसमें रहनेका सोच नहीं होता। भाव यह है कि नामके प्रभावसे मनुष्यको जन्म-मरणकी चिन्ता ही नहीं रह जाती ॥३॥

विशेष

१—'घोर घन घामको'—इसका अर्थ प्रखर धूप-सदृश त्रिताप भी हो सकता है।

२—'बाम'—शब्दका अर्थ लिखा है 'अधमः'। इति सिद्धान्तकौमुद्या-मुणादिवृत्तिः। इस चरणका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है:—'प्रति-कूल विधाताका प्रतिकूल मन अनुकूल हो जाता है।'

३—'कहत मुनीस······नामको'—इसका यह अर्थ भी होता है कि 'मुनीश (वाल्मीकि) ने उलटे नामका और शिवजीने सीधे नामका माहात्म्य कहा है।'

४—'ललित-ललाम'—'ललित'का अर्थ है 'सुन्दर' और 'ललाम' का अर्थ मेदिनी कोषमें लिखा है:—'चिह्नम्, ध्वजः, श्रृंगम्, प्रधानम्, भूषा, रम्यम्, वालधिः, पुण्ड्रम्, तुरंगः, प्रभावः।' यहाँपर 'प्रधान' या 'रम्य' अर्थ ही अभिप्रेत है। वियोगी हरिजीने 'ललित-ललाम' का अर्थ किया है, "यह दोनों ही शब्द सुन्दरके बोधक हैं; सुन्दरसे भी सुन्दर।"

[१५७]

सेइये सुसाहिब राम सो।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि, सुन्दर कोटिक काम सो ॥१॥
सारद सेस साधु महिमा कहैं, गुनगन-गायक साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति चाहत चन्द्र-ललाम सो ॥२॥
गमन बिदेस न लेस कलेस को, सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको विदित बिभीषन, बैठो है अबिचल धाम सो ॥३॥
टहल सहल जन महल-महल, जागत चारो जुग जाम सो।
देखत दोष न खीझत, रीझत सुनि सेवक गुन-ग्राम सो ॥४॥
जाके भजे तिलोक-तिलक भये, त्रिजग जोनि तनु ताम सो।
तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि विधाता बाम सो ॥५॥

शब्दार्थ—साम = सामवेद। चन्द्र-ललाम = जिनके चन्द्रमा भूषण हैं, अर्थात् शिवजी। टहल = सेवा। सहल = आसान। त्रिजग = तिर्यक् योनि, पशु-पक्षी।

भावार्थ—राम-सरीखे सुन्दर स्वामीकी सेवा करनी चाहिये। वह सुख देनेवाले, सुशील, चतुर, वीर, पवित्र और करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर हैं ॥१॥ सरस्वती, शेष और सन्तजन उनकी महिमा कहते हैं, और उनके गुणोंको गानेवाले सामवेद-सरीखे हैं। बड़े प्रेमके साथ नामका स्मरण करते हुए शिवजी-सरीखे (देवाधिदेव) जिनसे प्रेम करना चाहते हैं ॥२॥ जिन्हें विदेश-गमन (वन-यात्रा) करते समय रंचमात्र भी क्लेश नहीं हुआ। जो एक बार प्रणाम करनेसे ही सकुच जाते हैं और इसका साक्षी विभीषण प्रसिद्ध है जो कि आज भी लंकामें अविचल भावसे बैठा हुआ है ॥३॥ जिनकी टहल बहुत आसान है, जो भक्तोंके घट-घटमें चारों युगमें चारों पहर जागते रहते हैं; जो भक्तोंके दोष देखकर भी नहीं खीझते, किन्तु सेवकोंकी गुणावली सुनकर ही (देखनेको कौन कहे) रीझ जाते हैं ॥४॥ जिसे भजकर तिर्यक् योनिके पशु-पक्षी तथा तामसी शरीरवाले (राक्षस) तीनों लोकोंके तिलक हो गये, तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे प्रभुको जो लोग नहीं भजते, विधाता उनके प्रतिकूल हैं, अर्थात् उनका दुर्भाग्य है ॥५॥

राग नट

[१५८]

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ॥१॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता असि मोरि ॥२॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥३॥
करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ॥४॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा-डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ॥५॥
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ॥६॥

शब्दार्थ—खोरि = दोष। सचि-पचि = बड़े यत्नसे। सिला = खेतमें पड़े हुए दाने। अँजोरि = खोज लेता है। बुध = पण्डित। निचोरि = निचोड़कर, सारांश। अँचई = पी गया।

भावार्थ—नाथको कैसे दोष दूँ! हे हरे! मेरा मन आपकी भक्ति छोड़कर काम-लोलुप बना फिरता है ॥१॥ अपने पुजानेमें तो मेरी बड़ी प्रीति है, किन्तु आपकी पूजा करनेमें बहुत कम प्रेम है। मेरी ऐसी मूर्खता है कि मैं दूसरोंको तो खूब शिक्षा देता हूँ, पर स्वयं किसीका सदुपदेश नहीं मानता ॥२॥ मैंने जिन पापोंको बड़े स्नेहसे किया है, उन्हें तो हृदयमें चुरा रखा है, किन्तु सत्संगमें पड़कर यदि कोई शुभ कर्म किया है तो उसे सब लोगोंको निहोरा करके सुनाया है ॥३॥ जो कुछ शुभ कर्म करता हूँ उसे खेतमें पड़े हुए दानेकी तरह बटोरकर रखता हूँ; किन्तु हे दयानिधि! दम्भ मेरे हृदयमें जबर्दस्ती पैठकर उसे भी खोज लेता है। अर्थात् दम्भके कारण उन शुभ कर्मोंको लोगोंसे कह-कहकर पुण्य क्षय कर डालता हूँ ॥४॥ लोभ मेरे मनको बन्दरकी तरह उसके गलेमें

आशाकी डोरी डालकर नचा रहा है। (इतनेपर भी मैं) पण्डितोंकी तरह श्रेष्ठ वैराग्यके तत्त्वकी बातें बना-बनाकर कहता हूँ ॥५॥ इतनेपर भी मैं लज्जाको ऐसा घोलकर पी गया हूँ कि आपका (दास) कहलाता हूँ। अतः हे रघुनाथजी! आप इस निर्लज्जतापर रीझकर तुलसीको छोड़ दीजिये—संसार-जालसे मुक्त कर दीजिये ॥६॥

विशेष

१—'निलजता······छोरि'—कहनेका यह आशय है कि जिस प्रकार बहुरुपियेकी नकल देखकर राजा प्रसन्न होता और गहरा इनाम देता है, उसी प्रकार हे रामजी, तुलसीदासके ढोंगपर प्रसन्न होकर पुरस्कार-स्वरूप उसके गलेमें जो लोभने आशाकी डोरी डाल रखी है उसे छोड़ दीजिये।

[१५९]

है प्रभु! मेरोई सब दोसु।
सील-सिंधु, कृपालु, नाथ-अनाथ, आरत-पोसु ॥१॥
बेष बचन बिराग मन अघ अवगुननि को कोसु।
राम प्रीति-प्रतीति पोली, कपट-करतब ठोसु ॥२॥
राग-रंग कुसंग ही सों, साधु-संगति रोसु।
चहत केहरि-जसहिं सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु ॥३॥
संभु-सिखवन रसन हूँ नित राम-नामहिं घोसु।
दंभहू कलि नाम कुंभज सोच-सागर-सोसु ॥४॥
मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु ॥५॥

शब्दार्थ—पोसु = पोषक। कोसु = कोश, खजाना। पोली = पोला, खोखला। रोसु = क्रोध। घोषु = घोष, शब्द, रट लगा। निरजोसु = असुख।

भावार्थ—हे प्रभो! सब दोष मेरा ही है। आप शीलके समुद्र, कृपालु, अनाथोंके नाथ और दीन-दुखियोंका पोषण करनेवाले हैं ॥१॥ मेरे वेष और वचनमें तो वैराग्य दिखता है, पर मेरा मन पापों और दुर्गुणोंका खजाना है। हे रामजी! आपपर मेरा जो प्रेम और विश्वास है, वह तो पोला है, किन्तु

कपटका कर्त्तव्य खूब ठोस है ॥२॥ मैं कुसंगहीसे तो प्रेम करता हूँ और साधु-संगतिसे क्रोध। (मेरी यह मूर्खता ठीक वैसी ही है) जैसे खरगोश सियारकी सेवा करके सिंहका यश चाहता है। भाव यह है कि जैसे सिंहकी कीर्त्तिके लोभमें पड़कर खरगोश सेवा ही करते-करते सियारका भक्षण बन जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्य कुसंगमें पड़कर कीर्त्ति कमाना चाहता है, उसका भी सर्वनाश हो जाता है—कीर्त्ति तो दूर रही ॥३॥ शिवजीका उपदेश है कि 'जीभसे नित्य राम-नामकी रट लगाया कर। क्योंकि कलियुगमें दम्भसे भी (नाम लेनेपर) नामरूपी अगस्त्य सोचरूपी समुद्रको सोख लेता है ॥४॥ रामनाम अत्यन्त अनुकूल तथा आनन्द और कल्याणकी जड़ है, अपना (शिवजीका) यही निष्कर्ष है।' रामनामका ऐसा प्रभाव सुनकर तुलसीदासको भी परम सन्तोष है ॥५॥

विशेष

१—'दम्भ हू······सोसु'—वास्तवमें नियमित रूपसे राम-नामकी रट लगानेकी ऐसी ही महिमा है। बहुतोंकी यह धारणा है कि जबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो जाता, मनमें एकाग्रता नहीं आ जाती, तबतक 'राम-राम' कहकर चिल्लानेसे कुछ नहीं होता। किन्तु ऐसा कथन शुष्क और तार्किक ज्ञानियोंका है। सचमुच ही राम-नामकी ऐसी महिमा है कि नियमित रूपसे छ महीनेतक प्रतिदिन कमसे कम तीन घण्टा राम-नामकी रट लगानेपर प्रत्येक मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर मन स्थिर हो सकता है। यही तो राम-नामकी अपूर्वता है। परीक्षा करनेवालोंको ही इसकी सत्यताका पता चल सकता है। इस युगमें सबसे उत्तम और सरल साधन यही है।

२—'निरजोसु'—का अर्थ वियोगी हरिजीने 'निश्चय' लिखा है। पता नहीं कि यह अर्थ कैसे निकाला है। वास्तवमें इसका अर्थ है 'निष्कर्ष' यह शब्द 'निर्यूष' का अपभ्रंश है।

[१६०]

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने ॥१॥

ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥२॥
जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने ॥३॥

शब्दार्थ—बानक = व्यापारी। निगम = वेद। भने = कहे हैं। मने = मनाही।

भावार्थ—हे हरे! मैंने सुना है कि तुम पतित-पावन हो। इसलिए मैं पापी हूं और तुम पापियोंको पवित्र करनेवाले हो, दोनों (एक-दूसरेके खूब) बानक (व्यापारी) बन गये। अर्थात् मुझे पतित-पावनकी जरूरत है और तुम्हें पतित-की। मेल खूब मिला ॥१॥ वेदोंने कहा है कि (धर्म नामक) व्याध, गणिका (पिंगला वेश्या), गजेन्द्र और अजामिल (इस बातके) साक्षी हैं (कि तुम पतित-पावन हो)। तुमने और भी बहुत-से अधमों-(पापियों) को तारा है, भला वे किससे गिने जा सकते हैं? ॥२॥ जानकर या विना जाने तुम्हारा नाम लेनेसे यमराजकी पुरी नरकमें जानेकी मनाही कर दी जाती है। अतः यह सेवक तुलसीदास आपकी शरणमें आया है, इसे अपनी शरणमें रख लीजिये ॥३॥

विशेष

१—'ब्याध'—वियोगी हरिजी तथा अन्यान्य टीकाकारोंने इस शब्दसे 'वाल्मीकि' अर्थ निकाला है। किन्तु गणिका, गजेन्द्र और अजामिलकी श्रेणीमें महर्षि वाल्मीकि नहीं आ सकते। अजामिल इत्यादि घोर पापी थे, उनके पिछले जन्मके किसी कर्मका फल उदय हुआ और वे एक बार भगवान्‌का नाम मुखसे निकलते ही तर गये; किन्तु वाल्मीकिको अपना कुत्सित मार्ग छोड़कर अनन्त कालतक तपस्या करनेकी आवश्यकता पड़ी थी। अतः गणिका अजामिल आदिकी श्रेणीमें 'व्याध' का अर्थ 'वाल्मीकि' न करके 'धर्म' नामक व्याध अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है। क्योंकि धर्म नामक व्याधको भी उसी प्रकार गति मिली थी, जिस प्रकार गणिका, गजेन्द्र और अजामिलको।

२—'गनिका'—पिंगला; ९४ पदके विशेषमें देखिये।

३—'अजामिल'—५७ पदके विशेषमें देखिये।

४—'जानि······मने'—इसका आशय यह है कि जो लोग राम-नामकी

महिमा जानकर रट लगाते हैं, वे तो तर ही जाते हैं, जो लोग बिना जाने ही अभ्यासी बन जाते हैं—वे भी नरकमें नहीं पड़ते। अर्थात् राम-नामके जपसे नासमझ लोग भी नामकी महिमाके कायल हो जाते और भव-सागरसे पार हो जाते हैं।

राग मलार

[१६१]

तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो ॥१॥
कृपा-सुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो।
स्वाति-सनेह-सलिल-सुख चाहत चित-चातक सो पोतो ॥२॥
काल-करम-बस मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु भो तो।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो ॥३॥
जितो दुराव दासतुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो।
तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ॥४॥

शब्दार्थ—निसोतो = सच्चा, निराला। पोतो = बच्चा। भभरि = डरकर। ओतो = उतना। लयो = लवाई, खेतोंकी फसल काटी है।

भावार्थ—हे प्रभो! यदि आपके समान कहीं कोई होता, तो ऐसा कौन क्षुद्र है जो निपट (अत्यधिक) निरादर सहकर रातदिन आपकी रट लगाकर लटता (थकता या दुर्बल होता)? मेरा जो कृपारूपी अमृत-जल आपसे माँगना है, वह सत्य कहता हूँ कि निराला है। मेरा चित्तरूपी चातकका बच्चा स्नेहरूपी स्वाति नक्षत्रका आनन्दरूपी जल चाहता है ॥२॥ काल और कर्मके प्रभावसे यदि कभी-कभी मेरे मनमें बुरी वासना आती है तो वह इसी तरह है जैसे मछली आनन्दके साथ रहती हुई जल छोड़कर उछलती और डरकर फिर (पानीमें) गोता लगा जाती है। (यहाँ कुत्सित वासनाओंका उदय होना ही मछलीका उछलना है, और फिर अपनी निष्ठाका ग्रहण करना ही मछलीका डरकर गोता लगाना है) ॥३॥ तुलसीदासके हृदयमें जितना कपट है उतना क्योंकर कहा जा

सकता है ? किन्तु हे महाराज दशरथके लाड़ले ! आपके राज्यमें बिना जोते-बोये ही लोगोंने (फसल) काटी है, अर्थात् बिना सत्कर्म किये ही मुक्ति पायी है।

विशेष

१—'कोतो'—वियोगी हरिजीने शब्दार्थमें 'तो' का अर्थ 'था' लिखा है। यह अर्थ भी बेजा नहीं है, पर वास्तवमें यहाँ 'को' का अर्थ 'कौन' और 'तो' का अर्थ 'तुम्हारा', या 'तुम' अधिक संगत जँचता है; अथवा 'कोतो' शब्दको बंगीय प्रयोग मानकर 'कितना' अर्थ भी किया जा सकता है। इसके सिवा 'तो' का अर्थ 'तो' भी होता है।

२—'लयो······जोतो'--वियोगी हरिजीने इसका अर्थ किया है,—'बिना ही जोते-बोये पाया है।' खूब !

राग सोरठ

[१६२]

ऐसो को उदार जग माँहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥१॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥२॥
जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं ॥३॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तो भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥४॥

शब्दार्थ—द्रवै=कृपा करें। सरिस=समान।

भावार्थ—संसारमें ऐसा उदार कौन है, जो बिना सेवाके ही दीनोंपर द्रवित हो ? (ऐसा उदार) रामजीके समान दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ जिस गति-को मुनि और ज्ञानीजन योग, वैराग्य आदि यत्न करनेपर भी नहीं पाते, उस गतिको हे प्रभो ! आपने गीध, शबरी आदिको देनेमें भी अपने हृदयमें बहुत

करके नहीं समझा, अर्थात् यह न समझा कि उन्हें बहुत बड़ी वस्तु दी जा रही है ॥२॥ जो सम्पत्ति रावणने अपने दसों सिर अर्पित करनेके बाद शिवजीसे प्राप्त की थी, वह सम्पत्ति हे हरे! आपने विभीषणको बड़े संकोचके साथ दी थी। (अर्थात् आपने यह समझा कि विभीषणको बिलकुल साधारण चीज दी जा रही है) ॥३॥ तुलसीदास कहते हैं कि रे मेरे मन! जो तू सब तरहसे सब सुख चाहता है, तो श्रीरामजीका भजन कर—ताकि कृपानिधि रामजी तेरा सब काम पूरा करें ॥४॥

विशेष

१—'जो गति······जिय जानी'—यही बात भगवान् श्री रामजीने शबरी-से कही है :—

जोगि बृन्द दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥
—रामचरितमानस

२—'दससीस अरपि'—एक बार रावणने कैलास पर्वतपर घोर तपस्या की थी। अन्तमें वह अपना सिर काट-काटकर अग्निमें हवन करने लग गया था। जब नौ सिर काट चुका और दसवाँ सिर काटनेके लिए तलवार उठायी, तब शिवजी प्रकट हुए और प्रसन्न होकर उससे वर माँगनेके लिए कहा। फल-स्वरूप उसे लंकाका राज्य मिला। इसपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि रावणने तो नौ सिर काटे थे, फिर गोस्वामीजीने दस सिर क्यों लिखा? इसका उत्तर यह है कि वह अपने दसों सिर अर्पित कर चुका था। नौ सिर काटनेके बाद ही शिवजी प्रकट हो गये। इसीसे गोस्वामीजीने 'दससीस अरपि' लिखा है—'दससीस काटि' नहीं लिखा।

[१६३]

एकै दानि-सिरोमनि साँचो।
जोइ जाच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाचो ॥१॥
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये ॥२॥

हरिहु और अवतार आपने, राखी वेद-बड़ाई ।
लै चिउरा निधि दई सुदामहिं, जद्यपि बाल-मिताई ॥३॥
कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन, को नहिं कियो अजाची ।
अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस-पिसाची ॥४॥

शब्दार्थ—सकृत=एक बार । चिउरा=चिवड़ा, कूटा हुआ धान । निधि=सम्पत्ति ।

भावार्थ—यह सही है कि दानियोंमें शिरोमणि एक ही है । जिस किसीने उससे याचना की, उसे ही याचनाके कारण फिर बहुत नाच नाचना न पड़ा, पूर्णकाम हो गया ॥१॥ दैत्य, देवता, मनुष्य, मुनि सब स्वार्थी हैं, विना कुछ पाये कोई कुछ नहीं देता । केवल कोशलपाल श्रीरामजी ही ऐसे कृपालु कल्पवृक्ष हैं जो एक बार मस्तक नवाते (प्रणाम करते) ही पिघल जाते हैं ॥२॥ यद्यपि हे नाथ, आपने भी अपने और अवतारोंमें वेदोंकी बड़ाईकी रक्षा की है; (कृष्णावतारमें) बचपनकी मित्रता रहनेपर भी चिवड़ा लेकर सुदामाको सम्पत्ति दी है (मुफ्त नहीं) ॥३॥ किन्तु (रामावतारमें आपने) बन्दर, शबरी, सुग्रीव, विभीषण आदिमेंसे किसे नहीं अयाच्य कर दिया, अर्थात् विना कुछ लिये किसका मनोरथ पूरा नहीं किया ? हे दयानिधि ! अब भयंकर आशारूपी पिशाचिनी तुलसीदासको दुःख दे रही है ॥४॥

विशेष

१—'लै चिउरा···मिताई'—इसमें बड़ा ही मीठा व्यंग्य है । कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गुसाईंजीने यहाँ पक्षपात किया है; इसीसे रामावतार को कृष्णावतारसे अधिक उदार दिखाया है । किन्तु वास्तवमें यहाँ बात ही कुछ और है । क्योंकि यहाँ रामको अधिक उदार ठहरानेपर "ऐसी कौन प्रभुकी रीति" (पद संख्या २१४) में कृष्णको ही अधिक उदार मानना पड़ेगा । यहाँपर कविने कृष्णके बहाने रामको कहा है कि 'हरिहु और अवतार आपने राखी वेद बड़ाई ।' राम और कृष्णमें कविकी अभेद दृष्टि है (विनयपत्रिकाका २१४ वाँ पद देखिये) । ग्रन्थकारकी इस उक्तिपर भगवान् अवश्य ही हँस पड़े होंगे । उन्हें यह सोचकर हँसी आयी होगी कि यहाँपर कवि 'सिर काटे और बालकी रक्षा करे' वाली कहावत को बड़े मजेदार ढंगसे चरितार्थ कर रहा है ।

इसमें कविका यह आशय है कि हे प्रभो, एक तो मेरे पास कुछ देनेके लिए है ही नहीं, दूसरे यदि मैं सुदामाके चावलकी तरह माँग-जाँच कर कोई छोटी-मोटी वस्तु आपको दूँ भी तो सुदामाके अतिरिक्त आपके लेनेका एक और उदाहरण हो जायगा। किन्तु गोस्वामीजी महाराज ! आप भूल कर रहे हैं। दशरथके लाड़ले भी यों ही कुछ देनेवाले नहीं हैं। सुग्रीव और विभीषणको ही उन्होंने कौन-सा बिना कुछ लिये ही अयाच्य कर दिया था ? और कुछ नहीं तो सेवा ही ली थी। वह हर अवतारमें भक्तोंके समक्ष पेट धोये बैठे रहते हैं।

२—'कपि'—अन्यान्य टीकाकारोंने इस शब्दका अर्थ ही छोड़ दिया है। यह सुग्रीवके अतिरिक्त अन्यान्य बन्दरोंके लिए आया है। यहाँपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि कपिमें तो सुग्रीव भी आ गये, फिर अलगसे सुग्रीवका नाम लिखनेकी क्या आवश्यकता थी ? उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सुग्रीव राजा था, इसलिए उसके नामका अलगसे उल्लेख करना सर्वथा उचित है। इसी प्रकार रामायणमें सुग्रीवने भी रामसे कहा है—'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी'। अर्थात् बालिने मेरा सर्वस्व तो हरण कर ही लिया, स्त्री भी छीन ली। तात्पर्य यह कि स्त्रीका छीन लेना घोर अन्याय है। वियोगी हरिजीने भी 'कपि' शब्दका अर्थ लिखना जरूरी नहीं समझा।

३—'सबरी'—१०६ पदके विशेषमें देखिये।

[१६४]

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई ॥१॥
नेह निबाहि देह तजि दशरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई ॥२॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान-प्रिया बिसराई।
रन पर्‌यो बंधु बिभीषण ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥३॥
घर गुरु गृह प्रिय-सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुँनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनिकी रुचि माधुरी न पाई ॥४॥

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट-मीत कहे सुख मानत बानर-बंधु बड़ाई ॥५॥
प्रेम-कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥६॥
तुलसी राम सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई ॥७॥

शब्दार्थ—न्हाते = पृथक्। फलनिकी = फलोंकी, बेरोंकी। कनौड़ो = कृतज्ञ। जाय = व्यर्थ।

भावार्थ—प्रीतिकी रीति श्रीरामजी जानते हैं। श्रीरामजी सब नातों-रिश्तोंको दूर रखकर स्त्री स्नेह-सम्बन्ध रखते हैं ॥१॥ महाराज दशरथने स्नेहका निर्वाह करनेमें अपना शरीर त्यागकर कीर्त्ति स्थापित की; किन्तु रामजीके गुणोंकी गरिमा यह है कि उन्होंने ऐसे (स्नेही) पितासे भी अधिक ममता गीध (जटायु) पर दिखायी ॥२॥ सुग्रीव सखाको स्त्रीके विरहमें देखकर (रामजीने) अपनी अर्द्धाङ्गिनी महारानी जानकीजीको भुला दिया। रणभूमिमें तो भाई लक्ष्मण (मूर्च्छित) पड़े थे, पर आपके हृदयमें विभीषणका ही सोच अधिक था ॥३॥ घरमें, गुरुके यहाँ, प्रियजनोंके यहाँ, ससुरालमें तथा और जब-जब जहाँ कहीं मेहमानी हुई तब-तब वहाँ शबरीके बेरोंकी चर्चा करते हुए कहा कि वैसा स्वाद और माधुर्य कहीं नहीं मिला ॥४॥ जब मुनि लोग आपके सहज स्वरूप (ईश्वरीय स्वरूप) का वर्णन करते हैं, तब तो आप संकोचके मारे सिर झुका लेते हैं; किन्तु केवटके मित्र कहनेपर आप आनन्दित हो जाते हैं और बानरोंके बन्धु कहे जानेमें आप अपनी बड़ाई समझते हैं। अर्थात् जब मुनि लोग आपको सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं, तब तो आप सकुच जाते हैं पर जब वे यह कहते हैं कि आप केवट (निषाद) के सखा हैं और बानरोंके बन्धु हैं, तब आप आनन्दित हो जाते हैं—इसमें अपनी बड़ाई समझते हैं॥५॥ हे भाई! तीनों लोक और तीनों कालमें रामजीके समान प्रेम-परवश होनेवाला स्वामी दूसरा कोई नहीं है। (रामने) हनूमान्‌जीसे कहा कि 'मैं तेरा ऋणी हूँ; भला ऐसी सेवकाई कौन मानेगा?' अर्थात् सेवककी सेवाओंपर इस प्रकार कृतज्ञता कौन प्रकट करेगा? ॥६॥ हे तुलसी! रामजीका स्नेह और शील देखकर भी यदि तेरे हृदयमें उनके प्रति

भक्ति पैदा न हुई, तो तेरी माताने तुझ जड़को व्यर्थ ही पैदा करके अपनी युवावस्था खोयी ॥७॥

विशेष

१—'घर गुरु……'सासुरे'—इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है:—"गुरुके घर, प्रियजनोंके यहाँ तथा ससुरालमें"।

२—'केवट मीत''बड़ाई' इसका अर्थ करनेमें वियोगी हरिजी गहरा गोता खा गये हैं। आप लिखते हैं, "किन्तु जब केवट आपको अपना मित्र एवं बन्दर अपना 'भाई' कहते हैं, तो अपनी बड़ाई समझते हैं।"

[१६५]

रघुबर रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई ॥१॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई ॥२॥
मिलि मुनिवृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की, बरनत प्रीति सुहाई ॥३॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर, जती गयंद चढ़ाई।
तिय-निन्दक मतिमंद प्रजा रज, निज नय नगर बसाई ॥४॥
यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन तुलसी की, काहु न सुरति कराई ॥५॥

शब्दार्थ—निदरि = निरादर करके। गनी = धनी। कौनप = राक्षस (विभीषण)। नय = नीति।

भावार्थ—हे रघुकुलमें श्रेष्ठ रामजी! आपकी यही बड़ाई है कि आप धनी पात्रोंका निरादर और गरीबोंका आदर करके उनपर अधिक कृपा करते हैं ॥१॥ देवता सब साधन करके थक गये, पर उन्हें आपने स्वप्नमें भी दर्शन नहीं दिया। किन्तु केवट, कुटिल भालु, बन्दर और राक्षस (विभीषण) आदिका साथ किया और वे आपको बहुत भाये ॥२॥ मुनियोंके साथ मिलकर दंडक वनमें

घूमे, पर उसकी आपने कभी चर्चातक न चलायी; पर बारम्बार गीध और शबरीके प्रेमका वर्णन करना आपको प्रिय है ॥३॥ कुत्तेके कहनेसे तो यतिको (तीर्थसिद्ध नामक ब्राह्मणको) हाथीपर चढ़ाकर नगरके बाहर निकाल दिया, किन्तु स्त्री-(जानकीजी) की निन्दा करनेवाले मन्दबुद्धि धोबीको अपनी प्रजा समझकर नीतिसे नगरमें बसाया ॥४॥ इस (आपके) दरबारमें दीनोंका आदर करनेकी रीति सदासे चली आ रही है। किन्तु हे दीनदयालु ! आपको इस दीन तुलसीकी सुध किसीने नहीं करायी ॥५॥

विशेष

१—'केवट'—१०६ पदके विशेषमें देखिये।

२—'कौनप'—वियोगी हरिने इसका अर्थ लिखा है 'राजा'।

३—'कियो सकल सँग भाई'—इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि "भाईके समान सबका साथ किया।" वियोगी हरिने 'भाई' का अर्थ "भाई-चारा निबाहा" लिखा है।

४—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

५—'सबरी'—१०६ पदके विशेषमें देखिये।

६—'स्वान'—१४६ पदके 'विशेष' विवरणमें देखिये। तीर्थसिद्ध नामक ब्राह्मण हाथीपर चढ़ाकर बड़े समारोहके साथ कालिंजरका महन्त बनाया गया था।

[१६६]

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ॥१॥
साधन-हीन, दीन, निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृह तें गवनि परसि पद पावन घोर साप तें तारी ॥२॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कछु जात बिचारी ॥३॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥४॥

बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन व्रतधारी।
जनक-समान कृपा ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥५॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक-बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥६॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय-व्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यो बालि, सहि गारी ॥७॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥८॥
असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी ॥९॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी ॥१०॥

शब्दार्थ—वपु = शरीर। आमिष = मांस। जोषित = स्त्री। निवारी = दूर किया।

भावार्थ—रामजी दीनोंका ऐसा (जैसा कि पिछले पदमें कहा गया है और आगे कहा जायगा) हित करनेवाले हैं। वह बड़े ही कोमल, करुणा-निधान और बिना कारण ही परोपकार करनेवाले हैं ॥१॥ साधनोंसे रहित, दीन और अपने पापके कारण गौतम-पत्नी अहल्या शिला हो गयी थी। उसे आपने घरसे प्रस्थान करके अपने पवित्र चरणोंसे छूकर घोर पापसे मुक्त कर दिया ॥२॥ हिंसा करनेमें रत और तामसी शरीरवाला निषाद पशुओंके समान वनमें घूमा करता था। उसे आपने प्रेमके वशमें होकर हृदयसे लगाकर भेंटा—जरा भी जाति-पाँतिका विचार नहीं किया ॥३॥ यद्यपि इन्द्रके पुत्र जयन्तने आपसे इतना बड़ा द्रोह किया था कि कहा नहीं जा सकता, तथापि जब वह सब लोकोंमें देख आनेके (कहीं शरण न मिलनेके) बाद शोक-हत होकर आपकी शरणमें गया, तो आपने उसका भय दूर कर दिया ॥४॥ पक्षी योनि और मांसहारी गीध ही कौन-सा व्रतधारी था? किन्तु उसका अन्त्येष्टि-संस्कार आपने पिताके समान अपने हाथसे किया और उसका हर तरहसे सब काम बना दिया ॥५॥ नीच जातिकी स्त्री शबरी मूर्खा और लोक-वेदसे पृथक् थी। किन्तु हे कृपानिधान

रघुनाथजी ! आपने उसका प्रेम समझकर दर्शन दिया और उद्धार कर दिया ॥६॥ बानर सुग्रीव अपने भाई वालिके भयसे व्याकुल होकर पुकारता हुआ शरणमें आया । आप भक्त सुग्रीवका दारुण दुःख न सह सके और गालियाँ सहकर बालिको मारा ॥७॥ शत्रु (रावण) का भाई विभीषण राक्षस था; भला वह भगवद्भजनका कौन-सा अधिकारी था ? किन्तु ज्यों ही वह शरणमें गया, आपने अगवानी करते हुए भुजा पसारकर उसे भेंटा ॥८॥ बानर और रीछ ऐसे विकारी हैं कि उनका स्मरण करनेसे (देखनेको कौन कहे) अशुभ होता है । किन्तु वेदोंमें विदित है कि आपने उन सबको भी पवित्र कर दिया—हे नाथ ! यह तुम्हारी ही महिमा है ॥९॥ कहाँतक कहूँ, जिन दीनोंकी आपने विपत्तियाँ दूर की हैं वे असंख्य हैं । फिर कलिकालके पापोंसे ग्रसित इस तुलसीदासपर कृपा करना आप क्यों भूल गये नाथ

[१६७]

रघुपति-भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ, जेहि बनि आई ॥१॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ, सोइ सुलभ सदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥२॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बलतें न कोउ बिलगावै ।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ॥३॥
सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-वियोगी ॥४॥
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं ।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—सफरी = मछली । सर्करा = चीनी । सिकता = बालू । पिपीलिका = चींटी । द्वैत-वियोगी = जिसे द्वैत भावसे वियोग हो गया हो ।

भावार्थ—रामभक्ति करनेमें बड़ी कठिनाई है । कहनेमें तो सुगम है, पर करना अपार है । वही जानता है, जिससे करते बन गया ॥१॥ जो जिस कलामें कुशल रहता है, उसके लिए वही सुलभ और सदा सुखकर है । देखिये न,

मछली गंगाजीमें जल-प्रवाहके सामने जाती है, पर इतना बड़ा हाथी उसमें बह जाता है ॥२॥ जैसे बालूमें चीनीके मिल जानेपर उसे बलपूर्वक कोई अलग नहीं कर सकता; किन्तु उसका रस जाननेवाली छोटी चींटी उसे बिना प्रयास ही पा जाती है ॥३॥ उसी प्रकार जो योगी सब दृश्योंको अपने पेटमें रखकर निद्राको त्यागकर सोता है, वही द्वैतका घोर विरोधी हरिचरणोंमें परम सुखका अनुभव करता है ॥४॥ न तो वहाँ देश-काल है और न शोक, मोह, भय, हर्ष और दिन-रात ही है। तुलसीदास कहते हैं कि यह दशा प्राप्त हुए बिना संशयोंका मूलोच्छेद नहीं होता ॥५॥

[१६८]

जो पै राम-चरन-रति होती।
तौ कत त्रिबिध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती ॥१॥
जो संतोष सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत विषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै ॥२॥
जो श्रीपति-महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ॥३॥
जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे।
प्रभु-बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥४॥
नहिं एकौ आचरन भजन को, बिनय करत हौं ताते।
कीजै कृपा दास तुलसी पर, नाथ नाम के नाते ॥५॥

शब्दार्थ—निसोती = शुद्ध, खालिस। कुरंग = हरिण। खलाये = पचकाकर, खलाकर। चेरे = दास।

भावार्थ—यदि रामजीके चरणोंमें प्रेम होता, तो रात-दिन तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) दुःख शुद्ध विपत्ति क्यों सहते? ॥१॥ यदि रातमें, दिनमें अथवा स्वप्नमें भी सन्तोषामृत मिल जाय, तो यह मन-कुरंग मृग-जलरूपी विषयोंको देखकर क्यों दौड़े? ॥२॥ यदि हम लक्ष्मीनारायणकी महिमाको हृदयमें विचारकर भाव बढ़ाकर उन्हें भजते, तो कुत्तेके समान पेट पचकाये द्वार-द्वार क्यों फिरना पड़ता? ॥३॥ जो लोग लोलुप हैं, आशाके दास हैं,

वे सबके गुलाम हैं। किन्तु जिन्होंने प्रभुपर विश्वास करके आशाको जीत लिया है, वे केवल भगवान्के सेवक हैं—ईश्वर-भक्त हैं ॥४॥ मुझमें भजन-भावका एक भी आचरण नहीं है, इसीसे विनती करता हूँ कि हे नाथ! आप अपने नामके नाते इस तुलसीदासपर कृपा कीजिये ॥५॥

[१६९]

जो मोहिं राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥१॥
बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभवे सुने अरु डीठे।
यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीठे ॥२॥
तुलसिदास प्रभु सों एकहि बल बचन कहत अति ढीठे।
नामकी लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे ॥३॥

शब्दार्थ—सीठे = सीठीकी तरह, निस्तत्त्व, रस-रहित। डीठे = देखे। उबीठे = उबिठ गया, जी भर गया, ऊब गया। ढीठे = ढिठाई।

भावार्थ—यदि मुझे रामजी अच्छे लगते, तो नवरस और षट्रसके रस नीरस और निस्तत्त्व जँचते ॥१॥ मैंने नाना प्रकारके शरीर धारणकर यह अनुभव किया है, (लोगोंसे) सुना है, और (अपनी आँखोंसे) देखा है कि (पाँचों) विषय (भारी) ठग हैं। यद्यपि इसे मैं अपने दिलमें समझता हूँ (कि ये ठग हैं) तथापि उनसे अघाकर (तृप्त होकर) स्वप्नमें भी मेरा जी नहीं ऊबा ॥२॥ तुलसीदास अपने स्वामीसे एक ही बलपर बड़ी ढिठाईसे बातें कह रहा है; (वह यह कि) करुणाकी खानि श्रीरामजीने अपने नामकी लाज रखनेके लिए किसके हाथमें चिट्ठी या परवाना नहीं दिया? अर्थात् किसे मुक्त कर देनेका वचन नहीं दिया? कहनेका आशय यह है कि आपका जो ऐसा स्वभाव है, उसीका मुझे पूर्ण भरोसा है ॥३॥

विशेष

१—'नवरस'—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नव-रस साहित्यमें माने गये हैं।

२—'षट्रस'—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छ रस खाने-पीनेकी वस्तुओंमें होते हैं ।

३—'विषय'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं ।

[१७०]

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो ।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुराग्यो ॥१॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घर के ।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुवर के ॥२॥
ज्यों नासा सुगन्धरस-बस, रसना षटरस-रति मानी ।
राम-प्रसाद-माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥३॥
चन्दन चन्द्रबदनि-भूषन-पट ज्यों चह पाँवर परस्यो ।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥४॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु वचन हिये हूँ ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥५॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे ।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे ॥६॥
सकल अंग पद-विमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है ।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है ॥७॥

शब्दार्थ—चन्द्रवदनि = चन्द्र-वदनी युवती । पाँवर = नीच । सकृत = एक बार । बागे = फिरे । ओट = आड़, भरोसा ।

भावार्थ—मन इस प्रकार कभी भी तुमसे न लगा, जिस प्रकार वह कपट छोड़कर स्वभावतः अभेद रूपसे विषयोंमें अनुरक्त रहता है ॥१॥ जैसे मैंने परायी स्त्रीको देखा है, घर-घरके पाप और प्रपंचको सुना है, वैसे न तो किसी साधुको देखा है, और न गंगाजीकी तरंगके समान निर्मल श्रीरामजीकी गुणावली ही सुनी है ॥२॥ जैसे नाक सुगन्धके रसके वशमें है, और जीभने छ रसोंमें अपनी प्रीति मान रखी है, वैसे ही यह नाक भगवान्‌को चढ़ायी हुई मालाकी

सुगन्धके लिए और जीभ भगवान्‌के जूठनके लिए ललककर कभी नहीं ललची ॥३॥ जैसे यह नीच शरीर (बड़े चावसे) चन्दनको, चन्द्रवदनी युवतीको, आभूषणोंको और वस्त्रोंको स्पर्श करना चाहता है, वैसे यह भगवत्पादारविन्दों-को छूनेके लिए कभी न तरसा ॥४॥ जैसे मैंने शरीर, वचन और मनसे सब तरहकी सेवा बुरे देवताओं और बुरे स्वामियोंकी की, वैसी ही सेवा मैंने रामजीकी नहीं की जो एक बार प्रणाम करते ही कृतज्ञ होकर सकुच जाते हैं ॥५॥ जिस प्रकार ये चंचल पैर लोभवश लोलुप होकर संसारमें द्वार-द्वार फिरे, वैसे ये अभागे राम-जानकीके आश्रमोंमें चलकर नहीं थके ॥६॥ हे नाथ! मेरे सब अंग आपके चरणोंसे विमुख हैं; केवल मैंने मुखसे आपके नामकी ओट ले रखी है। (और यह इसलिए कि) तुलसीको एक यही विश्वास है कि प्रभुजीकी मूर्त्ति कृपा-मयी है ॥७॥

[१७१]

कीजै मोको जम जातनामई।
राम! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई ॥१॥
गरभवास दस मास पालि पितु-मातु रूप हित कीन्हों।
जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों ॥२॥
कपट करौं अंतरजामिहुँ सों, अघ ब्यापकहिं दुरावौं।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं ॥३॥
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यौ बिषयनि हाथ हियो है।
मोसे बंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है ॥४॥
पल-पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके ॥५॥
स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साइँ-दोहाई।
मैं मति-तुला तौलि देखी, भइ मेरेहि दिसि गरुआई ॥६॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं ॥७॥

शब्दार्थ—बिबेक = ज्ञान। सिय-पीके = सीतापति, रामजी। बावौं = वाम, प्रति-कूल। गरुआई = भारीपन। कनौड़ो = कृतज्ञ।

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे यम-यातनामें ही डाल दीजिये । क्योंकि हे रामजी ! मैं ऐसा शठ हूँ कि आप जैसे पवित्र और सुहृद स्वामीकी ओर मैंने पीठ कर दी है (आपसे विमुख हो गया हूँ) ॥१॥ गर्भवासके समय दस महीने-तक पालकर आपने पिता-माताके रूपमें मेरा हित किया । इस मूर्खको आपने विवेक दिया । इस दुष्टको आपने सुशीलता दी ! इस अपराधीको आपने आदर दिया ! ॥२॥ किन्तु मैं अन्तर्यामी प्रभुसे भी कपट करता हूँ, व्यापक पापोंको छिपाता हूँ । किन्तु हे रघुनाथजी ! आपने ऐसे दुर्बुद्धि और बुरे सेवकपर भी अपना मन वाम नहीं किया ॥३॥ पेट तो भरता हूँ आपका दास कहाकर; किन्तु मैंने अपने हृदयको विषयोंके हाथ बेच दिया है । हे कृपालु ! भला मुझ-सा वंचक कौन है जिसपर आपने छल छोड़कर (या मेरे छल-भावपर ध्यान न देकर) छोह किया है ? ॥४॥ आपके पल-पलके किये हुए उपकारोंको अच्छी तरह जान-बूझकर तथा सुनकर भी, वज्रसे भी अधिक कठोर मेरे चित्तमें कभी श्रीसीतानाथ-का प्रेम न धँसा ॥५॥ हे स्वामी ! मैंने अपनी बुद्धिरूपा तराजूपर एक ओर आपकी सब भक्त-वत्सलता रखी और दूसरी ओर थोड़ा-सा अपना स्वामि-द्रोह रखकर देखा, तो मेरी ओरका पलड़ा भारी रहा अर्थात् मेरा स्वामि-द्रोह अधिक हुआ । ॥६॥ इतनेपर भी हे नाथ ! आप मेरा हित करते आये हैं, कर रहे हैं और करेंगे । तुलसी अपनी ओरसे जानता है कि इस एहसानको स्वामी ही भरेंगे । अर्थात रामजी ही पूरा करेंगे ॥७॥

[१७२]

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ॥१॥
जथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥४॥

शब्दार्थ—निरत = संलग्न । परुष = कठोर । दहौंगो=जलूँगा । लहौंगो = प्राप्त करूँगा ।

भावार्थ—क्या कभी मैं भी इस रहन या रीतिसे रहूँगा ? क्या कभी कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैं भी सन्त-स्वभाव ग्रहण करूँगा ? ॥१॥ जो कुछ प्राप्त हो जायगा, उसीसे सदा सन्तोष करूँगा, किसीसे कुछ न माँगूँगा ? निरन्तर दूसरोंकी भलाईमें लगा रहूँगा और मन, वचन, कर्मसे नेम. निबाहूँगा ? ॥२॥ अत्यन्त दुःसह और कठोर वचन अपने कानोंसे सुनकर उसकी आगमें न जलूँगा ? मानकी इच्छा न करूँगा, मनको एक रस और शीतल रखूँगा तथा दूसरोंके गुण-दोष या स्तुति-निन्दाकी चर्चा न करूँगा ? ॥३॥ देह-जनित चिन्ताओंको छोड़कर सुख और दुःखको समबुद्धिसे सहूँगा ? हे प्रभो ! क्या यह तुलसीदास इस पथपर रहकर अविचल (अटल) भगवद्भक्ति प्राप्त करेगा ? ॥४॥

विशेष

१ इस पदमें कविकी कल्पना नहीं बल्कि मनकी आन्तरिक कामना है। जरा 'रसखान' कविका भी ऐसा ही विचरण देखिये :—

मानुष हों तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पशु हों तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो धर्यौ करछत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हों तो बसेरो करौं वहि कालिंदी-कूल कदम्बकी डारन॥

[१७३]

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरो सो॥१॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि वेद परोसो॥२॥
आगम बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो॥३॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥४॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥५॥

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो ।
रामनाम-बोहित भव सागर चाहै तरन तरो सो ॥६॥

शब्दार्थ—आगम = शास्त्र । सरत = पूरा होता है । नावत = डालनेसे । आम = कच्चा । घरो = घड़ा । डगरो = मार्ग । बोहित = नौका ।

भावार्थ—मेरे मनमें (केवल रामजीको छोड़कर) दूसरेका भरोसा होता ही नहीं । इस कलिकालमें सब साधन वृक्ष-से हैं, जिनमें परिश्रमरूपी फल लगे हैं॥१॥ तप, तीर्थ, उपवास, दान, यज्ञ आदि जो जिसे रुचे, वह उसे करे । किन्तु कर्म-फल प्राप्त होनेपर ही जान पड़ेगा कि वेदोंने (केवल) भर-भरकर परोसा है; अर्थात् इस कलिकालके प्रभावसे तप, तीर्थ आदि सब साधनोंमें विघ्न पड़ जाता है, सफल नहीं होते—अतः साधकको परिश्रम तो बहुत करना पड़ता है किन्तु विघ्न पड़ जानेके कारण मजदूरी बहुत कम मिलती है ॥२॥ शास्त्रोंकी बतायी हुई विधिसे मनुष्य जप और यज्ञादि कर्म करता है, पर उनसे काम पूरा नहीं होता, वे खरे नहीं उतरते । योग-सिद्धिके साधनोंमें स्वप्नमें भी सुख नहीं है । उनमें रोग और वियोग धरा हुआ-सा है ॥३॥ काम, क्रोध, मद, लोभ और मोहने मिलकर ज्ञान-वैराग्यको हर-सा लिया है । और संन्यास लेनेपर मन वैसे ही बिगड़ जाता है जैसे पानी डालनेसे कच्चा घड़ा ॥४॥ पुराणोंमें मुनियोंके बहुत-से मत हैं और बहुत-से पन्थ । उनमें जहाँ-तहाँ झगड़ा-सा ही जान पड़ता है । अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ । मेरे गुरुने कहा कि रामजीका भजन करना अच्छा है और मुझे भी वह राजमार्ग-सा प्रतीत हो रहा है ॥५॥ तुलसीदास कहते हैं कि जिसे विश्वास और प्रेमके बिना बारम्बार पचकर मरना हो, वह मरे; किन्तु संसार-सागरसे पार होनेके लिए रामजीका नाम जहाजके समान है; जो लोग पार उतरना चाहें, वे उसपर चढ़कर पार हो जायँ ॥६॥

विशेष

१—'बिगरत मन संन्यास लेत'—संन्यासमार्ग तलवारकी धार है । उसपर बड़ी सावधानीसे चलना पड़ता है । जरा भी चूके कि गये । फिर तो कहीं भी ठौर नहीं मिल सकता । इसलिए जबतक पूर्ण रीतिसे इन्द्रियोंका दमन न हो जाय, संसारसे स्वाभाविक ही विराग न उत्पन्न हो जाय, तबतक संन्यास लेना लाभदायक नहीं बल्कि घातक और अनिष्टकर है ।

[१७४]

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥१॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥२॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥४॥

शब्दार्थ—कन्त = पति। बनितन्हि = स्त्रियाँ। सुसेव्य = पूज्य, सेवा करने योग्य।

भावार्थ—जिसे राम-जानकी प्रिय न हों, उसे करोड़ों शत्रुओंके समान छोड़ देना चाहिये—चाहे वह अत्यन्त स्नेही क्यों न हो ॥१॥ (देखिये न) प्रह्लादने अपने पिताको, विभीषणने अपने भाई रावणको, भरतने अपनी माताको, राजा बलिने अपने गुरु (शुक्राचार्य) को और व्रजांगनाओंने अपने-अपने पतियोंको त्याग दिया था। (और इस प्रकार स्वजनोंके त्यागनेसे वे बुरे नहीं कहे जाते बल्कि) वे आनन्ददायक और कल्याणकारी माने जाते हैं ॥२॥ जितने सुहृद् और पूज्य हैं, वे सब रामजीके ही नाते और स्नेहसे माने जाते हैं। बहुत-सा कहाँतक कहूँ, (इतना ही समझ लो कि) वह अंजन ही क्या (किस काम), जिससे आँखें फूट जायँ? ॥३॥ तुलसीदासका कथन है कि सब प्रकारसे परम हितू, पूज्य और प्राणसे भी बढ़कर प्यारा वही है जिससे (जिसके द्वारा) रामजीके चरणोंमें प्रेम हो। बस, यही हमारा मत है ॥४॥

विशेष

१—'बलि गुरु तज्यो'—वामन भगवान्‌के तीन पैर पृथिवी माँगने पर शुक्राचार्यने बलिसे कहा कि दान न दो, इसमें छल है। किन्तु दृढ़प्रतिज्ञ बलिने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने गुरु शुक्राचार्यको त्याग दिया।

२—कहते हैं कि गोस्वामीजीने यह पद मीराबाईके पत्रका उत्तर देनेके

लिए बनाया था। मीराबाईने अपने घरवालोंसे तङ्ग आकर गुसाईंजीके पास निम्नलिखित पद्यात्मक पत्र भेजा था :—

> 'स्वस्तिश्री तुलसी गुनभूषन, दूषन हरन गुसाईं।
> बारहिं बार प्रणाम करौं अब हरहु सोक-समुदाई॥
> घर के सजन हमारे जेते सबनि उपाधि बढ़ाई।
> साधु-सङ्ग अस भजन करत मोहि देत कलेस महाई॥
> बालपने ते मीरा कीन्ही गिरिधरलाल मिताई।
> सो तौ अब छूटत नहिं क्यों हू लगी लगन बरियाई॥
> मेरे मातु पिताके सम हो हरि भक्तन सुखदायी।
> हमको कहा उचित करिबो है सो लिखिये समुझाई॥'

इस पत्रके उत्तरमें गोस्वामीजीने मीराके पास 'जाके प्रिय न राम बैदेही' यह पद लिखकर भेजा था। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्लने, तुलसी ग्रन्थावलीके तीसरे खण्डमें लिखा है कि 'उपर्युक्त कथा बिलकुल निर्मूल मनगढ़न्त समझ पड़ती है। मीराबाईका गोलोक प्रयाण संवत् १६०३ में हो चुका था। उस समय गुसाईंजी अधिकसे अधिक १३ वर्षके रहे होंगे।' यही बात ठीक भी जान पड़ती है।

[१७५]

जौ पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं॥१॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सब ही के।
मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के॥२॥
सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥३॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि, सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥४॥

शब्दार्थ—सलोने = लावण्यमय। सालन = कढ़ी। अलोने = बिना नमकका।

भावार्थ—यदि रामजीसे लगन नहीं है, तो वह मनुष्य इस संसारमें गधे,

कुत्ते और सूअरके समान व्यर्थ जीता है ॥१॥ यों तो काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख और प्यास सबमें है, किन्तु जिस कारणसे देवता और साधु लोग मानव-शरीरकी सराहना करते हैं वह केवल जानकीनाथके स्नेहके कारण ॥२॥ कोई कितना ही वीर, चतुर, सुपुत्र, सुन्दर लक्षणोंवाला तथा गुण और गम्भीरता-में गणना करने योग्य क्यों न हो, भगवद्भजनके बिना वह इन्दारुन (इन्द्रायण) फलके समान है, जो अपना कड़वापन नहीं छोड़ता ॥३॥ कीर्ति, कुल, करतूत (कर्तव्य) और अच्छी विभूति हो, शील हो, सलोना स्वरूप हो, किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि यदि प्रभुजीमें अनुराग नहीं है तो यह ठीक वैसे ही है जैसे अलोना (बिना नमकके) साग और कढ़ी ॥४॥

विशेष

१—'तौ नर······माहीं'—गुसाईंजीने ऐसी ही फटकार कवितावलीमें भी सुनायी है:—

तिन तें खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहै कछु वै ।
तुलसी जेहि रामसों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ विषानन द्वै ॥
जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै ।
जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ रहै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै ॥

२—'इन्दारुन'—का फल देखनेमें बड़ा सुन्दर, पर कड़वा होता है ।

३—वियोगी हरिजीने 'सालन साग' का अर्थ 'साग भाजी' किया है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। 'सालन' कहते हैं 'कढ़ी' को । इलाहाबादके पश्चिमी भागमें 'सालन' 'दाल' को भी कहते हैं ।

[१७६]

राख्यो राम सुस्वामी सों नीच नेह न नातो ।
एते अनादर हूँ तोहि ते न हातो ॥१॥
जोरे नये नाते नेह फोकट फीके ।
देह के दाहक, गाहक जीके ॥२॥
अपने अपने को सब चाहत नीको ।
मूल दुहूँको दयालु दूलह सी को ॥३॥

जीवको जीवन प्रान को प्यारो।
सुखहू को सुख राम सो बिसारो ॥४॥
कियो करैगो तोसे खल को भलो।
ऐसे सुसाहब सों तू कुचाल क्यों चलो ॥५॥
तुलसी तेरी भलाई अजहू बूझै।
राढ़उ राउत होत फिरिकै जूझै ॥६॥

शब्दार्थ—हातो = पृथक् हुआ। फोकट = मुफ्तमें, व्यर्थ ही। सी = जानकीजी। राढ़उ = कायर भी। राउत = वीर। जूझै = लड़ता है।

भावार्थ—रे नीच ! तूने राम-सरीखे अच्छे स्वामीसे न तो स्नेह ही किया और न कोई नाता ही रखा। यद्यपि तूने उनका इतना निरादर किया, फिर भी उन्होंने तुझे नहीं छोड़ा ॥१॥ तूने मुफ्तमें नये-नये फीके नाते और स्नेह जोड़ लिये जो कि शरीरको जलानेवाले और जानके ग्राहक (मारनेवाले) हैं ॥२॥ अपना और अपने प्रियजनोंका भला सब लोग चाहते हैं, पर दोनोंके मूल कारण (कल्याण करनेवाले) दयालु जानकीनाथ ही हैं ॥३॥ तूने राम-सरीखे जीवोंके जीवन, प्राणोंके प्यारे और सुखोंके सुखको भुला दिया ॥४॥ उन्होंने तुझ-सरीखे खलका भला किया है और भविष्यमें भी करेंगे। ऐसे अच्छे स्वामीसे तूने कुचाल क्यों चली या उनके साथ बुरा बर्ताव क्यों किया ? ॥५॥ हे तुलसी ! तेरे समझ जानेपर या चेत जानेपर अब भी तेरी भलाई हो सकती है। क्योंकि लड़ाईसे भागा हुआ कायर पुरुष भी जब वापस आकर लड़ता है, तो शूरवीर हो जाता है ॥६॥

[१७७]

जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों।
परिहरि पाँय काहि अनुरागों ॥१॥
सुखद सुप्रभु तुम सो जग माहीं।
स्रवन-नयन मन-गोचर नाहीं ॥२॥
हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम मायापति, हौं बस माया ॥३॥

हौं तो कुजाचक, स्वामि सुदाता।
हौं कुपूत, तुम हितु पितु-माता ॥४॥
जो पै कहुँ कोउ बूझत बातो।
तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो ॥५॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। अनुरागों = प्रेम करूँ। कुजाचक = निकृष्ट, भिखमंगा।

भावार्थ—हे रामजी! यदि आप मुझे त्याग भी दें, तो भी मैं आपको नहीं छोड़ सकता। (आप ही बतायें कि) मैं आपके चरणोंको छोड़कर और किससे प्रेम करूँ? ॥१॥ संसारमें आपके समान सुख देनेवाले अच्छे स्वामी कान, आँख, मन, इन्द्रियोंके विषय नहीं हुए। अर्थात् आप सरीखा स्वामी मैंने न तो कानोंसे सुना है, न आँखोंसे देखा है, और न मनमें ही निश्चय होता है कि ऐसा कोई दूसरा स्वामी है ॥२॥ मैं मूर्ख जीव हूँ और आप ईश्वर हैं। आप मायापति हैं, और मैं मायाके अधीन हूँ ॥३॥ मैं निकृष्ट याचक (मंगन) हूँ, और आप स्वामी हैं, अच्छे दाता हैं। मैं, आपका कुपूत हूँ और आप हित करनेवाले मेरे माता-पिता हैं ॥४॥ यदि कहीं कोई मेरी बात पूछता, तो मैं अर्थात् यह तुलसी दास बिना मोल उसके हाथ बिक जाता। तात्पर्य यह है कि यदि कोई मेरा ग्राहक होता, तो मैं आपको कष्ट न देता—उसीका हो जाता ॥५॥

[१७८]

भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी।
आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी ॥१॥
जीवनको दानी घन कहा ताहि चाहिये।
प्रेम-नेमके निबाहे चातक सराहिये ॥२॥
मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य पीन को।
जल बिनु थल कहा मीचु बिनु मीन को ॥३॥
बड़े ही की ओट बलि बाँचि आये छोटे हैं।
चलत खरे के सङ्ग जहाँ-तहाँ खोटे हैं ॥४॥
यहि दरबार भलो दाहिनेहु-बाम को।
मोको सुभदायक भरोसो राम-नाम को ॥५॥

कहत नसानी ह्वै हैं हिये नाथ नीकी है।
जानत कृपानिधान तुलसीके जीकी है ॥६॥

शब्दार्थ—बावरी = पागलोंकी तरह। घन = मेघ। जीवन = पानी। मीन = मछली। पीन = पुष्ट। मीच = मृत्यु। दाहिना = अनुकूल।

भावार्थ—हे रामजी ! आपके उदासीन हो जानेपर भी मुझे तो केवल आप हीकी आशा है। दुःखी और स्वार्थी मनुष्य सारी बातें पागलोंकी तरह कहता है ॥१॥ जो मेघ (पपीहेका) जीवनदाता है, उस पपीहेको किस बातकी चाहना है ? किन्तु प्रेमका नेम निबाहनेके कारण चातककी सराहना होती है। भाव यह कि मेघ बिना किसी स्वार्थके पपीहेको स्वातिका जल देकर जीवनदान देता है, फिर भी उसकी तारीफ नहीं होती, किन्तु अपूर्व प्रेम देखकर प्रशंसा होती है पपीहेकी ॥२॥ पवित्र और पुष्टिकारक जलको मछलीसे लेशमात्र भी लाभ नहीं है; किन्तु क्या मछलीके लिए जलको छोड़कर कोई ऐसा स्थल है जहाँ वह मौतसे बच सके ? तात्पर्य यह कि परमात्माका इस जीवसे कोई लाभ नहीं है, पर यह जीव परमात्माको छोड़कर कहीं रक्षा नहीं पा सकता ॥३॥ मैं आपकी बलैया लेता हूँ। छोटे लोग हमेशा बड़ोंकी ही ओटमें रक्षा पाते आये हैं। जहाँ-तहाँ खरेके साथ खोटे भी चल जाते हैं (जैसे खरे रुपयोंके साथ खोटे रुपये) ॥४॥ इस दरबारमें अनुकूल और प्रतिकूल सबका भला होता आया है। इसीसे मुझे तो शुभ दायक केवल राम-नामका भरोसा है ॥५॥ हे नाथ ! कहनेमें खराबी होगी (कहते न बनेगा), उसे हृदयमें ही रखना अच्छा है। क्योंकि हे कृपानिधान ! आप तो तुलसीके दिलकी बातको जानते ही हैं (अतः कहनेकी कोई जरूरत नहीं) ॥६॥

राग बिलावल

[१७९]

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, कौन सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अङ्गहीन की ॥१॥

जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं ॥२॥
गजराज-काज खगराज तजि धायो को।
मोसे दोस-कोस पोसे, तोसे माय-जायो को ॥३॥
मोसे क्रूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया गीध-स्राध के ॥४॥
तुलसी को तेरे ही बनाये, बलि, बनैगी।
प्रभुकी बिलंब-अंब दोष-दुख जनैगी ॥५॥

शब्दार्थ—अंगहीन=असहाय। घनेरे=बहुतसे। खगराज=गरुड़। जायो=पैदा किया है।

भावार्थ—कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, दीनकी कौन सुनता है? तीनों लोकमें सब असहायोंकी गति एकमात्र आप ही हैं। ॥१॥ यों तो संसारमें घर-घरमें बहुतसे जगदीश हैं, पर निराधारके लिए आपके गुणोंका ही आधार है ॥२॥ गजेन्द्रकी रक्षाके लिए गरुड़को छोड़कर (पैदल) कौन दौड़ा था? मेरे जैसे महा अपराधीका पोषण करनेवाला आप सरीखा पुत्र और किस माताने पैदा किया है? ॥३॥ मेरे जैसे क्रूर, कायर, कुपूत और आधी कौड़ीके मूल्यवालोंको आपने बहुमूल्य कर दिया। आप गीध जटायुका श्राद्ध करनेवाले हैं ॥४॥ बलिहारी! आपहीके बनाये तुलसीकी बन सकेगी। हे प्रभो! आपकी विलम्बरूपी माता दोष और दुःख पैदा करेगी। तात्पर्य यह है कि यदि आप मुझपर कृपा करनेमें देर करेंगे, तो वह देर ही मेरे लिए दोष और दुःख उत्पन्न करनेवाली जननी हो जायगी ॥५॥

विशेष

१—'गजराज···धायोको'—गजेन्द्रकी रक्षाके लिए भगवान् पैदल ही दौड़े थे। ८३ वें पदके विशेषमें देखिये।

२—'गीध-स्राधके'—२१५ वें पदके विशेषमें देखिये।

[१८०]

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो।
राय दसरथके तू उथपन-थापनो ॥१॥

साहिब सरनपाल सबल न दूसरो ।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ॥२॥
वचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं ।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं ॥३॥
कौन कियो समाधान सनमान सीला को ।
भृगुनाथ सो रिषी जितैया कौन लीला को ॥४॥
मातु-पितु-बन्धु-हित, लोक-बेदपाल को ।
बोल को अचल, नत करत निहाल को ॥५॥
संग्रही सनेहबस अधम असाधु को ।
गीध सबरी को कहौ करि है सराधु को ॥६॥
निराधार को अधार, दीन को दयालु को ।
मीत कपि-केवट-रजनिचर-भालु को ॥७॥
रंक निरगुनी, नीच जितने निवाजे हैं ।
महाराज ! सुजन-समाज ते बिराजे हैं ॥८॥
साँची बिरुदावली न बढ़ि कहि गई है ।
सीलसिंधु ! ढील तुलसी की बेर भई है ॥९॥

शब्दार्थ—बारक = एक बार । उथपन = उखड़े हुए । थापनो = जमानेवाले । सीला = शिला, अहल्या । निवाजे = कृपा की ।

भावार्थ—बलिहारी ! एक बार मेरी ओर देखकर मुझे अपना बना लीजिये । हे महाराज दशरथके लाल ! आप उखड़े हुएको जमानेवाले हैं ॥१॥ शरणागतों-को पालनेवाला सबल स्वामी (आपके अतिरिक्त) दूसरा कोई नहीं है । आपका नाम लेते ही ऊसर भी ऊपजाऊ खेत हो जाता है; अर्थात् आपके नामके प्रभाव-से मूढ़ हृदयमें भी भक्तिका उद्रेक उमड़ने लगता है ॥२॥ आपके वचन और कर्म मेरे मनमें गड़ गये हैं । संसारमें जितने बड़े-बड़े लोग हैं, सबको मैंने देखा, सुना और समझा है ॥३॥ शिला (अहल्या) को सम्मानपूर्वक शान्ति किसने दी ? परशुराम जैसे ऋषिको सहजहीमें जीतनेवाला कौन है ? ॥४॥ माता, पिता और भाईके लिए लोक तथा वेदोंकी मर्यादा पालनेवाला कौन है ? अपने शब्दोंपर दृढ़ रहनेवाला कौन है ? प्रणाम करनेवालेको निहाल करनेवाला

कौन है ? ॥५॥ स्नेहवश पापियों और असाधुओंका संग्रह करनेवाला कौन है ? कहिये तो सही, गीध और शबरीका श्राद्ध कौन करेगा ? ॥ निरवलम्बका अवलम्ब और दीनोंपर दया करनेवाला कौन है ? (यह सब करनेवाले) बन्दर, केवट, निशाचर और रीछके मित्र (श्रीरामजी) हैं—(दूसरा कोई नहीं) ॥७॥ हे महाराज ! आपने जितने कंगाल, मूर्ख और नीचोंपर कृपा की है, वे सब सन्त-समाजमें जा बैठे हैं ॥८॥ यह सब आपकी सच्ची बिरदावली है, जरा भी बढ़ाकर नहीं कही गयी है । किन्तु हे शीलके समुद्र ! (यह जरूर कहूँगा कि) तुलसीकी बेर (आपकी ओरसे) ढिलाई हुई है ॥९॥

विशेष

१—'सीला'—अहल्या; ४३ वें पदके विशेषमें देखिये ।

२—'गीध'—८३ वें पदके विशेषमें देखिये ।

३—'सबरी'—१०६ वें पदके विशेषमें देखिये ।

[१८१]

केहू भाँति कृपासिन्धु मेरी ओर हेरिये ।
मोको और ठौर न, सुटेक एक तेरिये ॥१॥
सहस सिलातें अति जड़ मति भई है ।
कासों कहौं, कौने गति पाहनहिं दई है ॥२॥
पद-राग-जाग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं ।
कलि-मल खल देखि भारी भीति भियो हौं ॥३॥
करम-कपीस बालि-बली-त्रास-त्रस्यो हौं ।
चाहत अनाथ-नाथ ! तेरी बाँह बस्यो हौं ॥४॥
महा मोह-रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं ।
त्राहि, तुलसीस ! त्राहि, तिहूँ ताप तयो हौं ॥५॥

शब्दार्थ—हेरिये=देखिये । सुटेक=सहारा । कौसिक=विश्वामित्र । भियो हौं=डर गया हूँ । हयो=हुआ ।

भावार्थ—हे कृपासिन्धु ! आप किसी प्रकार मेरी ओर देखिये । मुझे दूसरा कोई ठौर नहीं है, एक आपहीका सहारा है ॥१॥ मेरी बुद्धि हजारों पत्थरके

समान (पत्थरसे हजार गुना अधिक) जड़ हो गयी है। किससे कहूँ कि आपने किस प्रकारकी गति पत्थरको (अहल्याको) दी है ॥२॥ विश्वामित्रकी तरह मैं भी आपके चरणोंमें प्रेमरूपी यज्ञ करना चाहता हूँ। किन्तु कलिके पापरूपी दुष्टोंको देखकर मेरे हृदयमें गहरा भय पैदा हो गया है ॥३॥ मैं कर्मरूपी बन्दरोंके बली राजा बलिके त्राससे त्रस्त हूँ। अतः हे अनाथोंके नाथ! मैं आपकी भुजाओंके सहारे (सुग्रीवकी भाँति) बसना चाहता हूँ ॥४॥ महा मोहरूपी रावण है और विभीषणकी तरह मैं हुआ हूँ। हे तुलसीके स्वामी! त्राहि, त्राहि! मैं तीनों तापोंसे तप गया हूँ (मेरी रक्षा कीजिये) ॥५॥

विशेष

१—'पाहनहिं'—अहल्याको, ४३ वें पदके विशेषमें देखिये।

[१८२]

नाथ! गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो।
राम रीझिबेको जानौं भगति न भाउ सो ॥१॥
करम, सुभाउ, काल, ठाकुर न ठाउँ सो।
सुधन न सुतन न सुमन सुआउ सो ॥२॥
जाचौं जल जाहि कहै अमिय पियाउ सो।
कासों कहौं काहू सों न बढ़त हियाउ सो ॥३॥
बाप! बलि जाउँ, आपु करिये उपाउ सो।
तेरे ही निहारे परै हारेहू सुदाउ सो ॥४॥
तेरे ही सुझाये सूझै असुझ सुझाउ सो।
तेरे ही बुझाये बूझै अबुझ बुझाउ सो ॥५॥
नाम-अवलंबु-अंबु दीन मीन-राउ सो।
प्रभुसों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो ॥६॥
सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो ॥७॥

शब्दार्थ—गाथ = समूह। सुआउ = अच्छी आयु। हियाउ = हिम्मत,साहस। बुझाये = समझाने से। अबुझ = अज्ञ। अंबु = जल। जनाउ = जना देना, बता देना।

भावार्थ—हे नाथ ! आपकी गुणावली सुनकर मेरे चित्तमें आनन्द-सा होता है; किन्तु हे रामजी ! मैं आपको रिझानेवाला भक्ति-भाव जानता ही नहीं ॥१॥ कर्म, स्वभाव, काल, स्वामी और ठौर ये सब अनुकूल नहीं हैं। तात्पर्य, न तो मेरे कर्म अच्छे हैं, न स्वभाव अच्छा है, न समय अच्छा है (कलिकाल है), न कोई मालिक अनुकूल है और न कहीं ठौर-ठिकाना है। न मजेदार धन है, न बढ़िया (नीरोग) शरीर है, न पवित्र मन है और न बड़ी आयु है ॥२॥ जिस किसीसे मैं पानी माँगूँगा, वही (उलटा) मुझसे कहेगा कि तू अमृत पिला अर्थात् यदि मैं किसी देवतासे कुछ माँगूँ भी तो वह पहले ही मुझसे भरपूर दक्षिणा माँगेगा। (इसीसे मैं सोचता हूँ कि) किससे कहूँ, किसीसे कुछ माँगनेके लिए साहस नहीं बढ़ता ॥३॥ हे परमपिता ! मैं आपकी बलि जाऊँ ! आप ही मेरे लिए उपाय कीजिये। आपके देखते ही हारनेपर भी अच्छा दाँव हाथ आ जायगा ॥४॥ आपहीके सुझानेसे सूझ सकता है। इसलिए आप इस असूझ (अन्धे) को सुझा दीजिये। आपहीके समझानेसे यह अज्ञ समझ सकता है, अतः आप इसे समझा दीजिये ॥५॥ मुझ दीन मत्स्य-राजके लिए आपके नामका सहारा जलके समान है। यदि मैं यह बात स्वामीसे बनाकर कहता होऊँ, तो मेरी जीभ जल जाय ॥६॥ मेरी सब तरहसे बिगड़ चुकी है, केवल एक बात करते बन पड़ी है कि इस तुलसीदासने आप जैसे अच्छे स्वामीको अपना हाल जना दिया है—स्वामीके कानोंमें डाल दिया है ॥७॥

विशेष

१—'जाचौं जल······सो'—इसका आशय यह भी हो सकता है कि यदि मैं प्यासा होनेपर किसीसे पानी माँगता हूँ तो वह मुझे सिद्ध समझकर मुझसे धन, सन्तान आदि माँगता है। इससे मेरे लिए जीवन निर्वाह करना भी कठिन हो गया है।

राग आसावरी

[१८३]

राम ! प्रीतिकी रीति आप नीके जनियत है।
बड़ेकी बड़ाई, छोटेकी छोटाई दूरि करै,
ऐसी बिरुदावली, बलि, बेद मनियत है ॥१॥

गीधको कियो सराध, भीलनी को खायो फल,
सोऊ साधु-सभा भली भाँति भनियत है।
रावरे आदरे लोक वेद हूँ आदरियत,
जोग ग्यान हूँ ते गरू गनियत है ॥२॥
प्रभुकी कृपा कृपालु ! कठिन कलि हूँ काल,
महिमा समुझि उर अनियत है।
तुलसी पराये बस भये रस अनरस,
दीनबन्धु ! द्वारे हठ ठनियत है ॥३॥

शब्दार्थ—नीके = अच्छी तरह । भनियत है = कही जाती है । गरू = भारी ।

भावार्थ—हे रामजी ! आप प्रीतिकी रीति अच्छी तरह जानते हैं। बलिहारी ! वेद आपकी विरुदावलीको इस प्रकार मानते हैं कि आप बड़ेका बड़प्पन और छोटेका छोटापन दूर कर देते हैं। अर्थात् आप बड़ोंके अभिमानको कुचलकर उसे धूलमें मिला देते हैं और दीन भक्तोंको अपनी कृपादृष्टि फेरकर श्रेष्ठ बना देते हैं ॥१॥ आपने गीधका श्राद्ध किया और शबरीके फल खाये, यह बात भी साधु-सभामें अच्छी तरह बखानी जाती है। जिसका आप आदर करते हैं, वह लोक और वेद दोनोंमें आदरणीय हो जाता है। आपका आदर करना, योग और ज्ञानसे भी अधिक वजनदार समझा जाता है ॥२॥ हे प्रभो ! आपकी कृपा बड़ी कृपालु है। उसकी महिमा समझकर इस कठिन कलिकालमें भी उसे अपने हृदयमें लाता हूँ। यदि तुलसी दूसरोंके वशमें हो जायगा तो सब रस फीका पड़ जायगा—रंगमें भङ्ग पड़ जायगी। इसीसे हे दीनबन्धु ! वह (और किसीके अधीन न होकर) आपहीके द्वारपर हठ ठाने पड़ा है ॥३॥

विशेष

१—'गीध'—८३ वें पदके विशेषमें देखिये।

२—'भीलनी'—शबरी; १०६ वें पदके विशेषमें देखिये।

३—'तुलसी······ठनियत है'—इसका यह अर्थ भी हो सकता है—"यद्यपि तुलसी दूसरोंके (विषयों या इन्द्रियोंके) वशमें होनेके कारण आपके

प्रेमसे विमुख हो रहा है, तथापि हे दीनबन्धु ! वह आपके द्वारपर सत्याग्रह किये बैठा है ।

[१८४]

राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि ।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिवेको चित्रके तरनि ॥१॥
करम-कलाप परिताप पाप-साने सब;
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि ।
दंभ, लोभ, लालच, उपासना बिनासि नीके
सुगति साधन भई उदर भरनि ॥२॥
जोग न समाधि निरुपाधि न विराग-ग्यान,
वचन विसेष बेष, कहूँ न करनि ।
कपट कुपथ कोटि, कहनि-रहनि खोटि,
सकल सराहैं निज निज आचरनि ॥३॥
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत,
सुरसरि-तीर कासी धरम-धरनि ।
राम-नाम को प्रताप हर कहैं, जपैं आपु
जुग जुग जानैं जग, बेदहूँ बरनि ॥४॥
मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,
गति राम-नाम ही की बिपति-हरनि ।
राम-नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥५॥

शब्दार्थ—अपाय=व्यर्थ; विनाश; यथा, 'सा काशी त्रिपुरारि राजनगरी पायादपायाज्जगत् ।'—इति काशीखंडम् । तरनि=सूर्य । कलाप=समूह । परिताप=दुःख । ढरनि=स्वभावानुसार ।

भावार्थ—रामका नाम जपनेसे दिलकी जलन मिट जाती है । इस कलिकालमें और जितने दूसरे उपाय हैं वे वैसे ही अपाय (व्यर्थ) हो गये हैं जैसे अन्धकार दूर करनेके लिए चित्राङ्कित सूर्य ॥१॥ कर्मोंका समूह दुःखों और

पापोंसे वैसे ही सना हुआ है जैसे किसी वृक्षमें मुफ्तमें सुन्दर फूल फूलें, पर फल न लगें। भाव यह कि यज्ञ-यागादि साधन देखने-सुननेमें तो बड़े अच्छे हैं, पर करनेमें बड़े कठिन हैं, बीचमें ही कोई विघ्न पड़ जाता है, परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। दम्भ, लोभ और लालचने उपासनाका भली भाँति नाश कर डाला है, मोक्षका साधन (ज्ञान) पेट भरनेका उपाय हो गया है। (इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनोंकी दुर्गति हो रही है) ॥२॥ न तो योग ही करते बनता है और न समाधि ही उपाधि-रहित है; ज्ञान-वैराग्य भी लम्बी-चौड़ी बातें करने तथा बेष बनानेके लिए रह गये हैं। करनी कहीं भी नहीं है। कपट-पूर्ण करोड़ों मार्ग हैं, कहनि और रहनि (कहना और रहन-सहन) खोटी हो गयी है: सब लोग अपने-अपने आचरण की सराहना करते हैं ॥३॥ शिवजी गंगाजी-के किनारे काशीकी धर्म-भूमिपर किसीके मरते समय उसे क्या उपदेश करते हैं?-उस समय शिवजी राम-नामका प्रताप कहते हैं; स्वयं भी उसे जपते हैं। युग-युग से संसार इसे जानता आ रहा है और वेद भी यही कहते हैं ॥४॥ केवल राम-नाममें ही बुद्धि लगाना; राम-नामसे ही प्रेम करना और राम-नामसे ही गति मानना विपत्तिको हरनेवाला साधन है। तुलसीदास कहते हैं कि राम-नाममें विश्वास और प्रेम रखनेसे कभी-न-कभी श्रीरामजी अपने स्वभावानुसार अवश्य ही पिघलेंगे ॥५॥

विशेष

१—'उपाय ते अपाय'—इसपर हितोपदेशकी एक कथा लिखी जा रही है। एक पेड़पर बहुतसे बगुले रहते थे। उनके बच्चे भी बहुतसे थे। उसी वृक्षके कोटरमें एक सर्प भी रहता था। वह प्रतिदिन दो-चार बच्चोंको खाया करता था। अन्तमें एक दिन जब यह भेद मालूम हुआ तो बगुलोंको एक यत्न सूझा। सर्पके कोटरसे लेकर एक नेवलेकी बिलतक मछलियाँ बिछा दी गयीं। नेवला बिलसे बाहर निकला और मछलियोंको खाता हुआ सर्पके कोटरतक पहुँच गया। फिर क्या था, नेवले और साँपमें लड़ाई हुई। नेवला उस सर्पको मार-कर पेड़पर चढ़ गया और बगुलों के बच्चोंको खाने लगा, बहुतोंको तोड़-ताड़कर मारने लगा। साँप तो दो-चार बच्चोंको खाकर सन्तोष करता था, पर नेवला

क्षणभरमें बहुतोंको सफाया कर गया।—इसी प्रकार उपाय करते अपाय हुआ करता है। कलिमें राम-नामके सिवा अन्यान्य उपाय ऐसे ही हैं।

२—'मरत''''''धरनि'—काशीकी महिमाके सम्बन्धमें निम्नलिखित व्याज-स्तुति देखियेः—

एक दिएँ जहँ कोटिक होत हैं सो कुरु खेत मैं जाइ अन्हाइय।
तीरथ राज प्रयाग बड़े मन-वांछितके फल पाइ अघाइय॥
श्री मथुरा बसि 'केसवदासजू' द्वै भुज तें भुज चार ह्वै जाइय।
कासी पुरीकी कुरीति बुरी जहँ देह दिएँ पुनि देह न पाइय॥

—केशवदास (द्वितीय)

[१८५]

लाज न लागत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत॥१॥
सकल सङ्ग तजि भजत जाहि मुनि, जप तप जाग बनावत।
मो-सम मन्द महाखल पाँवर, कौन जतन तेहि पावत॥२॥
हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कङ्क बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥३॥
जाकी सरन जाइ कोबिद दारुन त्रयताप बुझावत।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत॥४॥
भव-सरिता कहँ नाउ सन्त, यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसों हरि! परम बैर करि, तुम सों भलो मनावत॥५॥
नाहिंन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि! तुलसिदास गुन गावत॥६॥

शब्दार्थ—भावत=अच्छा लगता है। कङ्क=गीध। बक=बगुला। मराल=हंस। कोविद=पण्डित, ज्ञानी। सावत=ईर्ष्या, सौतियाडाह। ठौर=जगह। लावत=जोड़ता हूँ। चूड़ामनि=शिरोमणि।

भावार्थ—हे हरे! आपको जो आचरण भाता है, उसे निश्चिन्ततापूर्वक भुलाकर आपका दास कहलानेमें मुझे लज्जा भी नहीं मालूम होती॥१॥ जिसे निःसंग (आसक्ति-रहित) होकर मुनि लोग भजते हैं, जप, तप, यज्ञ-यागादि

करते हैं, उसे भला मुझ-सरीखा, मन्द, नीच और महाखल किस प्रकार पा सकता है ? ॥२॥ हरिजी निर्मल हैं, और मेरा हृदय मलसे जकड़ा हुआ है। अतः (मेरा मल-ग्रसित हृदय) मुझे यह सूचित कर रहा है कि जिस (गन्दे) तालावमें कौए, गीध बगुले और सूअर रहते हैं वहाँ हंस क्यों आने लगा ? (यहाँ तुलसीदासजीने अपने हृदयको गन्दा तालाब बनाया है, काम, क्रोधादिको कौआ, गीध आदि बनाया है और रामजीको हंस बनाया है।) ॥३॥ जिसकी शरणमें जाकर ज्ञानी लोग अपने दारुण त्रितापोंको बुझाते हैं, वहाँ जानेपर भी मुझे मद, मोह और लोभ सतावेंगे, स्वर्गमें भी ईर्ष्या नहीं छूटती ॥४॥ संसाररूपी नदीके पार जानेके लिए सन्तजन नौकारूप हैं, यह कहकर मैं दूसरोंको समझाया करता हूँ; किन्तु हे नाथ! मैं स्वयं उनसे (सन्तोंसे) गहरी शत्रुता करके आपसे कल्याणकी कामना करता या मनाता हूँ ॥५॥ मेरे लिए और कहीं ठौर नहीं है, इसीसे मैं जबर्दस्ती आपसे नाता जोड़ रहा हूँ। हे उदार-चूड़ामणि श्रीरामजी! तुलसीदास आपके गुण गा रहा है,— उसे अपनी शरणमें रख लीजिये ॥६॥

[१८६]

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥१॥
जेहि साधन हरि ! द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये।
जाते बिपति-जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥२॥
जानत हूँ मन बचन करम पर-हित कीन्हें तरिये।
सो बिपरीत देखि पर-सुख, बिनु कारन ही जरिये ॥३॥
स्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह ईर्षा बस तिनहिं न आदरिये ॥४॥
संतत सोइ प्रिय मोहिं सदा जातें भवनिधि परिये।
कहौ अव नाथ, कौन बलतें संसार-सोग हरिये ॥५॥
जब कब निज करुना-सुभाव तें द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि-पचि मरिये ॥६॥

शब्दार्थ—अनुसरिये = चलता हूँ। संतत = सदैव। सोग = शोक। निस्तरिये = निस्तार, उद्धार। आन = दूसरा।

भावार्थ—किस प्रकार विनती करूँ नाथ! अपने आचरणपर विचार करते ही, यह जानकर हृदयमें हार मानकर डर जाता हूँ ॥१॥ कि हे हरे! जिस साधनसे आप अपना भक्त जानकर द्रवित होते हैं, उसे मैं हठपूर्वक छोड़ रहा हूँ, और जिसमें विपत्तियोंका जाल है, रात-दिन दुःख है, उसी मार्गका अनुसरण करता हूँ ॥२॥ जानता हूँ कि मन, वचन और कर्मसे दूसरोंकी भलाई करनेसे तर जाऊँगा; फिर भी मैं उसके विपरीत आचरण करता हूँ और दूसरोंका सुख देखकर अकारण ही जलता हूँ ॥३॥ वेदों और पुराणोंका यह मत है कि सत्संगको दृढ़ताके साथ पकड़ना चाहिये; किन्तु मैं अपने अभिमान, मोह और ईर्ष्याके कारण उनका आदर नहीं करता ॥४॥ सदैव मुझे वही प्रिय है, जिससे सदा भव-सागरमें पड़ा रहूँ। अतः हे नाथ! अब आप ही कहिये कि मैं किस बलसे संसारका शोक दूर करूँ? ॥५॥ जबै कभी आप अपने कारुणिक स्वभावसे मुझपर पिघलेंगे, तभी मेरा निस्तार होगा। तुलसीदासको दूसरेका विश्वास नहीं है, इसलिए वह क्यों (दूसरा उपाय करनेमें) पच-पचकर मरे? ॥६॥

[१८७]

ताहिते आयों सरन सबेरे।
ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ! न मेरे।
लोभ-मोह-मद-काम-क्रोध रिपु फिरत रैन-दिन घेरे।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ-रत, फिरै तिहारेहि फेरे ॥२॥
दोष निलय यह बिषय सोक-प्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सों, हरि तुम्हरेहिं प्रेरे ॥३॥
बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु बिनु बेरे।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरे ॥४॥
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे।
तुलसिदास यह बिपति बाँगुरो तुम्हहिं सों बनै निबेरे ॥५॥

शब्दार्थ—रैन = रात। निलय = घर। टेरे = पुकारकर। पियूष = अमृत। बेरे = बेड़ा। बाँगुरो = जाल। निवेरे = काटनेसे।

भावार्थ—इसीसे मैं जल्द आपकी शरणमें आया हूँ। हे नाथ! मुझमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधन स्वप्नमें भी नहीं है ॥१॥ लोभ, मोह, मद, काम और क्रोधरूपी शत्रु मुझे रात-दिन घेरे रहते हैं। इनके साथ मिला रहनेके कारण मेरा मन कुमार्गमें रत रहता है, और वह (मन) आपहीके फेरनेसे फिर सकता है ॥२॥ सन्तजन और वेद पुकारकर कह रहे हैं कि विषय, दोषोंके घर और शोकप्रद हैं। किन्तु हे हरे! यह जानते हुए भी मेरा जो उनमें (विषयोंमें) अत्यन्त अनुराग है, वह आपहीकी प्रेरणासे ॥३॥ आप विषको अमृत और अग्निको बर्फके समान कर सकते हैं, और बिना बेड़ाके ही पार कर सकते हैं। अपने परम हितके लिए आपके समान समर्थ और कृपालु (स्वामी) मैं फिर कभी ढूँढ़नेसे भी न पाऊँगा ॥४॥ हे रघुनाथजी! अपने हृदयमें यही समझकर मैं सब छोड़-छाड़कर आपके भरोसे पड़ा हूँ। क्योंकि तुलसीदासका यह विपत्ति-जाल आपहीके काटे कटेगा ॥५॥

विशेष

१—'तारि सकहु बिनु बेरे'—का यह भी अर्थ हो सकता है कि 'आप बिना देर किये' (अविलम्ब) जिसे चाहें 'तार सकते हैं'।

[१८८]

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल, प्रगट कपट-आगार ॥१॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किये बिचार।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार ॥२॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार ॥३॥
सुनु खल! छल-बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नन्द-कुमार ॥४॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु-अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ॥५॥

निज हित सुनु सठ ! हठ न करहि, जो चहहि कुसल परिवार ।
तुलसिदास प्रभुके दासनि तजि भजहि जहाँ मद मार ॥६॥

शब्दार्थ—कमनीय = सुन्दर । कदली-तरु = केलेका पेड़ । सार = गूदा । सहाय = सेना । मार = कामदेव ।

भावार्थ—ऐ संसार ! मैंने तुझे अब जाना है । प्रकट हो गया कि तू कपट-का घर है । किन्तु अब तू मुझे बाँध नहीं सकता; क्योंकि अब मुझे भगवान्‌के बलका सहारा मिल गया है ॥१॥ तू देखनेमें ही कमनीय है, पर विचार करनेसे ज्ञात हुआ कि तू कुछ भी नहीं है (मिथ्या है); जैसे केलेके पेड़के भीतर देखनेसे कभी गूदा नहीं निकलता (वही हाल इस असार-संसारका है) ॥२॥ तेरे लिए मैं अनेक जन्मोंतक फिरता रहा, पर तेरा पार न पाया; तूने मुझे महामोहरूपी मृगजलकी नदीमें बारम्बार डुबाया ॥३॥ रे खल ! सुन, करोड़ों छल-बल करने-से भी ईश्वरके उदार भक्त तेरे वशमें नहीं हो सकते । जिस हृदयमें नन्दलाल भगवान् श्रीकृष्णका वास न हो, उस हृदयमें तू अपने दल-बलके सहित बस॥४॥ जो तेरा मर्म न जानता हो उसीसे चालाकी कर । वही मनुष्य पड़ी हुई रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति करके डरकर मर सकता है, जो असली रहस्यको नहीं जानता ॥५॥ रे शठ ! यदि तू अपने परिवारकी कुशल चाहता है, तो हठ न करके अपने हितकी बात सुन । तुलसीदासके स्वामी श्रीरामजीके भक्तोंको छोड़कर (तू) उन्हें भज जहाँ काम और मद आदि हों ॥६॥

विशेष

१—'ज्यों कदली······सार'—केलेके खम्भेका छिलका उतारते जाइये और देखते जाइये, छिलका उतारते-उतारते ही तना खतम हो जायगा, पर उसके भीतर गूदेका दर्शन न मिलेगा; ठीक वही हाल इस संसारका है । यह इतना कमनीय होनेपर भी निःसार है ।

राग गौरी

[१८९]

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे ।
नाहिं तौ भव-बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे ॥१॥

बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे ॥२॥
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद-बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥३॥
काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे ॥४॥
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥५॥

शब्दार्थ—पुरान = पुराना। अठकठ = आठकाठ, लकड़ीके टुकड़े, बेढंगा। सरल = सड़ा हुआ। खटोला = छोटी खाट। मंद = नीचा। बिलंद = ऊँचा। अभेरा = दरार। कुराय = कंकड़। बझाऊ = अटकाव। लगाऊ = लगाव। संबल = कलेवा।

भावार्थ—हे भाई! राम-राम कहता चल, नहीं तो संसाररूपी बेगारमें (जन्म-मरण के चक्रमें) पड़ जायगा, जहाँसे छूटना बड़ा ही कठिन है किन्तु यदि तू राम-राम जपता चलेगा तो यमराजके दूतों द्वारा बेगारमें नहीं पकड़ा जा सकेगा ॥१॥ कुटिल और मन्द कर्मचन्दने (हमारे पूर्व जन्मार्जित पापोंके प्रारब्धने) बिना दामके हमें डोला दे दिया है; जिसका सब साज बेढंगा है, बाँस पुराना है और तीन कोनका सड़ा हुआ खटोला है ॥२॥ इस डोलेमें कामके मदसे या काम रूपी शराबसे मतवाले ऊँचे नीचे कदके कहार लगे हुए हैं जोकि पैर बटोरकर (कायदेसे पैर रखकर) नहीं चलते। ऊँची-नीची जमीन है, दरारें फटी हुई हैं, (दलदलकी) दलकन भी है; इन सबके झकोरेसे भारी दुःख मिलता है ॥३॥ मार्गमें काँटे और कंकड़ बिछे हैं, जगह-जगह पैरोंको लपेटनेवाली फैली हुई लताओंका अटकाव है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों अपने (लक्ष्य स्थानसे) दूर होते जाते हैं; रास्ते में न तो बस्ती है, न किसीसे भेंट होती है, और न अन्य ही कोई लगाव है ॥४॥ अगम मार्ग है, साथमें कलेवा भी नहीं है, गाँवका नाम भी भूल गया हूँ। हे रामजी! अब आप अनुकूल हूजिये और मेरा संसार-भय हर लीजिये ॥५॥

विशेष

यहाँ तीन कोनका खटोला बनाया गया है सत्व, रज, तम-मिश्रित शरीरको।

शरीर नाशवान् है, इसलिए सरल (सड़ा हुआ) कहा है। शरीरकी रचना पंचीकृत पंचमहाभूत—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश—से हुई है; अतः पंचभूत ही इस शरीररूपी डोलीके साज हैं। अविद्या ही बाँस हैं। प्रारब्ध ही इस खटोलेका बनानेवाला बढ़ई है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ही विषम कहार हैं और कामनारूपी शराब है। शराबीके पैर लड़खड़ाते हैं, यहाँ इन्द्रियरूपी मतवाले कहारोंके पैर भी ठिकानेसे नहीं पड़ रहे हैं। इस डोलीमें जीव बैठा है और उसे ईश्वररूपी नगरमें जाना है। मनका संकल्प-विकल्प ही ऊँची-नीची जमीन है, और पाँचों विषय ही दरारें और दलदल हैं। मनोरथ ही झकझोरा है। कर्म-मार्ग बड़ा दुर्गम है। उसमें स्थल-स्थलपर बझाव है—उलझन है। यह शरीररूपी डोली ज्यों-ज्यों कर्म-मार्गपर जाती है, त्यों-त्यों हम अपने लक्ष्यस्थानसे दूर हटते जाते हैं। अगम मार्ग है, डोली सड़ी-गली है, कहार उन्मत्त हैं, सत्कर्मरूपी कलेवा भी संगमें नहीं है, जहाँ जाना है, वहाँका नाम भी भूल गया है, साधु-महात्माओंसे भेंट भी नहीं होती कि मार्ग पूछा जाय; ऐसी दशामें हम कब गिर जायँगे, पता नहीं। डोली टूटेगी, तब भी गिर जायँगे, कहार चूकेंगे या फँस जायँगे, तब भी हम गिर जायँगे, कलेवा नहीं है, अतः लक्ष्यस्थानपर पहुँचनेमें देर लगेगी या बुढ़ापा आ जायगा तब भी हमारा सर्वनाश हो जायगा। ऐसी दशामें भाई रे! राम कहता चल, राम कहता चल। क्योंकि नामके प्रतापसे यदि डोली टूट भी जायगी तो 'भवबेगारि' (यानी चौरासी लक्ष योनियों)में न फँसना पड़ेगा।

१—'करमचँद'—व्यंगोक्ति है बुरे प्रारब्धके लिए।

२—'लोटन'—शब्दका अर्थ कुछ टीकाकारोंने सर्प भी लिखा है।

३—इस यात्रापर महात्मा कबीरकी बानी भी देखियेः—

दूर गवन तेरो हंसा हो घर अगम अपार ॥
नहिं काया नहिं माया हो ना त्रिगुन पसार।
चारि बरन उहाँ नाहीं हो ना कुल बेवहार ॥
नौ सौ चौदह विद्या हो ना वेद बिचार।
जप तप संयम तीरथ हो ना नेम अचार ॥

पाँच तत्त्व न उपपति हो परले के पार ।
तीन देव ना तैंतिस हो न दसो अवतार ॥
सोरहो संखके आगे हो साम्यर्थ दरबार ।
स्वेत सिंहासन आसन हो जहँ सबद प्रकास ॥
पुरुष रूपका बरनउँ हो गति अपरम्पार ।
कोटि भानु की सोभा हो एक रोम उजार ॥
छर अच्छरसे न्यारा हो सोइ नाम हमार ।
सार सबद लेइ आये हो मृतलोक मँझार ॥
चारि गुरू मिलि थापल हो जगके कनहार ।
उनकर बहियां उबारहु हो हंसा उतरहु पार ॥
जम्ब दीप कै हंसा हो गहु सबद हमार ।
साहब कबीरा दीहल हो निरगुन टकसार ॥

२—'विषम कहार'—पर भी कबीरदासजीने कहा है:—

पाये हरिनाम गले कै हरवा ॥
साँकरी खटोलिया रहनि हमारी, दुबरे दुबरे पाँचों कहरवा ।
ताला कुंजी हमें गुरु दीन्हीं, जब चाहो तब खोलो किवरवा ॥
परम प्रीति की चुनरी हमरी, जब चाहो तब नाचो सहरवा ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बहुरि न आइब एही नगरवा ॥

[१९०]

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह ।
तातें भव-भाजन भयो, सुनु अजहूँ सिखावन एह ॥१॥
ज्यों मुख मुकुर बिलोकिये अरु चित न रहै अनुहारि ।
त्यों सेवतहुँ न आपने, ये मातु-पिता, सुत-नारि ॥२॥
दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत ।
स्वारथ हित भूतल भरे, मन मेचक, तन सेत ॥३॥
करि बीत्यो, अब करतु है, करिबे हित मीत अपार ।
कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार ॥४॥

जासों सब नातो फुरै, तासों न करी पहिचानि।
तातें कछू समुझ्यो नहीं, कहा लाभ कह हानि ॥५॥
साँचो जान्यो झूठ को, झूठे कहँ साँचो जानि।
को न गयो, को जात है, को न जैहै करि हितहानि ॥६॥
बेद कह्यो, बुध कहत हैं, अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि।
तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिय की आँखिन हेरि ॥७॥

शब्दार्थ—मुकुर = दर्पण। अनुहारि = सदृशता। खरि = खली। मेचक = श्याम। फुरै = सच्चे होते हैं। बुध = पण्डित।

भावार्थ—तूने स्वाभाविक स्नेह करनेवाले श्रीरामजीसे सहज स्नेह नहीं किया! इसीसे तू संसार-पात्र (बार-बार संसारमें जन्म लेने योग्य) हुआ है। अब भी तू मेरी यह शिक्षा सुन ॥१॥ जैसे दर्पणमें मुखका प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है और उस दर्पणके भीतर उसकी वस्तुतः आकृति नहीं रहती, वैसे ही ये माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि सेवा करते हुए भी अपने नहीं हैं ॥२॥ जैसे फूल दे-देकर तिलको बासा जाता है और उसका रस (तेल) निकालकर खली त्याग दी जाती है, वैसे ही स्वार्थके लिए हित या सम्बन्धी बननेवाले ऐसे लोग पृथिवीपर भरे पड़े हैं जिनका मन काला है और शरीर स्वच्छ ॥३॥ तू अगणित मित्र बना चुका, अब भी बना रहा है और आगे चलकर अपनी भलाईके लिए बनायेगा, किन्तु श्रीरामजीके समान स्नेह निभानेवाला मित्र कभी भी कोई नहीं मिल सकता ॥४॥ जिसके साथ सब नाते सच्चे हैं, उसके साथ तो तूने जान-पहचान ही नहीं की! इससे कहना पड़ता है कि तूने अभीतक कुछ समझा ही नहीं कि क्या लाभ है और क्या हानि ॥५॥ तूने झूठको ही सच मान रखा है; किन्तु झूठको सच माननेवाला ऐसा कौन है जो अपने हितकी हानि करके नहीं चला गया, नहीं जा रहा है और न जायगा? ॥६॥ वेदोंने कहा है, पंडित कहते हैं और मैं भी पुकारकर कहता हूँ कि तुलसीके प्रभु श्रीरामजी ही सच्चे हितू हैं। जरा तू अपने हृदयकी आँख खोलकर देख (बात सच है या नहीं) ॥७॥

विशेष

१—'जासों सब नातो फुरै'—इसपर गोस्वामीजीकी एक सवैया बहुत बढ़िया है:—

सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो ।
सोई सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहब चेरो ॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो ।
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह सों राम को होइ सबेरो ॥

२—'साँचो जान्यो झूठ को'—इसका यह भी अन्वय हो सकता है कि 'साँचोको झूठ जान्यो'। अर्थात्—जिसने सच्चेको झूठ और झूठको सच्चा मान रखा है।' किन्तु इस अन्वयमें कुछ खींचतान करनी पड़ती है।

[१९१]

एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु ।
प्रेम-कनौड़ो रामसो नहिं दूसरो दयालु ॥१॥
तन-साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान ।
आरत-अधम-अनाथ हित को रघुबीर समान ॥२॥
नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर ।
ससि सरोग, दिनकर बड़े, पयद प्रेम-पथ क्रूर ॥३॥
जाको मन जासों बँध्यो, ताको सुखदायक सोइ ।
सरल सील साहिब सदा सीतापति सरिस न कोइ ॥४॥
सुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि ।
केहि दिवान दिन दीन को आदर-अनुराग बिसेखि ॥५॥
खग-सबरी पितु-मातु ज्यों माने, कपि को किये मीत ।
केवट भेंट्यो भरत ज्यों, ऐसो को कहु पतित-पुनीत ॥६॥
देइ अभागहिं भाग को, राखै सरन सभीत ।
बेद-बिदित बिरुदावली, कबि-कोबिद गावत गीत ॥७॥
कैसेउ पाँवर पातकी, जेहि लई नामकी ओट ।
गाँठी बाँध्यो दाम सो, परख्यो न फेरि खर-खोट ॥८॥
मन मलीन, कलि किलबिषी होत सुनत जासु कृत काज ।
सो तुलसी कियो आपुनो रघुबीर गरीब-निवाज ॥९॥

शब्दार्थ—कनौड़ो = कृतज्ञ, अधीन । नाद = स्वर, राग । समचर = समद्रष्टा । सिखी = अग्नि, दीपशिखा । दिवान = दरबार । किलविषी = पापी ।

भावार्थ—केवल कोशलपाल श्रीरामजी ही एक सच्चे स्नेही हैं । प्रेमके अधीन होनेवाला रामजीके समान दूसरा कोई दयालु नहीं है ॥१॥ इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने हैं, सब स्वार्थी हैं; देवता भी व्यवहार-कुशल हैं । दुखियों, अधमों और अनाथोंका हित करनेवाला रामजीके समान और कौन है ? ॥२॥ स्वर निष्ठुर है (स्वरपर मुग्ध होकर हरिण उसके पास आता है और फँस जाता है, पर स्वर उसकी रक्षा नहीं करता); अग्नि सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला है (यहाँतक कि उसका प्रेमी पतंग उसके पास आता है, किन्तु वह उसे भी जला डालता है) जल भी स्नेहमें वीर नहीं है (मछली तो उसके बिना जीवित ही नहीं रह सकती, पर वह मछलीकी जुदाईकी कुछ भी परवाह नहीं करता); चन्द्रमा भी रोग-(ऐब) युक्त है (चकोरपर जरा भी तरस नहीं खाता); सूर्य इतना बड़ा है (पर पानी न रहनेपर अपने प्रेमी कमलको सुखा डालता है); और बादल भी प्रेम-पथके लिए क्रूर है । (क्योंकि प्रेमी चातकपर ओले बरसाता है) ॥३॥ यों तो जिसका मन जिसमें अटक गया है, उसके लिए वही सुखदायी है, पर सीतापति रामजीके समान सदैव सरल और सुशील रहने-वाला स्वामी दूसरा कोई नहीं है ॥४॥ सेवा सुनते ही उसपर सही कर देनेवाला तथा दोषोंको देखकर उनपर ध्यान न देनेवाला (रामजीके सिवा) दूसरा कौन है ? किसके दरबारमें प्रतिदिन विशेषरूपसे दीनोंका आदर और प्रेम किया जाता है ? ॥५॥ कहो तो सही, ऐसा कौन पतित-पावन है जिसने जटायु और शबरी-को पिता-माताके समान माना हो, बन्दरोंको अपना मित्र बनाया हो और गुह निषादको भाई भरतके समान हृदयसे लगाया हो ? ॥६॥ भाग्यहीनोंको भाग्यवान कौन बनाता है तथा भयभीतोंको शरणमें कौन रखता है ? यह सब विरुदावली वेदोंमें विदित है तथा कवि और पण्डित इसके गीत गाते हैं ॥७॥ कोई कैसा ही नीच और पापी क्यों न हो, जिसने राम-नामकी ओट ले ली, उसे रामजीने खरे-खोटेकी परख किये बिना ही रुपये-पैसेकी तरह गाँठ देकर बाँध लिया (अपना लिया) ॥८॥ इस कलियुगमें जिस मलिन मनवाले मनुष्यके किये हुए कर्मोंको सुनकर लोग पापी हो जाते हैं, उस तुलसीदासको भी गरीबनिवाज श्री रघुनाथजीने अपना लिया ॥९॥

[१९२]

जो पै जानकिनाथ सों नातो नेहु न नीच।
स्वारथ-परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयो बीच ॥१॥
धरम बरन आस्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान।
करतब बिनु बेष देखिये, ज्यों सरीर बिनु प्रान ॥२॥
बेद बिदित साधन सबै, सुनियत दायक फल चारि।
राम-प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर-सरिता बिनु बारि ॥३॥
नाना पथ निरबान के, नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन-राति ॥४॥

शब्दार्थ—बिगोयो = खो दिया। सर = तालाब। सरिता = नदी। निरबान = मोक्ष।

भावार्थ—रे नीच ! यदि रामजीसे तेरा स्नेह और नाता नहीं है, तो क्या स्वार्थ और क्या परमार्थ दोनोंको ही तूने कुटिल कलिकालके बीचमें खो दिया ॥१॥ वर्ण और आश्रमके धर्म केवल पोथियों और पुराणोंमें ही लिखे पाये जाते हैं (अर्थात् ये केवल लिखने-पढ़नेकी वस्तुमात्र रह गये हैं, इनके अनुसार कोई भी मनुष्य आचरण नहीं करता)। कर्तव्य कुछ भी नहीं रह गया है, केवल वेष देख लीजिये। यह ठीक वैसा ही है जैसे बिना प्राणका शरीर ॥२॥ सुनते हैं कि वेदोंमें विदित सब साधन अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों फल देनेवाले हैं, किन्तु यह जान लेना चाहिये कि राम-प्रेमके बिना सब साधन वैसे ही हैं जैसे जलके बिना तालाब और नदियाँ ॥३॥ निर्वाण-प्राप्तिके अनेक मार्ग हैं और नाना प्रकारके बहुतसे विधान भी हैं; किन्तु हे तुलसी ! तू मेरे कहनेसे (उन सबको छोड़कर) दिनरात केवल राम-नाम जप ॥४॥

विशेष

१—'निरबान'—महाभारतके शान्ति पर्वमें मोक्षधर्म प्रकरण पढ़ने और मनन करने योग्य है। वहाँ 'निर्वाण'-प्राप्तिके अनेक मार्गोंका उल्लेख है।

[१९३]

अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।
कहँ तू, कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोइ ॥१॥

रीझि निवाज्यो कबहिं तू, कब खीझि दई तोहिं गारि।
दरपन बदन निहारि कै, सुविचारि मान हिय हारि ॥२॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ॥३॥
बालमीकि-केवट-कथा, कपि - भील - भालु - सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों, तिहि को उपदेसहि ग्यान ॥४॥
का सेवा सुग्रीवकी, का प्रीति - रीति - निरबाहु।
जासु बन्धु बध्यो ब्याध ज्यों, सो सुनत सोहात न काहु ॥५॥
भजन विभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।
राम गरीब - निवाजके बड़ी बाँह - बोल की लाज ॥६॥
जपहि नाम रघुनाथ को, चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख, सुखद, साहिब, सुधी, समरथ, कृपालु, नतपालु ॥७॥
सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन, पुलक सरीर।
गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव-भीर ॥८॥
प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान-पहिचानि ॥९॥

शब्दार्थ—बदन = मुख। बाँह-बोल = रक्षा करनेका वचन। चालु = चलाओ। सुधी = बुद्धिमान। गहबर = प्रेमपूर्ण। भीर = दुःख।

भावार्थ—रे जीव! अब भी अपने और रामजीके करतबोंको समझनेसे तेरी भलाई हो सकती है। कहाँ तू है और कहाँ कोशलधनी श्रीरामजी! फिर भी तुझे सब लोग क्या कहते हैं (यही न, कि तू रामका दास है)? ॥१॥ रामजीने कब तुझपर प्रसन्न होकर कृपा की है और कब खीझकर तुझे गालियाँ दी हैं? जरा (विवेकरूपी) दर्पणमें अपना मुँह तो देख; उसके बाद उसपर अच्छी तरह विचार करके हृदयमें हार मान ले—लज्जित हो जा (क्योंकि विचार करनेपर तुझे मालूम हो जायगा कि रामजी तुझपर सदासे कृपा करते आ रहे हैं, पर तू घोर अपराधी है, किन्तु विचार करनेके बाद तू यह न समझ ले कि तेरा सुधार ही न होगा ॥२॥ अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बातें सुधारनेमें उन्हें आधा पल

भी नहीं लगता। 'हे कृपानिधि! मेरी रक्षा कीजिये'—प्रेमके साथ इतना कहते ही ऐसा कौन (पापी) है जिसे रामजीने साधु नहीं बना दिया? ॥३॥ वाल्मीकि और निषादकी कथा तथा बन्दर (सुग्रीव, हनुमान्, अंगदादि), भील (शबरी), भालु (जाम्बवान) आदिके सम्मानका हाल सुनकर भी जो रामजीके सम्मुख न हुआ, उसे भला कौन ज्ञानका उपदेश कर सकता है? ॥४॥ सुग्रीवने कौनसी बड़ी सेवा की थी, और कौनसी प्रीतिकी रीति निबाही थी जिसके भाई बालिको व्याधकी तरह मार डाला? वह बात सुनकर किसीको अच्छी नहीं लगती ॥५॥ विभीषणने ही कौनसा भजन किया था? किन्तु रामजीने उसे क्या फल दिया? गरीबनिवाज श्रीरामजीको रक्षा करनेके वचनकी बड़ी लाज है ॥६॥ इसलिए तू रघुनाथजीका ही नाम जपा कर, दूसरी चर्चा न चला। क्योंकि वह सुन्दर हैं, सुखदायी हैं, स्वामी हैं, बुद्धिमान हैं, समर्थ हैं, कृपालु हैं और शरणागतोंका पालन करनेवाले हैं ॥७॥ ऐसा कौन है जिसने आँखोंमें आँसू भरकर, प्रेमपूर्ण मनसे तथा पुलकित शरीर होकर गद्‌गदवाणीसे श्रीरामजीके गुणोंको गाया और उसका सांसारिक दुःख दूर नहीं हुआ? ॥८॥ प्रभुजी कृतज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं, अतः तू पिछली ग्लानि छोड़ दे। ऐ तुलसी! रामजीसे तेरी कुछ नयी जान-पहचान नहीं है ॥९॥

विशेष

१—'रीझि निवाज्यो कबहि तू'—इसका एक अर्थ यह भी है कि 'तूने रीझकर कब (रामजीको) रहम किया'।

[१९४]

जो अनुराग न राम सनेही सों।
तौ लह्यो लाहु कहा नर-देही सों ॥१॥

जो तनु धरि, परिहरि सब सुख, भये सुमति राम-अनुरागी।
सो तनु पाइ अघाइ किये अघ, अवगुन-उदधि अभागी ॥२॥

ग्यान-बिराग, जोग-जप, तप-मख, जग मुद-मग नहिं थोरे।
राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि-हिलोरे ॥३॥

लोक विलोकि, पुरान-वेद सुनि, समुझि बूझि गुरु-ग्यानी।
प्रीति-प्रतीति राम-पद-पंकज सकल-सुमंगल खानी ॥४॥
अजहुँ जानि जिय, मानि हारि हिय, होइ पलक महँ नीको।
सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं, मानु मतो तुलसी को ॥५॥

शब्दार्थ—अघाइ = भरपेट। मख = यज्ञ। मग = मार्ग। मतो = राय, सिद्धान्त।

भावार्थ—यदि स्नेही रामजीसे अनुराग नहीं है, तो मनुष्य-शरीर धारण करनेसे क्या लाभ हुआ ? ॥१॥ जो शरीर धारण करके अच्छी बुद्धिवाले (ज्ञानीजन) सब सुखोंको त्यागकर रामके प्रेमी बने हैं, ऐ अवगुणोंका समुद्र, अभागा ! वही शरीर पाकर तूने पेट भरकर पाप किये हैं ॥२॥ संसारमें ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप, यज्ञ आदि आनन्दके मार्ग थोड़ेसे नहीं हैं; किन्तु राम-प्रेमके बिना ये सब नेम वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे मृगजलके समुद्रकी लहरें ॥३॥ संसारको देखकर, पुराणों और वेदोंको सुनकर तथा ज्ञानी गुरुओंसे समझ-बूझकर रामजीके चरण-कमलोंमें प्रेम और विश्वास होना ही सब कल्याणोंकी खानि है ॥४॥ अब भी यदि तू अपने दिलमें यह समझकर हृदयमें हार मान ले, तो पलभरमें तेरा भला हो सकता है। तुलसीदासका मत मानकर तू अपने हितके लिए स्नेहके साथ श्रीरामजीका स्मरण कर ॥५॥

विशेष

१—'राम-प्रेम बिनु नेम जाय'—इसपर महात्मा कबीरने भी खूब कहा है:—

मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपरा।
आसन मारि मन्दिरमें बैठे, राम नाम छाँड़िके पूजन लागे पथरा।
मथवा मुड़ाय जोगी जटवा बढ़वले दढ़िया बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा॥
जंगलमें जोगी धूनी रमवले कामके जराय जोगी होइ गैले हिंजरा।
मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रँगावै, गीता-पोथी बाँचिके होइ गैले लबरा॥
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, जमके दुवारे बाँधल जैबे पकरा॥

(१९५)

बलि जाउँ हौं राम गुसाईं कीजै कृपा आपनी नाईं ॥१॥

परमारथ सुरपुर-साधन सब स्वारथ सुखद भलाई।
कलि सकोप लोपी सुचाल, निज कठिन कुचाल चलाई ॥२॥
जहँ जहँ चित चितवत हित, तहँ नित नव विषाद अधिकाई।
रुचि-भावती भभरि भागहिं, समुहाहिं अमित अनभाई ॥३॥
आधि-मगन मन, ब्याधि-बिकल तन, बचन मलीन झुठाई।
एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की प्रभु सकल सनेह सगाई ॥४॥

शब्दार्थ—सुरपुर = देवलोक, स्वर्ग। विषाद = दुःख। भभरि = डरकर। अनभाई = बुरी।

भावार्थ—हे राम गुसाईं! मैं आपपर बलि जाता हूँ, आप अपने स्वभावके अनुकूल मुझपर कृपा कीजिये ॥१॥ परमार्थके, स्वर्गके साधनोंको एवं सुख देनेवाले और भलाई करनेवाले इहलौकिक स्वार्थोंको तथा सुन्दर चालोंको इस कलियुगने क्रोधके साथ अपनी कठिन कुचालें चलाकर लोप कर दिया है ॥२॥ यह मन जहाँ-जहाँ अपना हित देखता है, वहाँ-वहाँ नित्य नये दुःखोंकी अधिकता है। रुचिको अच्छी लगनेवाली बात डरकर भाग जाती है, और रुचिके प्रतिकूल अगणित वस्तुएँ सामने आती हैं ॥३॥ मन चिन्ता-मग्न हो रहा है, शरीर रोगसे विकल है और वाणी झुठाईके कारण मलिन हो रही है। हे प्रभो! इतनेपर भी इस तुलसीदासका सब सम्बन्ध और स्नेह आपहीके साथ है ॥४॥

(१९६)

काहे को फिरत मन, करत बहु जतन,
मिटै न दुख बिमुख रघुकुल-बीर।
कीजै जो कोटि उपाइ, त्रिबिध ताप न जाइ,
कह्यो जो भुज उठाय मुनिबर कीर ॥१॥
सहज टेव बिसारि तुही धौं देखु बिचारि,
मिलै न मथत बारि घृत बिनु छीर।
समुझि तजहि भ्रम, भजहि पद-जुगम,
सेवत सुगम, गुन गहन गँभीर ॥२॥

आगम निगम ग्रंथ, रिषि-मुनि, सुर-संत,
सबही को एक मत सुनु, मतिधीर।
तुलसिदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु,
जद्यपि है निकट सुरसरि - तीर ॥३॥

शब्दार्थ—कीर = शुकदेवजी। टेव = आदत। छीर = दूध। आगम = शास्त्र। निगम = वेद। सुरसरि = गंगाजी।

भावार्थ—रे मन, तू बहुतसे उपाय क्यों करता फिरता है? तू रघुवंश-वीर श्रीरामजीसे विमुख है, अतः तेरे दुःख दूर नहीं हो सकते। महामुनि शुकदेवजीने हाथ उठाकर (श्रीमद्भागवतमें) यह बात कही है कि करोड़ों उपाय क्यों न करो, (ईश्वर-विमुख रहनेपर) दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकारके ताप नहीं जा सकते ॥१॥ अपने सहज स्वभावको भूलकर तू ही विचारकर देख न, कहीं बिना दूधके केवल पानी मथनेसे घी मिलता है? यही समझकर तू भ्रमको छोड़ दे और उन युगल चरणोंको भज, जो सेवा करनेमें सुगम हैं और गुण-गाम्भीर्यमें गहन हैं ॥२॥ रे मन! सुन, वेद-शास्त्र आदि ग्रन्थोंका, तथा ऋषि-मुनियों, देवताओं, सन्तों एवं और भी जितने शान्त बुद्धिवाले हैं, उन सबका यह एक ही मत है। रे पशु तुलसीदास! यद्यपि (राम-नामरूपी) गंगाजीका तट निकट है, फिर भी तू प्रभुके बिना प्यासा मर रहा है ॥३॥

विशेष

१—'गुन गहन गँभीर'—गोस्वामीजीने अन्यत्र भी यही बात लिखी है—

उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरिबिमुख न धर्म-रति॥

—रामचरितमानस

[१९७]

नाहिंन चरन-रति, ताहि तें सहौं बिपति,
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर।
बसै जो ससि-उछंग सुधा-स्वादित कुरंग,
ताहि क्यों भ्रम निरखि रबिकर-नीर ॥१॥

सुनिय नाना पुरान, मिटत नाहिं अग्यान,
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर।
बझत बिनहिं पास सेमर-सुमन-आस,
करत चरत तेइ फल बिनु हीर ॥२॥

कछु न साधन-सिधि, जानौं न निगम-बिधि,
नहिं जप-तप बस मन न समीर।
तुलसिदास भरोस परम करुना-कोस,
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर ॥३॥

शब्दार्थ—उछंग=गोद। कीर=तोता। पास=पाश, जाल। चरत=चोंच मारता है, चरता है। हीर=गूदा।

भावार्थ—श्रीरामजीके चरणोंमें मेरी प्रीति नहीं है, इसीसे दुःख सह र[illegible] यह बात वेदों और धीर बुद्धिवाले समस्त मुनियोंने कही है। क्योंकि जो चन्द्रमाकी गोदमें रहकर अमृतका स्वाद लेता है, उसे मृगजलमें क्यों होने लगा? (तात्पर्य यह कि जैसे जंगली हरिणको मृगजलका भ्रम हो[illegible] पर जो हरिण चन्द्रमाका वाहन है और अमृतपान करता है, वह मृगतृ[illegible] नहीं भूल सकता, उसी प्रकार ईश्वरसे विमुख प्राणियोंको संसारकी सत[illegible] विश्वास होनेके कारण अनेक दुःख झेलने पड़ते हैं; पर हरिभक्तोंको उसका नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि यह संसार मिथ्या है) ॥१॥ जैसे पक्षी पढ़ता तो है, पर समझता कुछ नहीं, उसी प्रकार अनेक पुराणोंके [illegible] रहनेपर भी मेरा अज्ञान दूर नहीं होता। मूर्ख तोता सेमरके फूलकी [illegible] करता है और बिना गूदेके उस फलमें चोंच मारता है; इस भाँति वह जालके ही फँस जाता है (वैसे ही मनुष्य निस्तत्त्व सांसारिक विषयोंमें आ[illegible] होकर अपने अज्ञानसे बँध जाता है) ॥२॥ न तो मुझमें कोई साधन है न सिद्धि ही; वैदिक विधियोंको भी मैं नहीं जानता। न मैंने जप, तप एवं म[illegible] वशमें किया है, और न प्राण-वायुपर ही अधिकार जमाया है। इस तु[illegible] दासको तो बहुत बड़ा भरोसा है कि करुणाके भण्डार श्रीरामजी इसकी [illegible] सांसारिक वेदना हर लेंगे ॥३॥

राग भैरवी

[१९८]

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥१॥
सहसबाहु, दसवदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते ॥२॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।
अन्तहुँ तोहिं तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥३॥
अब नाथहिं अनुराग, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घी ते ॥४॥

शब्दार्थ—ही = हृदय, मन । धाम = घर । रीते = खाली हाथ । पामर = नीच ।

भावार्थ—रे मन ! अवसर बीत जानेपर तुझे पछताना पड़ेगा । दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर कर्म, वचन और हृदयसे भगवान्‌के चरणोंका भजन कर॥१॥ सहस्रबाहु और रावण आदि (महा तेजस्वी) राजा भी बलवान कालसे नहीं बचे, जो 'हम-हम' करते हुए धन-धाम सँभालनेमें लगे रहे; पर अन्तमें खाली हाथ (इस संसारसे) उठकर चले गये ॥२॥ पुत्र, स्त्री आदिको स्वार्थरत जानकर इन सबसे स्नेह न कर । रे नीच ! ये सब तुझे अन्तमें छोड़ देंगे; इसलिए तू अभीसे इन्हें क्यों नहीं छोड़ देता ? ॥३॥ रे मूर्ख ! अब जाग, सारी दुराशाओंको हृदयसे छोड़ दे, और भगवान्‌से प्रेम कर । रे तुलसी ! भला कहीं कामरूपी अग्नि विषय-भोगरूपी बहुत-सा घी डालनेसे बुझती है ? ॥४॥

विशेष

१—'अन्त चले'—इसपर कबीरदासके शब्दोंका भी रसास्वादन कर लीजियेः—

जियरा जाहुगे हम जानी ॥
राज करंते राजा जैहैं रूप करंते रानी ।
चाँद भी जैहै सूरज भी जैहै, जैहै पवन औ पानी ॥

मानुष जन्म महा अति दुर्लभ, तुम समझो अभिमानी ।
लोभ नदीकी लहर बहतु है, बूड़ोगे बिनु पानी ॥
जोगी जैहैं जंगम जैहैं औ जैहैं बड़ ज्ञानी ।
कहै कबीर एक सन्त न जैहैं जाको चित ठहरानी ॥

[१९९]

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो ।
तजि हरि-चरन-सरोज सुधारस, रबिकर-जल लय लायो ॥१॥
त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो ।
गृह, बनिता, सुत, बंधु भये बहु, मातु पिता जिन्ह जायो ॥२॥
जाते निरय-निकाय निरंतर, सोइ इन्ह तोहि सिखायो ।
तुव हित होइ, कटै भव-बंधन, सो मग तोहि न बतायो ॥३॥
अजहुँ बिषय कहँ जतन करत, जद्यपि बहु बिधि डहँकायो ।
पावक-काम भोग-घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो ॥४॥
बिषय हीन दुख, मिले बिपति अति सुख सपनेहुँ नहिं पायो ।
उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों धन दुखप्रद स्रुति गायो ॥५॥
छिन-छिन छीन होत जीवन, दुरलभ तनु बृथा गँवायो ।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि, काल-उरग जग खायो ॥६॥

शब्दार्थ—त्रिजग = तिर्यक् (पशुपक्षी) । निरय = नरक । निकाय = समूह । डहँकायो = ठगा गया । प्रेत-पावक = प्रेतकी आग ।

भावार्थ—रे मूढ़ मन ! तू किसलिए दौड़ता फिर रहा है ? भगवच्चरणारविन्दके सुधारसको छोड़कर तूने मृगतृष्णाके जलमें लगन लगा रखी है ॥१॥ पशु, पक्षी, देवता, मनुष्य, राक्षस एवं संसारमें और जितनी योनियाँ हैं, सबमें तू घूम आया । बहुतसे घर, स्त्री, पुत्र, भाई तथा तुझे उत्पन्न करनेवाले माता-पिता हुए ॥२॥ किन्तु इन सबने तुझे वही सिखाया जिससे तेरे लिए नरक-समूह निरन्तर बना रहे (तुझे नरकोंमें ही रहना पड़े); ऐसा मार्ग इन सबने तुझे नहीं बताया जिससे तेरा हित हो, और संसार-बन्धन कट जाय ॥३॥ यद्यपि तू अनेक तरहसे ठगा गया, फिर भी तू अभीतक विषयोंके ही लिए यत्न कर रहा

है। किन्तु रे दुष्ट! कामरूपी अग्निमें भोगरूपी घी डालते रहनेसे वह कैसे बुझेगी? ॥४॥ विषयोंके साधनसे रहित होनेमें भी दुःख हुआ और विषयोंके मिल जानेपर तेरी भारी विपत्ति हुई; तुझे तो स्वप्नमें भी सुख नहीं मिला। इसलिए वेदोंने विषयरूपी धनको दोनों ही प्रकारसे भूतके लूककी तरह दुःखप्रद कहा है; (तात्पर्य यह कि विषयी पुरुषोंको न तो विषयकी प्राप्तिमें ही सुख मिलता है और न अप्राप्तिमें ही) ॥५॥ क्षण-प्रति-क्षण तेरा जीवन क्षीण होता जा रहा है, तूने इस दुर्लभ शरीरको व्यर्थ ही खो दिया। ऐ तुलसीदास! तू सब आशाओं-को छोड़कर हरिभजन कर। देख, कालरूपी सर्प संसारको खाये जा रहा है ॥६॥

[२८०]

ताँबे सो पीठि मनहुँ तन पायो।
नीच, मीच जानत न सीस पर, ईस निपट बिसरायो ॥१॥
अवनि-रवनि, धन-धाम, सुहृद-सुत, को न इन्हहिं अपनायो?
काके भये, गये सँग काके, सब सनेह छल-छायो ॥२॥
जिन्ह भूपनि जग-जीति, बाँधि जम, अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हें, तू गिनती कब आयो ॥३॥
देखु बिचारि, सार का साँचो, कहा निगम निजु गायो।
भजहि न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि, जेहि महेस मन लायो ॥४॥

शब्दार्थ—निपट = बिलकुल। रवनि = रमणी। छायो = भरा हुआ है। निजु = यथार्थतः।

भावार्थ—मानो तूने ताँबेसे मढ़ा हुआ शरीर पाया है। (अर्थात् तूने इस नश्वर शरीरको अजर-अमर समझ लिया है)। रे नीच! तू नहीं जानता कि मौत तेरे सिरपर (खड़ी) है, फिर भी तूने परमात्माको बिलकुल ही भुला दिया है ॥१॥ पृथिवी, स्त्री, धन, मकान, सुहृद् और पुत्र इन सबको किसने नहीं अपनाया? (अर्थात् सबने अपनाया)। किन्तु ये किसके हुए? किसके साथ गये? यह सब स्नेह छलसे भरा हुआ है ॥२॥ जिन राजाओंने संसारको जीतकर अपनी भुजाओंके बलसे यमराजको बाँधकर अधीन कर लिया था, उन्हें भी जब प्रबल काल कलेवा कर गया, तो तू किस गिनतीमें है ॥३॥ विचार कर देख, सच्चा तथ्य

क्या है, वेदोंने यथार्थतः क्या कहा है। हे तुलसी ! अब भी तू सोच-समझकर उसे नहीं भज रहा है, जिसमें भगवान् शंकरजीने अपना मन लगा रखा है ॥४॥

विशेष

१—'अवनि······अपनायो'—किन्तु इनके अपनानेसे क्या हुआ ? देखिये इसपर गुसाईंजी क्या कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतङ्ग जँजीर जरे मद अम्बु चुचाते ।
तीख तुरङ्ग मनोगति चञ्चल पौनके गौनहु ते बढ़ि जाते ॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते ।
ऐसे भये तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रङ्ग न राते ॥

[२०१]

लाभ कहा मानुष-तनु पाये ।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये ॥१॥
जो सुख सुरपुर-नरक, गेह-बन आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ॥२॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोह बस किये मूढ़ मन भाये ।
गरभबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये ॥३॥
भय-निद्रा, मैथुन-अहार, सबके समान जग जाये ।
सुर-दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाये ॥४॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाये ।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनिके पछिताये ॥५॥

शब्दार्थ—मैथुन = स्त्रीप्रसंग । जाये = जन्म लिया है । लय = प्रीति, ध्यान ।

भावार्थ—मनुष्य-शरीर पानेसे क्या लाभ हुआ, यदि वह शरीर, वचन और मनसे स्वप्नमें भी कभी दूसरोंके काम नहीं आया ॥१॥ जो सुख स्वर्ग, नरक, घर और वनमें बिना बुलाये ही आ जाता है, उस सुखके लिए रे मन ! तू बहुत-से यत्न करता है और समझानेपर भी नहीं समझता ॥२॥ हे मूढ़ ! तूने मोहवश होकर दूसरेकी स्त्रीके लिए और दूसरोंसे वैर करनेके लिए मनमाने काम

किये। तूने गर्भवासके महान् दुःख, तीव्र यातना और विपत्तिको भुला दिया; तभी तो ऐसा कर रहा है ! यदि उस कष्टकी तुझे जरा भी सुध होती तो क्या तू फिर वही यंत्रणा भोगनेका काम करता ? (कभी नहीं) ॥३॥ यों तो संसारमें जिसने जन्म लिया है, सबमें भय, निद्रा, मैथुन, आहार आदि एक-से हैं; किन्तु तूने देवताओंके लिए दुर्लभ मानव-शरीर धारण करनेपर भी ईश्वर-भजन नहीं किया, मद और अभिमानमें चूर होकर उसे खो दिया (ऐसी दशामें तुझमें और संसारके इतर-प्राणियोंमें अन्तर ही क्या रहा ?) ॥४॥ यदि अपने-परायेकी बुद्धि न गयी, और शुद्ध भावसे रामजीमें प्रीति न की, तो तुलसीदास कहते हैं कि यह अवसर बीत जानेपर फिर पछतानेसे क्या (लाभ) होगा ? ॥५॥

विशेष

१—'भय निद्रा·····जाये'—इस विषयमें लिखा है-

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन, मनुष्यों और पशुओंके लिए समान ही स्वाभाविक है। उनमें भेद है तो केवल धर्मका (अर्थात् इन्हें मर्यादित करनेका)। इस धर्मसे हीन मनुष्य पशुके समान ही है।

[२०२]

काजु कहा नरतनु धरि सार्‍यो ।
पर-उपकार सार स्रुति को जो, सो धोखेहु न विचार्‍यो ॥१॥
द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टार्‍यो ।
राम भजन-तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निबार्‍यो ॥२॥
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्‍यो ।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‍यो ॥३॥
देखि आनकी सहज सम्पदा द्वेष-अनल मन-जार्‍यो ।
सम, दम, दया दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्‍यो ॥४॥

प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्‍यो।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उबार्‍यो ॥५॥

शब्दार्थ—कुठार = कुल्हाड़ी। आनकी = दूसरेकी। अनल = आग।

भावार्थ—मनुष्य-शरीर धारण करके तूने कौन-सा काम पूरा किया? जो परोपकार वेदोंका सार या निचोड़ है, उसपर तूने भूलकर भी विचार नहीं किया (करना तो दूर रहा) ॥१॥ यह संसार वृक्षके समान है; द्वैतभाव (अर्थात् देहको आत्मा मानना) इस संसार-वृक्षकी जड़ है, भय ही चुभनेवाले काँटे हैं और शोक ही फल हैं। यह वृक्ष हटानेसे नहीं हट सकता। यह तो केवल राम-भजनरूपी तेजधारकी कुल्हाड़ी लेकर काटनेसे कटता है, सो तूने उसे नहीं काटा ॥२॥ संशय-समुद्रसे पार होनेके लिए नामरूपी नौकाका सेवन कर। तूने अपनी आत्माका उद्धार नहीं किया। तू अनेक जन्मतक विवेकहीन होकर नाना योनियोंमें घूमनेपर भी न थका ॥३॥ दूसरोंकी सहज सम्पत्ति देखकर तू अपने मनको द्वेषकी आगमें जलाता रहा; किन्तु शम, दम, दया और गरीबोंका पालन करते हुए शीतल हृदयसे परमात्माकी सेवा नहीं की ॥४॥ तूने मन, कर्म और वचनसे अपने प्रभु, गुरु, पिता और सखा श्री रघुनाथजीको भुला दिया। किन्तु तुलसीदासको यही इतनी आशा है कि जिसने गीधको उबारा है, वह मुझे भी अपनी शरणमें रख लेंगे ॥५॥

विशेष

१—'पर-उपकार सार श्रुतिको'—आचार्योंने परोपकारके समान दूसरा धर्म और दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके समान दूसरा एक भी पाप नहीं माना है। कहा भी है—

अष्टादश पुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

भर्तृहरिने भी कहा है—

'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः।

अर्थात् परार्थहीको जिस मनुष्यने अपना स्वार्थ बना लिया है, वही सब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है।

२—'गीध'—११५ वें पदके विशेषमें देखिये।

[२०३]

श्री हरि-गुरु-पद-कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान ॥१॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम-मिलत अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहै सकल भरिपूरि ॥२॥
दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहि महि-मण्डल धीर।
बिगत मोह-माया-मद हृदय बसत रघुबीर ॥३॥
तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुन्द।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द ॥४॥
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित अहंकार।
बिमल बिचार परम पद निज सुख सहज उदार ॥५॥
पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गन्ध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव-कूप ॥६॥
छठ षटवरग करिय जय जनक-सुता-पति लागि।
रघुपति-कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ-लोभागि ॥७॥
सातैं सप्तधातु-निरमित तनु करिय बिचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजै पर-उपकार ॥८॥
आठइँ आठ प्रकृति-पर निरबिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम ॥९॥
नवमी नवद्वार-पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह ॥१०॥
दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि ॥११॥
एकादसी एक मन बस कै सेवहु जाइ।
सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ ॥१२॥
द्वादसि दान देहु अस, अभय होइ त्रैलोक।
परहित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक ॥१३॥

तेरसि तीन अवस्था तजहु, भजहु भगवन्त।
मन-क्रम-बचन अगोचर, ब्यापक, ब्याप्य, अनन्त ॥१४॥
चौदसि चौदह भुवन अचर - चर - रूप गोपाल।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग-जाल ॥१५॥
पूनो प्रेम - भगति - रस हरि - रस जानहिं दास।
सम, सीतल, गत-मान, ग्यानरत, बिषय - उदास ॥१६॥
त्रिविध सूल होलिय जरै, खेलिय अब फागु।
जो जिय चहसि परम सुख, तौ यहि मारग लागु ॥१७॥
स्रुति-पुरान - बुध - सम्मत चाँचरि चरित मुरारि।
करि बिचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि ॥१८॥
संसय-समन, दमन दुख, सुखनिधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न, करिय उपाय अनेक ॥१९॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतनके चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥२०॥

शब्दार्थ—चरहि = विचरण कर। त्रिगुन = सत्व, रज, तम। श्रीरमन = लक्ष्मीकान्त। मुकुन्द = विष्णु। षटबरग = शरीरके भीतर स्थित परलोक विरोधी शत्रुओंका समूह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि। लीन्ह = ले लिया, खरीद लिया। साराँगपानि = हाथमें धनुष धारण करनेवाले रामचन्द्र। गोपाल = श्रीकृष्ण। अति = जड़से। गत-मान = अहंकार-रहित। उदास = उदासीन। चाँचरि = होलीके गीत।

भावार्थ—हे मन! तू अभिमानको छोड़कर श्रीहरिरूप गुरुके उन चरण-कमलोंका भजन कर, जिनकी सेवा करनेसे आनन्दके भण्डार भगवान् हरि मिलते हैं ॥१॥ फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाकी तरह सबसे पहले प्रेमके बिना रामजीका मिलना बहुत दूर है (अर्थात् जैसे पहली तिथि प्रतिपदा है, उसी तरह भगवत्प्राप्तिके लिए पहली वस्तु प्रेम है) यद्यपि रामजी अपने हृदयमें निवास करते हैं तथापि प्रेमके बिना उनका मिलना कठिन है ॥२॥ दूजके समान दूसरा साधन यह है कि द्वैत-बुद्धि छोड़कर धीर भावसे भू-मण्डलपर विचरण कर; मोह, माया और मदसे रहित हृदयमें ही श्रीरघुनाथजी निवास करते हैं (इसलिए तू इन विकारोंको छोड़ दे) ॥३॥ तीजके समान तीसरा साधन यह है कि सत्व-

रज-तम इन तीन गुणोंसे परे परमपुरुष लक्ष्मीकान्त मुकुन्द भगवान्‌का परमानन्द (स्वरूपानन्द) गुण-स्वभावका त्याग किये बिना दुर्लभ है। ब्रह्म साक्षात्कार करनेके लिए गुणोंका त्याग करना आवश्यक है ॥४॥ चौथके समान चौथा उपाय है मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका त्याग करना (अर्थात्, तादात्म्य भाव त्याग कर अन्तःकरणका द्रष्टा बन जाना चाहिये)। इनका त्याग करनेके बाद विमल विचार उत्पन्न होकर आत्मानन्दरूप परम पदको प्राप्त होना सहज हो जाता है ॥५॥ पंचमीकी तरह पाँचवाँ उपाय यह है कि पंच ज्ञानेन्द्रियोंके जो पाँच विषय हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं, उनका कहना न मान, नहीं तो संसाररूपी कुएँमें गिर जायगा ॥६॥ छठकी तरह छठा उपाय यह है कि जानकी-वल्लभ श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरपर विजयलाभ करना चाहिये। लोभरूपी आग ईश्वरीय कृपारूपी जलके बिना नहीं बुझती (अर्थात् लोभ बड़ा ही प्रबल है, अतः मन, वचन, कर्मसे ऐसा काम करना चाहिए जिसमें इसपर जय प्राप्त हो सके और तुझपर भगवान् की कृपा हो) ॥७॥ सप्तमीके समान सातवाँ यत्न यह है कि सात धातुओं (त्वचा-रक्त, मांस, हड्डी, मज्जा, मेद, शुक्र) से बने हुए शरीरका विचार करना चाहिये। अर्थात् यह समझना चाहिये कि यह शरीर नाशवान् है, इसे काम-क्रोधादिके वशमें नहीं होने देना चाहिये। इस शरीरका एक ही फल है; वह यह कि परोपकार करो ॥८॥ अष्टमीके समान आठवाँ साधन यह है कि षट्-विकार-रहित श्रीरामजी अष्ट प्रकृतिसे परे हैं, अतः यह जानना चाहिये कि जबतक हृदयमें अनेक तरहकी कामनाएँ बस रही हैं, तबतक वह प्रभु किस तरह मिल सकते हैं? तात्पर्य यह है कि इच्छाओंका त्याग करना चाहिये ॥९॥ नौमीके समान नवाँ साधन यह है कि नौ दरवाजेकी इस पुरी (शरीर)में बसकर जिसने अपना भला न किया, वह आदमी अनेक योनियोंमें भटकता फिरता है। उसे समझ लेना चाहिये कि मैंने दारुण दुःख खरीद लिया ॥१०॥ दशमीके समान दसवाँ उपाय यह है कि दसों इन्द्रियों (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय) का संयम करना चाहिये। जो न कर सके, उसे अपने हृदयमें समझ लेना चाहिये कि सब साधन व्यर्थ हुए और सारंग-पाणि भगवान् रामचन्द्रजी न मिलेंगे ॥११॥ एकादशीके समान ग्यारहवाँ साधन यह है कि मनको वशमें करके केवल उस एक निःसंग,

शुद्ध-बुद्ध आनन्दघन परमात्माकी ही सेवा करनी चाहिये। जो आदमी ऐसा करता है, वही इस एकादशीके व्रतका फल पाता है, और उसका आवागमन (जन्म-मरण)से छुटकारा हो जाता है॥१२॥ द्वादशीके समान बारहवाँ साधन यह है कि ऐसा दान दो कि जिससे तीनों लोकोंमें कोई भय न रह जाय। परोपकार-में रत रहना ही (एकादशी व्रतके बाद द्वादशीका) वह पारण है जिससे फिर कभी शोक नहीं व्यापता ॥१३॥ तेरसके समान तेरहवाँ यत्न यह है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंको त्यागकर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। क्योंकि वह मन, कर्म और वाणीसे परे हैं—इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं—सबमें व्याप्त हैं और स्वयं ही व्याप्य हैं (अर्थात् व्याप्य और व्यापक दोनों वही हैं) तथा अनन्त हैं ॥१४॥ चतुर्दशीके समान चौदहों भुवनोंमें चर और अचर-रूप भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं; किन्तु भेदभाव (मेरा-तेरा) दूर हुए बिना रघुनाथ-जी संसारके गहन जालको नहीं काटते। तात्पर्य यह है कि 'मेरा-तेरा' भाव दूर करो, तब ईश्वर-कृपा होगी ॥१५॥ पूर्णिमाके समान पन्द्रहवाँ साधन यह है कि सिद्धा प्रेमा भक्तिका रस है (इस रसका आविर्भाव तब होता है, जब ऊपर कहे हुए सब साधन सम्पन्न हो जाते हैं)। इस भगवद्दर्शनरूपी रसको केवल ईश्वरके वे अनन्य भक्त जानते हैं, जो समदर्शी, शीतल (शान्त), अहंकार-रहित, ज्ञान-रत तथा सब विषयोंसे उदासीन हैं ॥१६॥ (गुसाईंजीने मनुष्योंके कल्याणके लिए पहले प्रेम, साधन और भक्तिका उल्लेख किया है और अन्तमें अनेक साधनोंके द्वारा उसे सिद्धाभक्तितक पहुँचा दिया है। फागुनकी पूर्णिमा और चैत्रकी प्रतिपदाके सन्धिकालमें होलिकादहन होता है; अतः वहाँ सांसारिक भाव-के नाश और परमात्माके दर्शनकी उत्सुकताके बीचका समय ही सन्धिकाल है। उसी सन्धिकालमें पूर्णिमाके समान सिद्धाभक्तिकी) होलीमें दैहिक, दैविक और भौतिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंको जलाकर अच्छी तरह फाग खेलना चाहिये (आनन्द मनाना चाहिये)। यदि तू अपने हृदयमें परमानन्द चाहता है, तो इस मार्गपर चल (ऊपर कहे हुए पन्द्रह साधनोंको क्रम-क्रमसे साध) ॥१७॥ वेदों, पुराणों और पण्डितोंसे सम्मत परमात्माके चरित ही होलीके गीत हैं। इसपर विचार करके संसारसे तर जाना चाहिये और फिर कभी यमदूतोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहिये ॥१८॥ संशयोंका नाश करनेवाले,

दुःखोंको दूर करनेवाले और आनन्द-निधान केवल भगवान् ही हैं। किन्तु वह (रामजी) साधुओंकी कृपा हुए बिना नहीं मिल सकते—चाहे कितने ही उपाय क्यों न करो ॥१९॥ संसार-सागरसे पार होनेके लिए सन्तोंका पवित्र चरण ही नाव है। तुलसीदास कहते हैं कि (सन्तोंके चरणरूपी नावके सहारे अर्थात् सन्तोंकी चरण-सेवा करके) दुःखोंको हरनेवाले श्रीराम बिना परिश्रम ही मिल जाते हैं ॥२०॥

विशेष

१—गुसाईंजीने इस पदमें बड़ा ही उपदेशप्रद रूपक बाँधा है। इसमें उन्होंने सिद्धाभक्ति प्राप्त होनेतककी अवधिको ही एक पक्ष माना है। पक्षमें पन्द्रह तिथियाँ होती हैं, अतः यहाँ भी क्रमशः पन्द्रह साधनोंका उल्लेख है। 'त्रिविध सूल'की होली भी खूब जलायी गयी है। चन्द्रमाकी सोलह कलाएँ हैं। एक-एक तिथिमें एक-एक कलाकी वृद्धि होती है। ठीक इसी तरह काम-शास्त्रमें सोलह कलाओंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

'पूषा यशा सुमनसा रतिः प्राप्तिस्तथा धृतिः।
ऋद्धिः सौम्या मरीचिश्च तथा चैवांशुमालिनी ॥
अंगिरा शशिनी चेति छाया सम्पूर्णमंडला।
तुष्टिश्चैवामृता चेति कलाः सोमश्च षोडश ॥'

भक्तवर वैजनाथजीने जीवकी भी षोडश कलाओंका उल्लेख किया है—

'निराशा, सद्वासना, कीर्ति, जिज्ञासा, करुणा, मुदिता, स्थिरता, सुसङ्ग, उदासीनता, श्रद्धा, लज्जा, साधुता, तृप्ति, क्षमा, विवेक, विद्या।'

२—'द्वैत-मति'—जीव और ईश्वरको भिन्न समझनेवाली बुद्धि।

३—'मुकुन्द'—का अर्थ है 'मुक्तिदाता' अर्थात् विष्णु। ब्रह्मवैवर्तके श्रीकृष्णजन्म खण्डके ११० वें अध्यायमें इस शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखी है :—

'मुकुमव्ययमान्तंच निर्वाणमोक्षवाचकम्।
तद्ददाति च यो देवो मुकुन्दस्तेन कीर्त्तितः ॥
मुकुं भक्तिरसप्रेम वचनं वेद सम्मतम्।
यस्तद्ददाति विप्रेभ्यो मुकुन्दस्तेन कीर्त्तितः ॥'

४—'षट् बरग'—परलोक-विरोधी भीतर स्थित शत्रुओंको कहते हैं। इन्हें अरिवर्ग भी कहते हैं। इनके नाम ये हैं—१ काम (प्राप्त वस्तुके भोगकी इच्छा), २ क्रोध (द्वेष), ३ लोभ (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा), ४ मोह (आत्मा अनात्मा अथवा शुभ-अशुभ कार्यका अविवेक), ५ मद (गर्व, अहङ्कार), ६ मत्सर (दूसरेकी वृद्धि देखकर जलना।)

५—'सप्त धातु'—यह शरीर सात धातुओंसे बना हुआ है:—त्वचा (चमड़ा), रक्त, मांस, मेद (चर्बी), मज्जा (अस्थिगत चिकना पदार्थ), अस्थि (हड्डी) और रेत (शुक्र या वीर्य)।

६—'आठ प्रकृति'—१ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ मन (यहाँ मन शब्दसे समष्टि मन रूप अहङ्कार है), ७ बुद्धि (यहाँ समष्टि बुद्धि रूप महत्तत्त्वका ग्रहण है) और ८ अहङ्कार (यहाँ महत्तत्त्वसे पूर्व शुद्ध अहङ्कारके कारण अज्ञानरूप मूल प्रकृतिसे अभिप्राय है)।

७—'निरबिकार'—पीछे छ विकारोंका उल्लेख किया जा चुका है।

८—'नवद्वारपुर'—यह शरीर नौ द्वारका पुर है। वे नौ द्वार ये हैं—दो आँखें, दो कान, दो नासिका, मुँह, मूत्रेन्द्रिय और गुदा। इसी प्रकार पुरी भी आठ मानी गयी है—१ ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण), २ कर्मेन्द्रिय-पञ्चक (वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुद), ३ अन्तः-करणचतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार), ४ प्राणादि-पञ्चक (प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान), ५ भूत-पञ्चक (पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश), ६ काम, ७ त्रिविध कर्म और ८ वासना।

९—'चौदह भुवन'—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ये सात लोक ऊपरके हैं और अतल, वितल; सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सात नीचेके हैं।

१०—'भेद'—अर्थात् भेद-बुद्धि। वेदान्तशास्त्रने पाँच भेद माना है—१ जीव ईश्वरका भेद, २ जीवोंका परस्पर भेद, ३ जीव-जड़का भेद, ४ जड़-ईश्वरका भेद, ५ जड़-जड़का भेद। आत्मा इन पाँचों भेदोंसे रहित है। अथवा सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे आत्मा रहित है। अपनी जातिवालोंसे जो सम्बन्ध है, उसे सजातीय सम्बन्ध कहते हैं, जैसे

ब्राह्मणका अन्य ब्राह्मणसे। अन्य जातिवालोंसे जो सम्बन्ध है, जैसे ब्राह्मणका शूद्रसे—उसे विजातीय सम्बन्ध कहते हैं। अपने अवयवों-(अङ्गों) से जो सम्बन्ध है, जैसे (हाथ, पैर, मस्तक आदिका सम्बन्ध) उसे स्वगत सम्बन्ध कहते हैं। गुसाईंजीने इन्हीं भेदोंको त्यागनेके लिए कहा है।

राग कान्हरा

[२०४]

जो मन लागै रामचरन अस।
देह-गेह-सुत-वित-कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस ॥१॥
द्वन्द्व-रहित, गतमान, ग्यानरत, बिषय-बिरत खटाइ नाना कस।
सुख-निधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न, कहु क्यों न होहिं बस ॥२॥
सर्ब-भूत-हित, निर्ब्यलीक चित, भगति-प्रेम दृढ़ नेम एक-रस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवैं ईस, जेहि हतो सीसदस ॥३॥

शब्दार्थ—वित = धन। कलत्र = स्त्री। कस = धातु (काँसा, पीतल, ताँबा आदि), कसौटी। निर्ब्यलीक = निर्मल, निर्विकार।

भावार्थ—यदि यह मन रामजीके चरणोंमें इस भाँति लग जाय, जैसे वह शरीर, घर, पुत्र, धन, स्त्रीमें बिना किसी प्रकारका यत्न किये ही मग्न हो जाता है ॥१॥ तो वह अनेक कसोंसे खटाकर या अनेक प्रकारके यत्नोंसे निर्मल होकर, या (देहादिकी ओरसे) मुड़कर, द्वन्द्व (शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) रहित, मान-रहित, ज्ञानरत, विषयोंसे विरत (निवृत्त) हो जाय। ऐसी दशामें भला कहो तो सही कि आनन्द-घन, ज्ञाननिधान कोशलनाथ रामजी प्रसन्न होकर क्यों नहीं वशमें हो जायँगे? ॥२॥ सब प्राणियोंकी भलाईका भाव, निर्विकार चित्त, भक्ति-प्रेम, दृढ़ नेम और एक-रस, यह सब तभी होता है, जब रावण-हन्ता भगवान् रामजी कृपा करते हैं ॥३॥

विशेष

१—'ग्यानरत'—ज्ञान क्या है, इसपर और अधिक न लिखकर गीताका एक श्लोक लिख देना अधिक उत्तम होगा। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है:—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धिसात्त्विकम् ॥
गीता० अ० १८, श्लोक २०

अर्थात् 'जिस ज्ञानसे यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियोंमें एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्त्विक ज्ञान जानो ।'—आगेके २०५ वें पदमें गोस्वामीजीने भी यही बात कही है ।

२—'द्वन्द्व-रहित......एकरस'—गोस्वामीजीने इस पदकी दूसरी पंक्तिमें जो देहादि पाँच वस्तुएँ गिनायी हैं, उनकी संगति उन्होंने तीसरी पंक्तिमें द्वन्द्व-रहित आदि पाँच वस्तुओंसे मिलायी है । उसी क्रमसे पाँचवीं पंक्तिमें भी सर्व-भूतहित आदि कहे गये हैं । अर्थात् द्वन्द्व-रहित होते ही सर्वभूत हितता आ जाती है, गतमान होते ही चित्त निर्विकार हो जाता है, ज्ञान-रत (यहाँ साधारण ज्ञानसे आशय है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान तो भक्तिकी चरमावस्था है और यों तो 'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा' होते ही भक्ति-प्रेमका उद्रेक दिखाई पड़ता है, विषयविरत होते ही दृढ़ नेम हो जाता है और नाना कसोंमें खटाते ही एकरसता प्राप्त हो जाती है ।

३—'खटाइ नाना कस'—इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है:—

(१) मन इस प्रकार विषयोंसे अलग हो जाता है, जैसे वह कस (काँसा-ताँबा-पीतल आदि) के पात्रोंमें रखी हुई खटाईसे हट जाता है ।

(२) अनेक प्रकारसे कसनेपर खरा उतरे ।

(३) अनेकों परीक्षाओंमें पूर्ण उतरे ।

[२०५]

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु ।
तौ तजि बिषय-बिकार, सार भजु, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु ॥१॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु ।
काम-क्रोध अरु लोभ मोह-मद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु ॥२॥

स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु ॥३॥
इहै भगति, बैराग्य, ज्ञान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥४॥

शब्दार्थ—निसेष = निःशेष, तनिक भी शेष न रहे। अनुसरु = अनुसरण कर। अग = गमनरहित, जड़। तोषन = प्रसन्न करनेवाला। आचरु = आचरण कर।

भावार्थ—रे मन! जो तू हरिरूपी कल्पवृक्षको भजना चाहता है, तो अभी विषयोंके विकारको छोड़कर साररूप श्रीरामजीको भज और जो मैं कहता हूँ, वही कर ॥१॥ समता, सन्तोष, अत्यन्त निर्मल विचार और सत्संग, इन चारोंको दृढ़ताके साथ धारण कर; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं राग-द्वेषको बिलकुल ही छोड़ दे ॥२॥ कानोंसे भगवत्कथा सुन, मुखसे रामका नाम ले, हृदयमें भगवान् (के स्वरूप) का ध्यान कर, मस्तकसे उन्हें प्रणाम कर तथा हाथोंसे सेवाका अनुसरण कर। नेत्रोंसे जड़-चैतन्यमय जानकीवल्लभ भगवान् रामचन्द्रको देख ॥३॥ यही भक्ति है, यही वैराग्य है, यही ज्ञान है और यही परमात्माको प्रसन्न करनेवाला शुभ व्रत है। इसीका तू आचरण कर। तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् शिवजीका मत है कि इस मार्गपर चलनेसे स्वप्नमें भी डर नहीं रहता ॥४॥

विशेष

१—'नयननि···सीताबरु'—यहाँ गुसाईंजीने नेत्रोंसे भगवान्‌को देखनेके लिए कहकर परमात्माका रूप भी स्पष्ट रीतिसे बता दिया है कि 'अग-जग-रूप भूत सीताबरु'। खूब!

२—'ज्ञान यह'—गुसाईंजी ऊपर बहुत-सी बातें बतलाते हुए कहते हैं कि 'अग-जग-रूप भूप सीताबरु' यह समझना ही ज्ञान है। २०४ थे पदकी टीकामें गीताके जिस श्लोकका अवतरण दिया गया है, उससे यहाँ सादृश्य हो जाता है।

[२०६]

नाहिन और कोउ सरन लायक,
दूजो श्रीरघुपति-सम बिपति-निवारन।

काको सहज सुभाउ सेवक बस,
काहि प्रनत पर प्रीति अकारन ॥१॥
जन-गुन अलप गनत सुमेरु करि,
अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु, भगत-चिन्तामनि,
बिरद पुनीत, पतितजन-तारन ॥२॥
सुमिरत सुलभ, दास-दुख सुनि हरि,
चलत तुरत, पटपीत सँभार न।
साखि पुरान-निगम-आगम सब,
जानत द्रुपद-सुता अरु बारन ॥३॥
जाको जस गावत कबि-कोबिद,
जिन्ह के लोभ-मोह, मद-मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु,
कोसलपति मुनिबधू-उधारन ॥४॥

शब्दार्थ—प्रनत = भक्त। वारन = हाथी। कोविद = विद्वान्। मुनिवधू = अहल्या।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजीके समान विपत्तियोंको दूर करनेवाला दूसरा और कोई नहीं है जो शरण लेने योग्य हो (अर्थात् जिसकी शरण ली जाय)। ऐसा सहज स्वभाव किसका है जो अपने सेवकोंके वशमें रहता हो, और भक्तोंपर बिना किसी कारणके किसका प्रेम है? ॥१॥ वह (रामजी) भक्तोंके थोड़ेसे गुणको सुमेरुगिरिके समान मानते हैं और करोड़ों दोषोंको देखकर भी (उन दोषोंको) भुला देते हैं। वह परम कृपालु हैं, भक्तोंके लिए चिन्तामणि हैं, पवित्र यशवाले हैं तथा पतितजनोंको तारनेवाले हैं ॥२॥ भगवान् स्मरण करनेमें सुलभ हैं, और भक्तोंके दुःख सुनकर तुरन्त चल पड़ते हैं—अपने पीताम्बरतकको नहीं सँभालते। इसके लिए पुराण, वेद और सब शास्त्र साक्षी हैं; यह बात द्रौपदी और गजेन्द्र-को मालूम है ॥३॥ जिनका यश ऐसे कवि और विद्वान् गाते हैं, जो लोभ, मोह, मद और कामसे रहित हैं। इसलिए हे तुलसीदास! सब आशाओंको छोड़कर मुनि-वधू (अहल्या) का उद्धार करनेवाले कोशलेन्द्र भगवान् रामचन्द्रको भज ॥४॥

विशेष

१—'पटपीत सँभार न'—इसपर महात्मा सूरदासजीने भी बड़ी ही सुन्दर और मधुर रचना की है। आपने उस समयका वर्णन किया है, जब भीष्मपितामहने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'आजु रन हरिसों अस्त्र गहैहों', और भक्तकी प्रतिज्ञाकी लाज रखनेके लिए भगवान् पीताम्बरको सँभाले बिना ही अर्जुनके रथसे कूदकर दौड़े थे :—

'वह पटपीत की फहरानि।
रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच-रज की लपटानि॥
कर धरि चक्र चरन की धावनि नहिं बिसरत वह बानि।
मानहु सिंह सैल ते निकस्यो महामत्त गज जानि॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारो निकट भयो है आनि॥'

२—'द्रुपद-सुता'—द्रौपदी; ९३ पदके विशेषमें देखिये। द्रौपदी क्यों नहीं जानेंगी! नन्दलालको कोई अपने घरसे वस्त्र निकालकर देना तो था नहीं! कविने कहा भी है :—

कबै आप गए थे बिसाहन बजार बीच,
कबै बौलि जुलहा बुनाए दरपट से।
नन्दजीकी कामरी न काहू बसुदेवजीकी,
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटि से॥
'मोहन' भनत यामैं, रावरी बड़ाई कहा,
राखि लीन्हीं आनि-बानि ऐसे नटखट से।
गोपिनके लीन्हे तब चीर चोरि चोरि अब,
जोरि जोरि दैन लागे द्रौपदी के पट से॥

—मोहन

३—'बारन'—गजेन्द्र; ८३ वें पदके विशेषमें देखिये।

४—'मुनिबधू'—४३ वें पदके विशेषमें देखिये।

[२०७]

भजिबे लायक, सुखदायक रघुनायक
सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।
आनँदभवन, दुखदवन, सोकसमन
रमारमन गुन गनत सिराहिं न ॥१॥
आरत, अधम, कुजाति, कुटिल, खल,
पतित, सभीत, कहूँ जे समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक
पावत सो पद, जहाँ सुर जाहिं न ॥२॥
जाके पद कमल लुब्ध मुनि-मधुकर,
बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न।
तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस,
कारुनीक जो अनाथहिं दाहिन ॥३॥

शब्दार्थ—समाहिं=समाना, अँटना, आश्रय पाना। मधुकर=भ्रमर। दाहिन=दाहिने, अनुकूल।

भावार्थ—श्रीरामजीके समान भजन करने योग्य, सुखदायी और शरण देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आनन्द-स्वरूप, दुःखोंके नाशक, शोकको दूर करनेवाले लक्ष्मीकान्तके गुण गिनानेसे समाप्त नहीं हो सकते ॥१॥ जो दुखिया, अधम, कुजाति, कुटिल, दुष्ट, पतित और भयभीत कहीं भी आश्रय नहीं पाते, वे यदि विवश होकर भी एक बार भगवान्के नामका स्मरण करते हैं, तो वह पद पा जाते हैं जहाँ देवता भी नहीं जा सकते ॥२॥ जिनके चरणकमलोंमें वे विरक्त मुनि-रूपी भ्रमर लुब्ध रहते हैं जो मोक्षपर भी लुब्ध नहीं होते, तुलसीदास कहते हैं कि रे शठ! भला तू अनाथोंके अनुकूल रहनेवाले, परम कारुणिक ऐसे प्रभुका भजन क्यों नहीं करता!

विशेष

१—'बिबस हूँ'—यहाँपर यह शब्द बड़ा ही सार्थक प्रयुक्त हुआ है। इस शब्दका यह आशय है कि श्रद्धाभक्तिपूर्वक सुखमय समयमें नामका स्मरण

करना तो दूर रहा, दुःखमें भी, यदि रामनामका स्मरण किया जाता है तो भगवान् उसे तार देते हैं, यह नहीं सोचते कि हर तरहसे हारकर इसने स्मरण किया है, इसलिए इसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये ।

राग कल्याण

[२०८]

नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावौं ।
त्रिविध[1] बिधि अमित अवलोकि अघ आपने,
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं ॥१॥
बिरचि[1] हरिभगतिको बेष बर टाटिका,
कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं ।
नाम-लगि लाइ लासा ललित-बचन कहि,
ब्याध ज्यों बिषय-बिहँगनि बझावौं ॥२॥
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि,
साधु गनतीमें पहलेहि गनावौं ।
परम बर्बर खर्ब गर्ब-पर्बत चढ़्यो,
अग्य सर्बग्य, जन-मनि जनावौं ॥३॥
साँच किधौं झूठ मोको कहत कोउ-
कोउ राम ! रावरो, हौं तुम्हरो कहावौं ।
बिरदकी लाज करि दास तुलसिहिं देव !
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ॥४॥

शब्दार्थ—बिरचि = रचकर, बनाकर । टाटिका = टट्टी । पल्लवनि = पत्तों । लासा = गोंद । बर्बर = नीच । खर्ब = क्षुद्र । जन-मनि = भक्तशिरोमणि ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपको मैं किस तरह अपनी विनती कह सुनाऊँ ? अपने तीनों तरहके (कायिक, वाचिक और मानसिक) अगणित पापोंको देखकर आपके सम्मुख शरणमें होते ही लज्जावश सिर झुका लेता हूँ ॥१॥ ईश्वर-भक्तिके

१. पाठान्तर—'बिबिध' ।

वेषकी सुन्दर टट्टी बनाकर उसे कपट-समूहरूपी हरे पल्लवोंसे छाता हूँ। फिर (राम) नामकी लग्गी लगाकर ललित वचनोंका लासा लगाता हूँ और बहेलियोंकी तरह विषयरूपी पक्षियोंको फँसाता हूँ ॥२॥ मेरे एक-एक रोमपर सौ करोड़ कुटिल वारे (निछावर किये) जा सकते हैं, फिर भी मैं अपनेको प्रथम श्रेणीके सन्तोंमें गिनाता हूँ। मैं परम नीच एवं क्षुद्र हूँ, तथा अभिमानके पहाड़पर चढ़ा हुआ हूँ (अर्थात् बहुत बड़ा अभिमानी हूँ)। मूर्ख होनेपर भी अपनेको सर्वज्ञ और भक्त-मणि सूचित करता हूँ ॥३॥ हे रामजी! नहीं कह सकता कि सच है या झूठ, पर कोई-कोई मुझे आपहीका (दास) कहते हैं और मैं भी अपनेको आपहीका कहलवाता हूँ। अतः हे देव! अब आप अपने बानेकी लाज करके इस सेवक तुलसीको अपना लीजिये; बाँव (तरह) न दीजिये ॥४॥

विशेष

१—'निरचि⋯⋯बिहँगनि बझावौं'—बहेलिया पक्षियोंको फँसानेके लिए बाँसकी टट्टी बनाकर हरे पत्तोंसे छाता है; यहाँ हरिभक्तिका वेष, यानी तिलक-मुद्रा आदि ही टट्टी है और कपट अर्थात् ऊपर तो वैराग्यके चिह्न और अन्त-करणमें विषय-कामना, यही हरे पत्ते हैं। यहाँ संसारको सुनानेके लिए राम-नामका जप ही लग्गी है और ललित वचन ही लासा है।

[२०९]

नाहिनै नाथ! अवलंब मोहिं आन की!
करम-मन-वचन पन सत्य करुनानिधे,
एक गति राम! भवदीय पदत्रान की ॥१॥

कोह-मद-मोह-ममतायतन जानि मन,
बात नहिं जात कहि ग्यान-बिग्यान की।
काम-संकलप उर निरखि बहु बासनहिं,
आस नहिं एक हू आँक निरबान की ॥२॥

बेद-बोधित करम धरम बिनु अगम अति,
जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की।

सिद्ध-सुर-मनुज-दनुजादि सेवत कठिन,
द्रवहि हठजोग दिये भोग बलि प्रान की ॥३॥
भगति दुरलभ परम, संभु-सुक-मुनि-मधुप,
प्यास पदकंज-मकरंद-मधुपान की ।
पतित-पावन सुनत नाम बिस्राम-कृत,
भ्रमित पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमान की ॥४॥
नरक-अधिकार मम घोर संसार-तम-
कूपकहिं, भूप ! मोहिं सक्ति आपान की ।
दास तुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की ॥५॥

शब्दार्थ—भवदीय = आपके । पदत्रान = जूता । आँक = अंश । कूपकहिं = कुएँमें । आपानकी = आपकी । ग्याति = (ज्ञाति) जाति ।

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे दूसरेका अवलम्ब नहीं है । हे करुणानिधे ! मन, वचन और कर्मसे मेरी यह सत्य प्रतिज्ञा है कि मुझे केवल आपकी पनहीका सहारा है ॥१॥ मैं जानता हूँ कि मेरा मन क्रोध, मद, मोह और ममताका घर है; इसीसे मैं ज्ञान-विज्ञानकी बातें नहीं कह सकता । हृदयमें अनेक तरहकी कामनाओंके संकल्पों और वासनाओंको देखकर किसी भी अंशमें मुझे मोक्षकी आशा नहीं है (क्योंकि वासनाओंके आत्यन्तिक लयका नाम ही मोक्ष है, किन्तु वासनाएँ बनी हुई हैं, इसलिए मुक्ति नहीं हो सकती) ॥२॥ यद्यपि वेदोक्त कर्म-धर्मके बिना (स्वर्ग-प्राप्ति) अत्यन्त कठिन है, फिर भी मेरे हृदयमें स्वर्गमें जानेकी लालसा है । इसके सिवा सिद्ध, देवता, मनुष्य एवं राक्षसोंकी सेवा करना बहुत कठिन है । क्योंकि ये लोग हठयोग करने और प्राणोंकी बलि देकर भोग चढ़ाने-से पिघलते हैं (किन्तु यह मेरा किया नहीं हो सकता) ॥३॥ रही भक्ति, सो वह बहुत ही दुर्लभ वस्तु है; क्योंकि आपके चरणारविन्दके मधुर परागको पान करनेके लिए शिव, शुकदेव तथा (अन्यान्य बड़े-बड़े) मुनिरूपी भौंरे प्यासे रहते हैं (ऐसी दशामें मेरे जैसे अकिंचनको वह कैसे मिल सकता है ?) । मैंने सुना है कि आपका नाम पतितोंको पवित्र करनेवाला तथा शान्ति देनेवाला है; फिर भी

चित्तमें अभिमानकी गाँठ पड़ी रहनेके कारण समझ-बूझकर भ्रममें पड़ जाता हूँ ॥४॥ हे राजन् ! घोर संसाररूपी अन्धकूपमें पड़ा हुआ मैं (सब तरहसे) नरकका ही अधिकारी हूँ । यदि मुझे किसी बातका बल है, तो बस आपहीका । (आपहीके भरोसे) यह तुलसीदास निषाद, गीध और हनुमान्‌की जातिका स्मरण करके अपने मनमें उसका (संसारान्धकूप या नरकमें पड़नेका) भी भय नहीं मानता ॥५॥

विशेष

१—'गुह'—निषाद; १०६ पदके विशेषमें देखिये ।

२—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये ।

३—'गज'—८३ पदके विशेषमें देखिये ।

[२१०]

और कहँ ठौर रघुबंस-मनि ! मेरे ।
पतित-पावन प्रनत-पाल असरन-सरन,
बाँकुरे बिरद बिरुदैत केहि केरे ॥१॥
समुझि जिय दोस अति रोस करि राम जो,
करत नहिं कान बिनती बदन फेरे ।
तदपि ह्वै निडर हौं कहौं करुना-सिन्धु,
क्योंऽब रहि जात सुनि बात बिनु हेरे ॥२॥
मुख्य रुचि होत बसिबेकी पुर रावरे,
राम ! तेहि रुचिहि कामादि गन घेरे ।
अगम अपबर्ग, अरु सर्ग सुकृतैकफल,
नाम-बल क्यों बसौं जम-नगर नेरे ॥३॥
कतहुँ नहिं ठाउँ, कहँ जाउँ कोसलनाथ !
दीन बितहीन हौं, बिकल बिनु डेरे ।
दास तुलसिहिं बास देहु अब करि कृपा,
बसत गज गीध ब्याधादि जेहि खेरे ॥४॥

शब्दार्थ—क्योंऽव = क्यों + अव। अपवर्ग = मोक्ष। नेरे = निकट, पास। डेरे = डेरा, स्थान। खेरे = गाँवमें।

भावार्थ—हे रघुवंशमणि! मेरे लिए और कहाँ ठिकाना है। आप पापियों-को पवित्र करनेवाले एवं अशरण-शरण हैं। आपका-सा बाँका या निराला बाना किस बानेवालेका है? ॥१॥ हे रामजी! यद्यपि आप मेरे अपराधोंको अपने हृदयमें समझकर अत्यन्त क्रोध करनेके कारण मेरी विनतीपर ध्यान नहीं दे रहे हैं और मेरी ओरसे मुँह फेरे हुए हैं, तथापि हे करुणा-सागर! मैं निडर होकर कहता हूँ कि मेरी बात सुनकर मेरी ओर देखे बिना आपसे कैसे रहा जाता है? ॥२॥ मुख्य बात यह है कि आपके पुरमें बसनेकी मेरी रुचि होती है; किन्तु हे रामजी! उस रुचिको कामादि गणोंने घेर लिया है। मोक्ष दुर्लभ है और स्वर्ग भी एकमात्र पुण्यका फल है; नामके बलसे यमपुरीके निकट भी मैं कैसे जा सकता हूँ? तात्पर्य यह कि मोक्ष, स्वर्ग तथा नरक किसीका भी मैं अधि-कारी नहीं ॥३॥ हे कोशलेन्द्र! मुझे कहीं भी ठौर नहीं; कहाँ जाऊँ? मैं गरीब और निर्धन हूँ, कोई स्थान न रहनेके कारण व्याकुल हो रहा हूँ नाथ! अब आप कृपा करके इस सेवक तुलसीको उस गाँवमें रहनेकी जगह दीजिये, जहाँ गजेन्द्र, गीध और व्याध आदि रहते हैं ॥४॥

विशेष

१—'करुना-सिन्धु'—कहनेका यह भाव है कि आप तो करुणा-सागर हैं, फिर मुझपर करुणा किये बिना आपसे कैसे रहा जाता है?

२—'गज'—८३ पदके विशेषमें देखिये।

३—'गीध'—१२५ पदके विशेषमें देखिये।

४—'व्याध'—२४ पदके विशेषमें देखिये।

५—'व्याधादि'—इसमें 'आदि' शब्द शबरी, गणिका, अजामिल वगैरहके लिए आया है।

[२११]

कबहुँ रघुबंस-मनि! सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा ब्याध, गज, बिप्र, खल नर तरे,
तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे ॥१॥

जोनि बहु जनमि किये करम खल बिबिध बिधि,
अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुगे।
दीन हित अजित सरबग्य समरथ प्रनत-
पाल चित मृदुल निज गुननि अनुसरहुगे ॥२॥
मोह मद मान कामादि खल-मंडली
सकुल निरमूल करि दुसह दुख हरहुगे।
जोग-जप-जग्य बिग्यान ते अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुगे ॥३॥
मंदजन-मौलिमनि सकल साधन-हीन,
कुटिल मन मलिन जिय जानि जो डरहुगे।
दास तुलसी बेद-बिदित बिरुदावली
बिमल जस नाथ ! केहि भाँति बिस्तरहुगे ॥४॥

शब्दार्थ—विप्र = ब्राह्मण, अजामिल। मृदुल = कोमल। मौलिमनि = शिरोमणि। कुटिल = दुष्ट, विकारी। मलिन = पापी। विरुदावली = गुणावली।

भावार्थ—हे रघुवंशमणि ! क्या कभी आप मुझपर वह कृपा करेंगे जिस कृपासे व्याध, गजेन्द्र, अजामिल आदि दुष्ट मनुष्य तरे थे ? हे नाथ ! क्या आप उन लोगोंके समान मुझे भी मानकर मेरा उद्धार करेंगे ? ॥१॥ बहुतसी योनियोंमें जन्म लेकर मैंने नाना प्रकारके दुष्ट कर्म किये हैं; किन्तु आप मेरे नीच आचरण-को हृदयमें न लाइयेगा। आप दीनोंके हितू, अजेय, सर्वज्ञ, सामर्थ्यवान और प्रणतपाल हैं ! क्या आप अपने कोमल चित्तसे अपने (इन नामोंके) गुणोंका अनुसरण करेंगे ? अर्थात् आप दीनोंके हितू हैं, अतः क्या मुझ दीनका हित न करेंगे ? आप अजेय हैं, अतः क्या मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओंको परास्त न करेंगे ? आप सर्वज्ञ हैं, अतः क्या मेरे हृद्गत भावोंको न समझेंगे ? आप समर्थ हैं, अतः क्या मुझ अधर्मीको अपने सामर्थ्यसे न तारेंगे ? आप प्रणतपाल हैं, अतः क्या मुझ शरणागतका पालन न करेंगे ? ॥२॥ क्या आप (मेरे हृदय-स्थित) मोह, मद, मान, काम आदि दुष्टोंकी मण्डलीको उनके परिवार-सहित समूल नष्ट करके मेरे असह्य दुःखोंको दूर करेंगे ? क्या आप योग, जप, यज्ञ और

विज्ञानकी अपेक्षा अत्यधिक निर्मल अपनी दृढ़ भक्ति (अनन्य भक्ति) देकर मेरे हृदयमें परमानन्द भरेंगे ? ॥३॥ यदि आप अपने हृदयमें इस तुलसीदासको मन्द पुरुषोंका शिरोमणि, सब प्रकारके साधनोंसे हीन, कुटिल मनवाला और मलिन समझकर डरेंगे (कि इतने बड़े पातकीका उद्धार करनेसे लोक-निन्दा होगी), तो हे नाथ ! आप वेद-विख्यत अपनी विरुदावली और विमल यशका विस्तार किस प्रकार करेंगे ? ॥४॥

विशेष

१—'सकुल'—झूठ बोलना, छल-कपट, निन्द्य कर्म आदि ही काम-क्रोधादि खलोंके परिवार हैं। क्योंकि कामादिसे ही उक्त दुर्गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

२—'व्याध'—९४ पदके विशेषमें देखिये।

३—'गज'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

४—'विप्र'—अजामिल; ५७ पदके विशेषमें देखिये।

राग केदारा

[२१२]

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु, प्रनत-प्रतिपालक, पतित-पवन ॥१॥
क्रूर, कुटिल, कुलहीन, दीन, अति मलिन जवन।
सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन ॥२॥
गज-पिंगला-अजामिल से खल गनै धौं कवन।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकी-रवन ॥३॥

शब्दार्थ—दवन = दमन, नाश करनेवाले। पवन = पवित्र करनेवाला। जवन = जो।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी विपत्तियोंका नाश करनेवाले हैं। वह बड़े ही

कृपालु, दीनोंको पालनेवाले तथा पापियोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥१॥ क्रूरों, दुष्टों, नीचों, गरीबों और अत्यन्त मलिन या पापियोंको भी नामका स्मरण करते ही रामजीने अपने धाममें भेज दिया ॥२॥ गजेन्द्र, पिंगला वेश्या तथा अजामिल आदि दुष्टोंकी गणना कौन कर सकता है ? (थोड़ेमें यों कहा जा सकता है कि) तुलसीदासके प्रभु जानकी-वल्लभ श्रीरामजीने किसे मुक्त नहीं कर दिया ? ॥३॥

विशेष

१—'पवन'—वियोगी हरिजीने लिखा है, "पवन=पवित्र करनेवाला; शुद्ध शब्द 'पावन' है। यह आर्ष प्रयोग है।" किन्तु वास्तवमें 'पवन' शुद्ध संस्कृत शब्द है, आर्ष प्रयोग नहीं है। यह 'पूञ् पवने' धातुसे बना है। इसका अर्थ है 'पवित्र करनेवाला'। इसीसे वायुको भी पवन कहते हैं। क्योंकि वायुसे सब वस्तुएँ पवित्र होती हैं।—मेदिनी कोषमें भी लिखा है, 'कुम्भकारस्य आमघटादिपाकस्थानम्, पवित्रीकरणं च' अर्थात् कुम्भारके घड़ा आदि बर्तन पकानेका स्थान 'आवाँ'।

२—'जवन'—इसका अर्थ पतित 'यवन' भी हो सकता है। इसका इतिहास पीछे लिखा जा चुका है। ४६ पदके विशेषमें देखिये।

३—'गज'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

४—'पिंगला'—९४ पदके विशेषमें देखिये।

५—'अजामिल—५७ पदके विशेषमें देखिये।

[२१३]

हरि-सम आपदा-हरन।
नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह दुख-सागर-तरन ॥१॥

गज निज बल अवलोकि कमल गहि गयो सरन।
दीन बचन सुनि चले गरुड़ तजि सुनाभ-धरन ॥२॥

द्रुपदसुता को लग्यो दुसासन नगन करन।
'हा हरि पाहि' कहत पूरे पट बिबिध बरन ॥३॥

इहै जानि सुर-नर-मुनि-कोबिद सेवत चरन।
तुलसिदास प्रभुको अभय कियो नृग-उद्धरन ॥४॥

शब्दार्थ—सुनाभ = चक्रसुदर्शन। कोविद = पण्डित, ज्ञानी। नृग = एक राजाका नाम, राजा नृग।

भावार्थ—भगवान्के समान आपदाओंको हरनेवाला, स्वाभाविक कृपालु तथा असह्य दुःख-सागरसे पार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ जब गजेन्द्रने अपना बल देखकर (अपने बलकी परीक्षा कर चुकनेके बाद) कमल-पुष्प लेकर आपकी शरणमें पहुँचा, तब आप उसके दीन वचन सुनते ही चक्रसुदर्शन लेकर गरुड़को छोड़ (पैदल ही) चल पड़े ॥२॥ जब दुःशासन द्रौपदीको (भरी सभामें) नग्न करने लगा, तब उसके 'हा प्रभो ! रक्षा करो' कहते ही अनेक रंगकी साड़ियोंसे उसे पूर्ण कर दिया—उसकी लाज बचायी ॥३॥ यही सब जानकर देवता, मनुष्य, मुनि और पण्डित आपके चरणोंकी सेवा करते हैं। राजा नृगका उद्धार करनेवाले तुलसीदासके स्वामीने किसको अभय नहीं किया ? (जो कोई भी उनकी शरणमें गया, सबको निर्भय कर दिया) ॥४॥

विशेष

१—'सुनाभ'—कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ 'नाभि' लिखा है; किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जँचता।

२—'गज'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

३—'द्रुपदसुता'—९३ पदके विशेषमें देखिये।

४—'नृग'—सत्ययुगमें राजा नृग बड़े दानी थे। प्रतिदिन एक करोड़ गोदान करनेका उनका नियम था। एक बार उनकी गायोंमें भूलसे एक ऐसी गाय आ मिली, जिसे वह एक बार किसी ब्राह्मणको दे चुके थे। राजाने उसे पहचाना नहीं, और दूसरे ब्राह्मणको दे दिया। पहला ब्राह्मण अपनी गायका

पता लगाकर उस ब्राह्मणके पास पहुँचा और उसे चोर समझकर गायके लिए झगड़ा करने लगा। अन्तमें दोनों राजाके पास गये। राजाके राजी करनेपर भी वे दोनों ब्राह्मण राजी नहीं हुए और गाय छोड़कर यह शाप देते हुए चले गये कि 'तुमने हमें धोखा दिया है, इसलिए तुम गिरगिट हो जाओ। विप्रका शाप सत्य हुआ। बेचारे राजा बहुत दिनोंतक, द्वारकाके एक कुएँमें पड़े रहे। कहा भी है, 'कोटि गऊ राजा नृग दीन्हें तेउ भव-कूप परे।' भगवान्‌ने कृष्णावतारमें उस गिरगिटको कुएँसे निकाला और दिव्य शरीर देकर वैकुण्ठमें भेज दिया।

राग कल्याण

[२१४]

ऐसी कौन प्रभुकी रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥१॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥२॥
काम-मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह ॥३॥
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपुमें हरि राज-सभा मँझारि ॥४॥
ब्याध चित दै चरन मार्‍यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥५॥
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥६॥

शब्दार्थ—पाँवरनि = नीचों। कुच = स्तन। कालकूट = विष। जादवराइ = श्रीकृष्ण मँझारि = बीचमें। चित दै = निशाना साधकर। बानि = आदत, स्वभाव।

भावार्थ—ऐसी रीति और किस प्रभुकी है जो अपने बाने (की लाज रखने) के लिए पवित्र पुरुषों (ऋषियों) को छोड़कर नीचों (शबरी, चांडाल आदि) पर प्रेम करता हो ? ॥१॥ पूतना अपने स्तनोंमें विष लगाकर मारने

गयी, किन्तु परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने उसे माताके समान गति दी (स्वर्गमें भेज दिया) ॥२॥ आपने काम-मोहित गोपियोंपर ऐसी कृपा की थी जिसकी तुलना नहीं की जा सकती, और जिसके कारण जगत्-पिता ब्रह्माने भी उनका (गोपियोंका) चरण-रज लिया ॥३॥ शिशुपाल नियम बाँधकर प्रतिदिन भगवान्‌को गिन-गिनकर गालियाँ दिया करता था; किन्तु प्रभुने राज-सभाके बीचमें उसे अपनेमें लीन कर लिया (मारकर मुक्त कर दिया) ॥४॥ मूढ़ बुद्धि व्याधने मृग जानकर निशाना साधकर आपके चरणमें बाण मारा, पर आपने उसे सदेह अपने लोकमें भेजकर अपने (दयालु) स्वभावका परिचय दिया ॥५॥ किन्तु उन लोगोंकी बात कौन कहे जिन लोगोंके पुण्य और पाप दोनों थे (अर्थात् जिन लोगोंने पुण्य और पाप दोनों किये थे); आपने तो अपनी शरणमें इस तुलसीदासको भी रख लिया जो प्रत्यक्ष पापकी मूर्ति है ॥६॥

विशेष

१—आजकलके अधिकांश उपासक भगवान्‌के अवतारोंमें भेद मानते हैं, किन्तु शास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करनेवाले गुसाईंजीकी इस पदमें अभेद दृष्टि दिखाई पड़ती है। गुसाईंजीकी रचनाओंमें इस प्रकार अभेदकी झलक कई जगह दिखाई पड़ती है।

२—'पूतना'—पूर्वजन्ममें एक अप्सरा थी। भगवान् वामनका बाल-स्वरूप देखकर उसे इच्छा हुई कि स्नेहपूर्वक इस बालकको स्तन पिलाऊँ। अन्तमें वह किसी घोर पापके कारण राक्षसी हुई। कृष्ण भगवान्‌के मामा कंसने स्तनका दूध पिलाकर अविनाशी भगवान् कृष्णको मार डालनेके लिए उसे भेजा था। किन्तु दयालु परमात्माने उसकी बुरी नीयतपर ध्यान नहीं दिया और उसकी पूर्वजन्मकी अभिलाषा पूरी की।

३—'काम-मोहित'—इससे यह न समझना चाहिये कि ब्रजांगनाएँ कुलटा थीं, और भगवान् श्रीकृष्ण उनके साथ रमण करते थे। आजकल लोगोंकी ऐसी ही भ्रान्त धारणा हो गयी है, और पुराणोंके अच्छे-अच्छे संस्कृत टीका-कारोंने श्रीमद्भागवतके दशमस्कंध रासपंचाध्यायीपर इसी दृष्टिकोणसे टीका भी की है। किन्तु यथार्थतः न तो उसका वह अर्थ है और न वह संगत ही प्रतीत

होता है। सोचिये न ! कृष्णजी पूर्णावतार माने जाते हैं। अवतार हुआ करता है, अधर्मका नाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिए। यह स्वयं सिद्ध है कि कृष्ण पूर्णावतार थे। उनके पूर्णत्वमें किसी तरहका सन्देह नहीं। जिस बातको वेद-शास्त्र एक स्वरसे कह रहे हैं, जिसकी पुष्टि बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनि कर गये हैं, उस बातका खंडन कोई भी आस्तिक बुद्धि नहीं कर सकती। और फिर कृष्ण भगवान्के प्रत्येक कार्यपर सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करनेपर भी यही प्रतीत होता है कि वह पूर्णावतार थे। इस बातको अच्छी तरह समझनेके लिए हमें श्रीमद्भागवतकी उत्पत्तिपर विचार करना होगा। देखिये, शापवश राजा परीक्षित्के जीवनकी अवधि केवल सात दिन रह गयी थी। उस समय उन्होंने अपने उद्धारके लिए श्रीमद्भागवतकी कथा सुनी थी। आचार्य चुने गये थे, बालब्रह्मचारी महामुनि शुकदेवजी। अब विचारणीय बात है कि क्या श्रृंगार-प्रधान केलि-कलहपूर्ण कथा सुनकर राजा परीक्षित् मुक्त हो सकते थे ? कदापि नहीं। और फिर यदि श्रृंगार-रसकी ही कथा अभिप्रेत होती, तो उसके लिए बालब्रह्मचारी शुकदेवजी उपयुक्त आचार्य क्यों चुने जाते ? एक बालब्रह्मचारी वैषयिक बातोंका वर्णन क्या करेगा ? इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवतकी कथा केलि-कलहपूर्ण नहीं है। व्रजांगनाओंके पवित्र भावका पता एक बातसे और चलता है; श्रीमद्भागवतमें राजा परीक्षित्ने ब्रह्मर्षि शुकदेवजीसे प्रश्न किया कि गोपियोंके काम-मोहित होनेपर भी उन्हें परम-पद कैसे मिला ? इसके उत्तरमें महर्षिने कहा कि जिन गोपिकाओंने समस्त संसारको, यहाँतक कि अपने परम प्रिय जीवनको भी भगवान् श्रीकृष्ण-पर न्यौछावर कर दिया और उनसे निष्काम प्रीति की, वे काम-मोहित कैसे कही जा सकती हैं ? स्थानाभावके कारण यहाँ उस विषयका विवेचन विस्तृत रूपसे नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वरकी कृपा हुई तो मैं इस विषयपर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखूँगा।

अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गुसाईंजीने व्रजांगनाओंको काम-मोहित क्यों कहा ? बात यह है कि अन्य-अन्य अवतारोंमें (जैसे रामावतार आदिमें, सूर्पणखा आदि) स्त्रियाँ भगवान्के रूप-माधुर्यपर मुग्ध होकर उन्हें पतिरूपमें अथवा प्रेमीके रूपमें देखना चाहती थीं और भगवान्ने अपने

कृष्णावतारमें उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेका वचन दिया था। (जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी) किन्तु परमात्माकी प्रेरणासे वे ही कामातुर स्त्रियाँ जब गोपियोंके रूपमें उत्पन्न हुईं, तब उनका वह भाव नहीं रह गया। उनमें शुद्ध प्रेम उत्पन्न हो गया। यह है ईश्वर-साक्षात्कारकी महिमा। इससे व्रजांगनाओंका प्रेम सखा-भावमय हो गया। जान पड़ता है कि उसी बातको लक्ष्य करके गुसाईंजीने यहाँ 'काम-मोहित' लिखा है। अर्थात् गोपिकाएँ तो काम-मोहित होकर अवतरित हुई थीं, पर भगवान्‌ने कृपा करके उनका भाव ही पलट दिया। वास्तवमें व्रजांगनाएँ धन्य हो गयीं। उनके भाग्यकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। कविवर रसखानने क्या खूब कहा है:—

संकरसे मुनि जाहिं रटैं, चतुरानन आनन चार तें गावैं।
सो हिय नैंक हि आवत ही, मति-मूढ़ महा 'रसखानि' कहावैं।
जापर देव अदेव भुजंगम, बारन प्रानन बार न लावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछियाँ भरि छाँछको नाच नचावैं॥

—रसखान।

४—'सिसुपाल'—यह चेदि देशका राजा था। आजकल चेदि नगरको चंदेरी कहते हैं जोकि ग्वालियर राज्यके अन्तर्गत है। यह कृष्ण भगवान्‌को प्रतिदिन सौ गालियाँ दिया करता था। यह कृष्णकी बुआका लड़का था। भगवान् अपनी बुआको वचन दे चुके थे कि शिशुपालकी सौ गालियाँतक मैं सह लूँगा। एक दिन पाण्डवोंकी राज्य-सभामें जब शिशुपाल सौसे अधिक गालियाँ देने लगा, तब भगवान्‌ने चक्रसुदर्शनसे उसका सिर काट लिया। देखते ही देखते उसकी आत्म-ज्योति भगवान्‌के श्रीमुखमें प्रवेश कर गयी।

५—'व्याध'—'जरा' नामक व्याधकी कथा पीछे लिखी जा चुकी है। इसने पूर्वजन्मका बदला चुकानेके लिए धोखेसे श्रीकृष्णके चरणमें बाण मार दिया था। ९४ पदके विशेषमें देखिये।

[२१५]

श्री रघुबीर की यह बानी।
नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानी॥१॥

परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि ?
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेमको पहिचानि ॥२॥
गीध कौन दयालु, जो बिधि रच्यो हिंसा सानि ?
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥३॥
प्रकृति-मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन-खानि ।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि ॥४॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि ।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह-दसा भुलानि ॥५॥
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि ।
किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥६॥
राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि ।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥७॥

शब्दार्थ—पाँवर = नीच, पापी । कानि = प्रतिष्ठा । सानि = सानकर । जनक = पिता । आनि = लाकर । दिनदानि = सदैव दानी ।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजीकी यह आदत है कि वह अपने मनमें सुन्दर प्रेमका अनुमान करके नीचसे भी प्रेम करते हैं ॥१॥ निषाद अत्यन्त अधम और पापी था । उसकी कौनसी प्रतिष्ठा थी ? किन्तु उसके प्रेमको पहचानकर रामजीने उसे पुत्रके समान हृदयसे लगा लिया ॥१॥ गीध कौनसा दयालु था जिसे ब्रह्माने हिंसामें सानकर (हिंसामय) बनाया था ? किन्तु रामजीने पिताके समान उसे अपने हाथसे पानी दिया ॥३॥ स्वभावकी मलिन और नीच जातिकी शबरी सब अवगुणोंकी खान थी । किन्तु रामजीने उसके दिये हुए फलोंको बड़ी रुचिके साथ बखान-बखानकर खाया ॥४॥ राक्षस और शत्रु विभीषणको शरणमें आया जानकर आपने उठकर उसे भरतकी तरह हृदयसे लगा लिया और (प्रेमकी अधिकताके कारण) अपने शरीरकी भी सुध भूल गये ॥५॥ बन्दर भला कौनसे सुन्दर और सुशील होते हैं जिनका स्मरण करनेसे भी हानि होती है । किन्तु रामजीने उन बन्दरोंको अपना सखा बनाया था और अपने घर लाकर उनकी पूजा भी की थी (आदर-सत्कार किया था) ॥६॥ रामजी सहज कृपालु

कोमल, दीन-हितकारी और सदैव दान देनेवाले हैं। इसलिए हे तुलसीदास! तू कुटिलता और कपट न रखकर ऐसे प्रभु (श्री रामजी) का भजन कर ॥७॥

विशेष

१—'निषाद'—१०६ पदके विशेषमें देखिये।

२—'गीध'—जटायु; इसने सीताको छुड़ानेके लिए रावणसे युद्ध करके प्राण-त्याग किया था। रामजीने अपने पिताके समान, इसका दाह-संस्कार किया था।

३—'सबरी'—१०४ पदके विशेषमें देखिये।

[२१६]

हरि तजि और भजिये काहि ?
नाहिने कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि ॥१॥
कनककसिपु बिरंचि को जन करम मन अरु बात।
सुतहि दुखवत विधि न बरज्यो काल के घर जात ॥२॥
संभु-सेवक जान जग, बहु बार दिय दससीस।
करत राम-विरोध सो सपनेहुँ न हरक्यो ईस ॥३॥
और देवन की कहा कहौं, स्वारथहि के मीत।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत ॥४॥
को न सेवत देत संपति लोकहू यह रीति।
दास तुलसी दीनपर एक राम ही की प्रीति ॥५॥

शब्दार्थ—कनककसिपु = हिरण्यकशिपु। हरक्यो = मना किया। ईस = शिवजी।

भावार्थ—परमात्माको छोड़कर और किसका भजन किया जाय। रामजी-की तरह ऐसा कोई नहीं है, जिसकी भक्तोंपर ममता हो ॥१॥ हिरण्यकशिपु मन, वचन और कर्मसे ब्रह्माका भक्त था। वह अपने पुत्र (प्रह्लाद) को दुःख पहुँचाने-के कारण, कालके घर चला गया, पर ब्रह्मा उसे न रोक सके (मृत्युसे न बचा सके) ॥२॥ संसार जानता है कि रावण शिवजीका भक्त था और उसने कई बार अपने सिर काटकर शिवजीको चढ़ाये थे। किन्तु जब वह रामजीसे वैर करने

लगा, तब शिवजीने उसे स्वप्नमें भी मना नहीं किया (परिणाम यह हुआ कि रावण मारा गया और शिवजीने उसकी रक्षा नहीं की) ॥३॥ (जब ब्रह्मा और शिवका यह हाल है, तब) और देवताओंके लिए क्या कहूँ, सब अपने मतलबके यार हैं। कभी भी किसीके भयभीत होकर शरणमें आनेपर उसे किसीने शरण नहीं दी ॥४॥ सेवा करनेपर कौन धन नहीं देता? (सब लोग देते हैं)। यही संसारकी रीति है। किन्तु हे तुलसीदास! दीन भक्तोंपर एक रामजीका ही (सच्चा) प्रेम है (अर्थात् रामजी ही अपने भक्तोंकी हर हालतमें रक्षा करते हैं) ॥५॥

विशेष

१—'कनककसिपु'—९३ पदके विशेषमें देखिये।

२—'हरक्यो'—प्रायः सभी प्रतियोंमें 'हटक्यो' पाठ है। किन्तु एक हस्त-लिखित प्रतिमें मुझे 'हरक्यो' पाठ मिला है। यही पाठ शुद्ध भी जान पड़ता है।

[२१७]

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ॥१॥
काहि ममता दीन पर, काको पतित-पावन नाम।
पाप मूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम ॥२॥
रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहि दई काहु न टेक ॥३॥
बिपुल-भूपति-सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु पाहि'।
सकल समरथ रहे, काहु न बसन दीन्हों ताहि ॥४॥
एक मुख क्यों कहौं करुनासिन्धु के गुन-गाथ?।
भक्तहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ! ॥५॥
आप से कहुँ सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दासतुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात ॥६॥

शब्दार्थ—करीसहि (करि+ईसहिं) = गजेन्द्रको। टेक = सहारा। सदसि = सभा। नर = अर्जुन। घिनात = घृणा करते हो।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि दूसरा कोई (आपके समान) होता, तो मैं बार-बार रोकर अपना दुःख आपहीको क्यों सुनाता ? ॥१॥ (आपके सिवा) दीनों-पर किसकी स्नेह-ममता है, और पतित-पावन किसका नाम है ? महापापी अजा-मिलको किसने अपना धाम दिया ? ॥२॥ शिव, ब्रह्मा, इन्द्र और अनेक लोक-पाल थे, पर शोकरूपी नदीमें डूबते हुए गजेन्द्रको किसीने सहारा नहीं दिया॥३॥ सभामें बहुतसे रजवाड़े बैठे थे और सभी अपने-अपनेको समर्थ थे, किन्तु जब अर्जुनकी स्त्री द्रौपदीने कहा, 'प्रभो ! मेरी रक्षा करो'—तब किसीने उसे वस्त्र नहीं दिया (यदि उसकी साड़ी बढ़ायी, तो आपहीने।) ॥४॥ मैं करुणा-निधान भगवान् रामजीकी गुण-गाथा एक मुखसे कैसे कहूँ ? हे कोशलनाथ ! आपने भक्तोंके लिए अवतार लेकर क्या-क्या नहीं किया ? ॥५॥ यदि आप मुझसे घृणा करते हों तो आप मुझे अपने ही समान किसी स्वामीको सौंप दीजिये। (यदि आप ऐसा न करेंगे तो) यह दास तुलसी आपके चरणोंको छोड़कर और किसी प्रकार भला अन्यत्र क्यों जाने लगा ? ॥६॥

विशेष

१—'अजामिल'—५७ पदके विशेषमें देखिये।

२—'करीस'—गजेन्द्र; ८३ पदके विशेषमें देखिये।

३—'नर-नारि'—द्रौपदी; ९३ पदके विशेषमें देखिये।

२१८]

कबहिं देखाइहौ हरि चरन।
समन सकल कलेस कलि-मल, सकल मंगल-करन ॥१॥
सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन-बारिज बरन।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥२॥
गंग-जनक अनंग-अरि-प्रिय कपट-बटु बलि-छरन।
बिप्रतिय नृग बधिक के दुख-दोस दारुन दरन ॥३॥
सिद्ध-सुर-मुनि-बृंद-बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन तरन ॥४॥

कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥५॥

शब्दार्थ—तरुनतर=अत्यन्त युवक, ताजा खिला हुआ। ललित=दुलार किये गये। बटु=ब्रह्मचारी। बधिक=बाल्मीकि।

भावार्थ—हे हरे! आप मुझे अपने उन चरणोंका दर्शन कब करायेंगे जो कलियुगके सब पापों और क्लेशोंका नाश करनेवाले तथा सब प्रकारसे कल्याणकारी हैं! ॥१॥ जो चरण शरद ऋतुमें उत्पन्न, सुन्दर और ताजा खिले हुए लाल कमलके रंगके हैं, जिनका लक्ष्मीजी अपनी ललित और अनुपम शोभा धारण करनेवाली हथेलियोंसे दुलार किया करती हैं ॥२॥ जो गंगाजीको उत्पन्न करनेवाले हैं, काम-रिपु शंकरजीके प्रिय हैं, तथा ब्रह्मचारीके कपट वेषमें राजा बलिको छलनेवाले हैं। जिन्होंने ब्राह्मण-पत्नी (अहिल्या), राजा नृग और बधिक-(बाल्मीकि) के दारुणदुःखों और दोषोंको दूर कर दिये ॥३॥ जो सिद्ध, देवता, मुनिवृन्द द्वारा वन्दित हैं तथा सबको सुख और शरण देनेवाले हैं; जिनका एक बार हृदयमें ध्यान करते ही मनुष्य स्वयं तरकर दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है ॥४॥ हे रघुनाथजी! आप कृपाके समुद्र हैं और चतुर हैं। आप शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले हैं। यह तुलसीदास (आपके उन चरणोंके) दर्शनकी आशा-रूपी प्याससे मरना चाहता है! (यदि शीघ्रातिशीघ्र आपके चरणोंका दर्शन न मिले, तो वह अवश्य मर जायगा) ॥५॥

विशेष

१—'बिप्रतिय'—अहिल्या; ४३ पदके विशेषमें देखिये।

२—'नृग'—२१३ पदके विशेषमें देखिये।

३—'बधिक'—इसका अर्थ वियोगी हरिजीने 'निषाद' लिखा है। किन्तु यहाँ एक तो यह अर्थ ठीक नहीं जँचता, दूसरे इसका सीधा-सादा अर्थ भी यह नहीं है। यों तो भक्तोंमें कुछ भी भेद नहीं है तथापि राजा नृग और अहिल्याकी श्रेणीमें बाल्मीकिका आना तथा शबरी, अजामिल एवं गणिकाकी श्रेणीमें निषादका आना अधिक उत्तम जँचता है। इसलिए यहाँ बधिकका अर्थ 'निषाद' नहीं बल्कि बाल्मीकि करना ही ठीक प्रतीत होता है।

[२१९]

द्वार हौं भोर ही को आजु ।
रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तें काजु ॥१॥
कलि कराल दुकाल दारुन, सब कुभाँति कुसाजु ।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाजु ॥२॥
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाजु ।
मोहुँ से कहुँ कतहुँ कोउ, तिन्ह कह्यो कोसलराजु ॥३॥
दीनता-दारिद दलै को कृपाबारिधि बाजु ।
दानि दसरथराय के, तू बानइत सिरताजु ॥४॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीबनिवाजु ।
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाजु ॥५॥

शब्दार्थ—रिरिहा = रिरियाने या गिड़गिड़ानेवाला । आरि = किनारा, घाट । हहरि = हारकर । सदय = कृपालु । बाजु = बिना, छोड़कर । बानइत = बाणैत, बानावाला । सुनाजु = सुन्दर अनाज, अच्छा भोजन ।

भावार्थ—आज मैं भोरहीसे दरवाजेपर हूँ और गिड़गिड़ाकर रट लगा रहा हूँ कि मेरे लिए और कोई घाट या जगह नहीं है, मुझे केवल कौरसे ही (भोजनसे ही) काम है ॥१॥ यह विकराल कलियुग दारुण दुर्भिक्ष रूप है; इसमें सब उपाय अथवा साधन बुरे हो गये हैं और कुसंग अर्थात् मन, बुद्धि इन्द्रिय आदिका व्यापार भी बुरा हो गया है । नीच आदमी हूँ और ऊँचा मन है; यह ठीक वैसे ही है, जैसे कोढ़ रोगमें खुजली । (अर्थात् जिस प्रकार कुष्ठ रोगमें खाज होनेपर न तो बिना खुजलाये रहा जाता है और न खुजलानेसे ही काम चलता है; क्योंकि खुजलाते ही कोढ़के घाव भभाने लगते हैं; उसी प्रकार नीच मनुष्यका ऊँचा मन भी है) ॥२॥ हृदयमें हार मानकर मैंने कृपालु-समाजमें जाकर पूछा कि कहिये तो सही मुझ सरीखोंके लिए भी कहीं कोई है ? साधु-समाजने कहा, कोशलेन्द्र श्रीरामजी हैं ॥३॥ कृपासागर भगवान् रामजीको छोड़कर दूसरा कौन दीनता और दरिद्रताका नाश कर सकता है ? अतः हे गरीब-निवाज, दशरथलला ! आप बाणैत-शिरोमणि और दानी हैं ॥४॥ और मैं

जन्मका भूखा भिखारी हूँ। इस (जन्मके भूखे) तुलसीदासको भक्तिरूपी अमृतके समान सुन्दर भोजन पेटभर खिला दीजिये ॥५॥

विशेष

१—'रटत······काजु'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि—यह गिड़गिड़ानेवाला रट रहा है, इसे कौर या भोजनसे ही काम है; और किसी बातके लिए आरि (हठ) नहीं है।

२—'बानइत सिरताजु'—का अर्थ 'बाना रखनेवालोंमें श्रेष्ठ' भी हो सकता है।

[२२०]

करिय सँभार, कोसलराय !
और ठौर न और गति, अवलंब नाम बिहाय ॥१॥
बूझि अपनी आपनो हित आप बाप न माय।
राम ! राउर नाम गुरु, सुर, स्वामि, सखा, सहाय ॥२॥
रामराज न चले मानस-मलिन के छल-छाय।
कोप तेहि कलिकाल कायर मुएहि घालत घाय ॥३॥
लेत केहरि को बयर ज्यों भेक हनि गोमाय।
त्योंहि राम-गुलाम जानि निकाम देत कुदाय ॥४॥
अकनि याके कपट-करतब, अमित अनय-अपाय।
सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहिं पछिताय ॥५॥
कृपासिंधु ! बिलोकिये, जन-मनकी साँसति साय।
सरन आयो, देव ! दीनदयालु ! देखन पाय ॥६॥
निकट बोलि न बरजिये, बलि जाउँ, हनिय न हाय।
देखिहैं हनुमान गोमुख नाहरनि के न्याय ॥७॥
अरुन मुख, भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष-कषाय।
बोर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय ॥८॥
बिनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचन के कहि भाय।
'भली कही' कह्यो लषन हूँ हँसि, बने सकल बनाय ॥९॥

दई दीनहिं दादि, सो सुनि सुजन-सदन बधाय ।
मिटे संकट सोच, पोच-प्रपंच, पाप-निकाय ॥१०॥
पेखि प्रीति-प्रतीति जनपर अगुन अनघ अमाय ।
दास तुलसी कहत मुनिगन, जयति जय उरुगाय ॥११॥

शब्दार्थ—बिहाय = छोड़कर । बयर = वैर । भेक = मेढ़क । गोमाय = सियार । निकाम = व्यर्थ, निष्प्रयोजन । कुदाय = कुदाव । अकनि = सुनकर, जानकर । साय = शान्त हो । नाहरनि = शेरों । पिंगल = पीला । कषाय = लाल । दादि = इन्साफ । पेखि = देखकर । अनघ = निष्पाप, पवित्र । अमाय = मायारहित । उरुगाय = विष्णु भगवान्‌का एक नाम ।

भावार्थ—हे कोशलेन्द्र ! मेरा सम्भार कीजिये । आपके नामको छोड़कर न तो मुझे और कोई ठौर है, और न दूसरी कोई गति ही है ॥१॥ अपनी (करनी) और अपना हित समझकर मैंने आपहीकी शरण ली है, (क्योंकि ऐसी जघन्य करनीवालेका हित या उद्धार करनेवाला) दूसरा कोई माँ-बाप नहीं है । इसलिए हे रामजी ! मेरे लिए आपका नाम ही गुरु, देवता, स्वामी, मित्र और बल है ॥२॥ हे रामजी ! आपके राज्यमें कलियुगके मलिन मानसके छलकी छाया नहीं पड़ती; किन्तु यह कायर कलिकाल उसी क्रोधके कारण मुझ मरे हुएको भी घावोंसे घायल कर रहा है ॥३॥ जैसे गीदड़ किसी मेढकको मारकर सिंहका वैर लेता है, उसी प्रकार यह (कलि) मुझे आपका दास जानकर व्यर्थ ही बुरी तरह मार रहा है ॥४॥ यद्यपि राजा परीक्षित सुखसे वैकुण्ठमें निवास कर रहे हैं, पर इसके कपटपूर्ण कर्तबों, अगणित अनीतियों और विघ्न-बाधाओंको सुनकर वह भी पछता रहे हैं ॥५॥ हे कृपासिन्धु ! जरा इस दासके मनके क्लेशोंको देखिये । हे दीनदयालु देव ! (यह सेवक) आपके चरणोंका दर्शन करनेके लिए शरणमें आया है ॥६॥ हाय मैं आपकी बलैया लेता हूँ, आप उसे निकट बुलाकर मना न करें, उसे मारें भी न, (इसकी जरूरत नहीं है; केवल) हनुमान्‌जीको ही सहेज दीजिये, वह इसकी ओर वैसे ही देखेंगे, जैसे गायके मुखकी ओर शेर देखता है ॥७॥ पवनकुमारके लाल मुख, विकट भौहों, क्रोधके कारण लाल हुए पीले नेत्रोंका स्मरण करते ही चंचल चित्तवाले कलिका चाव कम हो जायगा ॥८॥ मेरी विनय सुनकर श्रीरामजी अपने छोटे भाई लक्ष्मणसे इन बातोंका असली भाव कहकर हँस पड़े । लक्ष्मणजीने भी हँसकर कहा कि खूब कहा है ।

बस, अब मेरी सब बात बन गयी ॥९॥ इस दीनको भगवान् रामचन्द्रजीने दाद दी है, यह सुनकर सन्तोंके घरमें बधाई बजने लगी। संकट, शोक, क्षुद्र प्रपंच और पाप-समूह ये सब मिट गये ॥१०॥ निर्गुण, पवित्र और माया-रहित रामजी-का इस दासपर प्रेम और विश्वास देखकर हे तुलसीदास! मुनि कहने लगे कि महान् यशस्वी भगवान्‌की जय हो, जय हो ॥११॥

विशेष

१—'परीछितहिं पछिताय'—एक बार महाराज परीक्षित्‌ने शिकार खेलनेके लिए बनमें जाकर देखा, एक काला पुरुष हाथमें मूसल लिये एक गाय और लँगड़े बैलको खदेड़ रहा था। पूछनेपर उन्हें मालूम हुआ कि काला पुरुष कलि-युग है, गाय पृथिवी है और बैल धर्म है। महाराजने क्रुद्ध होकर कलियुगको मारनेके लिए तलवार निकाल ली। काला पुरुष भयभीत होकर उनके पैरोंपर गिर पड़ा। महाराजने उसे शरणमें आया जानकर छोड़ दिया और चौदह स्थानोंमें रहनेके लिए आज्ञा दे दी। उनमें एक सुवर्ण भी था। महाराजके सिरपर सोनेका मुकुट था, अतः कलि उनके सिरपर भी सवार हो गया। परिणाम यह हुआ कि राजाने कलिके प्रभावसे एक ध्यानावस्थित ऋषिके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल दिया। इसपर मुनिके पुत्रने राजाको शाप दिया कि मेरे पिताके गलेमें सर्प डालनेवाला मनुष्य आजसे सातवें दिन तक्षक सर्पके काटने-से मर जायगा। अस्तु, वही पश्चात्ताप राजाको बना रह गया कि मैंने कलिपर दया क्यों की? यह कथा श्रीमद्भागवत पुराणमें है।

२—'बिनय सुनि'—से लेकर इस पदके अन्ततक कविने अपने मनोराज्यमें विचरण किया है। काव्यकला और पाण्डित्यकी अपूर्व झलक है।

३—'बिहँसे'—गोस्वामीजीने हर जगह अत्यन्त रहस्यपूर्ण बातोंपर ही भगवान्‌का विहँसना या मुसकराना लिखा है। जैसे सुग्रीवकी उक्तिपर रामजीका हँसना गोस्वामीजीने लिखा है:—

'तब रघुपति बोले मुसुकाई।'

[२२१]

नाथ! कृपा ही को पन्थ चितवत दीन हौं दिनराति।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु! जानि न जाति ॥१॥

सुगुन, ग्यान-विराग-भगति, सु-साधननि की पाँति।
भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति ॥२॥
अति अनीति-कुरीति भइ भुइँ तरनि हूँ ते ताति।
जाउँ कहँ ? बलि जाउँ, कहूँ न ठाउँ, मति अकुलाति ॥३॥
आप सहित न आपनो कोउ, बाप ! कठिन कुभाँति।
स्यामघन ! सींचिये तुलसी, सालि सफल सुखाति ॥४॥

शब्दार्थ—थाति = अमानत, धरोहर। ताति = तप्त। सालि = धान। सफल = फलके सहित, फूटा हुआ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं दीन हूँ, दिन-रात आपहीकी कृपाकी बाट देखता रहता हूँ। हे दीनदयालु ! आपकी कृपा किस समय होगी, जाना नहीं जाता ॥१॥ सुन्दर गुण, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सुन्दर साधनोंके समूह पापों और अवगुणोंकी थाती स्वरूप कलिको देखते ही व्याकुल होकर भाग गये ॥२॥ अत्यन्त अनीति और कुरीतियोंके कारण यह पृथिवी सूर्यसे भी अधिक तप्त हो गयी है। मैं आपकी बलि जाऊँ नाथ ! कहाँ जाऊँ ? कहीं भी ठिकाना नहीं है। बुद्धि घबरा रही है ॥३॥ हे पिताजी ! जो अपना है (जैसे शरीर), वह भी अपने साथ नहीं (अर्थात् वह भी साथ छोड़ देता है)। कठिन (बेढब) बुरी रीति है। हे घनश्याम ! तुलसीरूपी फूटे हुए धानकी खेती सूखी जा रही है, उसे सींचिये ॥४॥

[२२२]

बलि जाउँ, और कासों कहौं ?
सदगुनसिंधु स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि-सो लहौं ॥१॥
जहँ जहँ लोभ-लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं।
तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-कोटर गहौं ॥२॥
काल-सुभाउ-करम बिचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं।
मोको तौ सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं ॥३॥
उचित अनाथ होइ दुख-भाजन भयो नाथ ! किंकर न हौं।
अब रावरो कहाइ न बूझिये, सरनपाल ! साँसति सहौं ॥४॥

महाराज ! राजीवविलोचन ! मगन पाप-संताप हौं ।
तुलसी प्रभु ! जब तव जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निरबहौं ॥५॥

शब्दार्थ—लोल = चंचल । तरनि = सूर्य । बूझिये = चाहिये ।

भावार्थ—बलिहारी ! (हे नाथ ! मैं अपना दुःख) और किससे कहूँ ? हे कृपानिधान ! आपके समान सद्‌गुणोंका समुद्र तथा सेवकोंका हितू स्वामी मुझे कहीं नहीं मिल सकता ॥१॥ जहाँ-जहाँ लोभसे चंचल और लालचवश चित्तमें अपने हितकी कामना करता हूँ, वहाँ वहाँसे मैं इस तरह निराश होकर लौट आता हूँ, जैसे सूर्यको देखते ही उल्लू भटकता हुआ आकर कुत्सित पेड़के कोटरका आश्रय लेता है (अर्थात् जैसे उल्लू भोजनके निमित्त जहाँ-तहाँ भटकता फिरता है, किन्तु सूर्यकी लालिमा दिखाई पड़ते ही उसका अनेक मनोरथ निवृत्त हो जाता है और वह वृक्षके कोटरमें घुस जाता है, उसी प्रकार मैं भी जीविकाके लोभसे ऐश्वर्यवानोंके पास जाता हूँ, पर सूर्यके समान उनके क्रूर स्वभावका परिचय पाते ही कोटरके समान अपने निवासस्थानपर लौट आता हूँ) ॥२॥ काल, स्वभाव और कर्म विचित्र फल देनेवाले हैं, यह सुनकर मैं सिर पटककर रह जाता हूँ; क्योंकि मेरे लिए तो ये तीनों सदैव एक रस हैं, मैं तो सदैव दुःसह और भयंकर ज्वालासे जला करता हूँ ॥३॥ हे नाथ ! अबतक मैं अनाथ था, आपका दास नहीं हुआ था, अतः दुःखोंका पात्र बन रहा था, यह उचित ही था; किन्तु हे शरणागतपालक ! अब मैं आपका कहाकर भी दुःख भोगूँ, ऐसा आपको नहीं चाहिये ॥४॥ हे महाराज ! हे कमलनेत्र ! मैं पाप-सन्तापमें डूबा हुआ हूँ । हे प्रभो ! हे रामजी ! तुलसीका निर्वाह तभी होगा, जब आप येनकेन प्रकारेण निर्वाह करेंगे ॥५॥

[२२३]

आपनो कबहुँ करि जानिहौ ।
राम गरीबनिवाज राज-मनि, बिरद-लाज उर आनिहौ ॥१॥
सील-सिन्धु, सुन्दर, सब लायक, समरथ, सदगुन-खानि हौ ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे प्रभु, प्रनत-प्रेम पहिचानि हौ ॥२॥

बेद-पुरान कहत, जग जानत, दीनदयालु दिन-दानि हौ।
कहि आवत, बलि जाउँ, मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हौ ॥३॥
आरत-दीन अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हौ।
है परिनाम भलो तुलसी को सरनागत-भय भानिहौ ॥४॥

शब्दार्थ—बानि = आदत, स्वभाव। कानि = लज्जा, प्रतिष्ठा। भानिहौ = नष्ट करोगे।

भावार्थ—हे नाथ! क्या कभी आप मुझे अपना समझेंगे? हे गरीबोंको निहाल करनेवाले राज-राजेश्वर श्रीरामजी! क्या कभी आप अपने बानेकी लाज रखनेपर ध्यान देंगे? ॥१॥ आप शीलके समुद्र, सुन्दर, सब-कुछ करने योग्य, समर्थ और सद्गुणोंकी खानि हैं। हे प्रभो! आपने ही पालन किया है, पालन कर रहे हैं और पालन करेंगे; अतः क्या कभी आप इस शरणागतका प्रेम पहचानेंगे? वेद और पुराण कहते हैं, तथा संसार जानता है कि आप दीनोंपर दया करनेवाले और प्रतिदिन उन्हें कल्याणदान देनेवाले हैं। किन्तु (मुझे विवश होकर) कहना पड़ता है, बलैया लेता हूँ, आपने मानो मेरी बार अपनी आदतको भुला दिया है ॥३॥ अब आप आर्त्त, दीन और अनाथोंका हित करनेमें लौकिक लज्जा मान रहे हैं? अर्थात् यह सोच रहे हैं कि तुलसी-सरीखे घोर पातकीका उद्धार करनेमें बड़ी बदनामी होगी? कुछ भी हो, तुलसीदास-का तो परिणाम अच्छा ही है, क्योंकि अन्तमें तो आप इस शरणागतका संसार-भय नष्ट करेंगे ही ॥४॥

[२२४]

रघुबरहिं कबहुँ मन लागिहै?
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागिहै ॥१॥
जानत गरल अमिय बिमोहबस, अमिय गनत करि आगिहै।
उलटी रीति-प्रीति अपनेकी तजि प्रभुपद अनुरागिहै ॥२॥
आखर अरथ मंजु मृदु मोदक राम-प्रेम-पाग पागिहै।
ऐसे गुन गाइ रिझाइ स्वामिसों पाइहै जो मुँह मागिहै ॥३॥
तू यहि बिधि सुख-सयन सोइहै, जियकी जरनि भूरि भागिहै।
राम-प्रसाद दासतुलसी उर राम-भगति-जो जागिहै ॥४॥

शब्दार्थ—गरल = विष । अमिय = अमृत । भूरि = बहुत ।

भावार्थ—क्या कभी मेरा मन श्रीरामजीमें लगेगा ? वह कुमार्ग, कुचाल, कुबुद्धि, बुरी कामना और कुटिल कपट कब छोड़ेगा ? ।।१।। अज्ञानके कारण (मेरा मन) विष-(विषय-वासनाओं) को तो अमृत समझ रहा है और अमृत-(ईश्वर-भजन) को आग जान रहा है । क्या वह अपनी इस उलटी रीति और अपनोंकी (झूठी) प्रीति छोड़कर भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग करेगा ? ।।२।। क्या वह (राम नामके) सुन्दर और कोमल अर्थरूपी मोदकको रामजीके प्रेम-रूपी चाशनीमें पागेगा ? (अर्थात् क्या वह कभी प्रेमपूर्ण हृदयमें अर्थ-सहित राम-नामका जप करेगा ?) इस प्रकार अपने स्वामीके गुण गा-गाकर रिझा लेनेपर रे मन ! तू अपने मुँहसे जो कुछ भी माँगेगा, वही उनसे पा जायगा ।।३।। ऐसा करनेसे तू सुखकी नींद सोयेगा (सद्गतिको प्राप्त हो जायगा), और तेरे हृदयकी गहरी जलन दूर हो जायेगी । हे तुलसीदास ! श्रीरामजीके प्रसादसे तेरे हृदयमें रामजीका प्रेमरूप योग जाग्रत हो जायगा ।।४।।

विशेष

१—'कुपथ' ..... 'त्यागिहै'—यथार्थतः मानव-देहकी सार्थकता इन सबके छोड़नेमें ही है । दुर्लभ मनुष्य-शरीर व्यर्थ खोनेके लिए नहीं है । देखिये:—

दुर्लभ या नर देह अमोलक पाइ अजान अकारथ खोवै ।
सो मति हीन बिबेक बिना नर साज मतंगहिं ईंधन ढोवै ।।
कंचन-भाजन धूरि भरै सठ मूढ़ सुधारस सौं पग धोवै ।
बोहित काग उड़ावन कारन डारि महा मनि मूरख रोवै ।।

—अलंकार-आशय ।

[२२५]

भरोसो और आइहै उर ताके ।
कै कहुँ लहै जो रामहि-सो साहिब, कै अपनो बल जाके ।।१।।
कै कलिकाल कराल न सूझत, मोह-मार-मद छाके ।
कै सुनि स्वामि-सुभाउ न रह्यो चित, जो हित सब अँग थाके ।।२।।

हौं जानत भलिभाँति अपनपौ, प्रभु-सो सुन्यो न साके ।
उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर, भले भये करतब काके ॥३॥
मोको भलो राम-नाम सुरतरु-सो, रामप्रसाद कृपालु कृपा के ।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय-बबाके ॥४॥

शब्दार्थ—छाके = छका हुआ । सब अँग = सब तरहसे । साके = कीर्ति । उपल = पत्थर । बबा = बाप ।

भावार्थ—उसी मनुष्यके हृदयमें और किसीका भरोसा होगा, जिसे या तो कहीं राम-सरीखा स्वामी मिल गया हो, अथवा जिसे अपना बल हो ॥१॥ अथवा मोह, काम और मदसे छका रहनेके कारण जिसे कराल कलिकाल न सूझ पड़ता हो या सब प्रकारसे थके हुए (सब साधनोंसे हीन) लोगोंके हितकारी स्वामी श्रीरामजीका स्वभाव सुनकर भी जिसे उसका स्मरण न हो ॥२॥ किन्तु मैं अपना पौरुष भली भाँति जानता हूँ, और मैंने श्रीरामजीके समान और किसीकी कीर्ति भी नहीं सुनी है । पाषाणी (अहिल्या), भील, पक्षी, मृग (मारीच) और राक्षस इनमें किसका कर्म उत्तम हुआ था ? ॥३॥ कृपालु रामजीकी कृपाके प्रसादसे मेरे लिए तो राम-नाम ही कल्पवृक्षके समान अच्छा है । अब यह तुलसी वैसे ही निश्चिन्त और सुखी है जैसे माँ-बापके राज्यमें बालक ॥४॥

विशेष

१—'उपल'—अहिल्या; ४३ पदके विशेषमें देखिये ।

२—'भील'—निषाद; १०६ पदके विशेषमें देखिये ।

३—'खग'—जटायु; २१५ पदके विशेषमें देखिये ।

४—'मृग'—मारीच; यह रावणका मामा था । रावणके कहनेसे यह माया-मृग बनकर पंचवटीमें गया । इसका मनोहर रूप देखकर सीताजीने इसका चर्म लेनेकी इच्छा प्रकट की । जब भगवान् इसे मारनेको गये और पश्चात् इसकी मृत्युका आर्त्तनाद सुनकर जानकीजीने लक्ष्मणजीको वहाँ भेज दिया, तब अवसर पाकर रावण जानकीजीके पास आया और उन्हें लेकर लङ्कामें चला गया । मारीच स्वयं तो भगवद्भक्त था, किन्तु रावणकी आज्ञासे उसे ऐसा करना पड़ा था ।

[२२६]

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥१॥
करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावन के अंधहि, ज्यों सूझत रंग हरो ॥२॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो ॥४॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो-नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पखाननि करि कपि-कटक तरो ॥४॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु-अरनि अरो ॥५॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहि समुझि परो ॥६॥

शब्दार्थ—पेखत = देखता हूँ । परसि = स्पर्श करके । कटक = सेना । सरो = पूरा होता है । अरनि = हठ ।

भावार्थ—जिसे दूसरा कोई भरोसा हो, वह (और कुछ) करे । मेरे लिए तो इस कलिमें राम-नामरूपी कल्पवृक्ष ही कल्याणका फल फला हुआ है ॥१॥ कर्मकांड, उपासनाकांड, ज्ञानकांड ये त्रिकांड वेद सम्मत हैं और सब प्रकारसे खरे हैं; पर मुझे तो सावनके अन्धेकी भाँति हारियाली ही दिखाई पड़ रही है (अर्थात् चारों ओर राम-नाममें ही भलाई दिखाई पड़ रही है) ॥२॥ पहले मैं कुत्तेकी तरह पत्तल चाटता रहा, कभी पेट न भरा; किन्तु अब वही मैं रामनाम-का स्मरण करते ही अमृत-रस परोसकर रखा हुआ देखता हूँ । भाव यह कि पहले मैंने बहुतसे साधन किये, पर कामना न मिटी; किन्तु राम-नामके प्रभावसे मुझे अमृत-रस अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष परोसा हुआ दिखाई पड़ रहा है, और उसे लेनेकी इच्छा नहीं हो रही है ॥३॥ स्वार्थ और परमार्थ दोनोंकी प्राप्तिके लिए मैं 'नरो कुंजरो' कुछ नहीं कह सकता (अर्थात् दोनों ही मेरे सामने परोसे हुए रखे हैं, पर मैं 'नरो-कुंजरो' कुछ नहीं कहता यानी एकको

भी नहीं चाहता)। सुना है कि नामके ही प्रभावसे बानरी सेना पत्थरोंका पुल बनाकर समुद्र पार कर गयी थी। अर्थात् जिस नामकी इतनी बड़ी महिमा है, उसे छोड़कर मैं स्वार्थ और परमार्थके बखेड़ेमें क्यों पड़ूँ? ॥४॥ जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा होता है। मेरे माँ-बाप तो राम-नामके दोनों अक्षर ही हैं—इन्हींके आगे मैं बाल-हठसे अड़ा हुआ हूँ ॥५॥ इसमें यदि मैं कुछ छिपाकर कहता होऊँ, तो शिवजी साक्षी हैं मेरी जीभ जल जाय या गल जाय। तुलसीको तो अपना भला राम-नामसे ही समझ पड़ा है ॥६॥

विशेष

१—'नहि कुंजरो नरो'—भगवान्ने महाभारत युद्धमें द्रोणाचार्यका बध कराना आवश्यक समझा। अतः भीमसेनने अश्वत्थामा नामके हाथीको मार डाला। द्रोणाचार्यके प्रिय पुत्रका नाम भी अश्वत्थामा था। अश्वत्थामाके मारे जानेका हाल पाकर द्रोणने युधिष्ठिरसे पूछा कि कौन मारा गया है? उन्होंने सोचा कि युधिष्ठिर झूठ न बोलेंगे। धर्मराजने कहा—'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा।' अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य या हाथी। उन्होंने 'मनुष्य' तो जोरसे कहा, पर 'हाथी' धीरेसे कहा। प्रिय पुत्रके मरनेका समाचार सुनकर ज्यों ही द्रोणाचार्य मूर्च्छित-से हुए, त्यों ही धृष्टद्युम्नने उनका मस्तक काट लिया। तभीसे 'नरो-कुंजरो' का प्रयोग बोल-चालमें होने लगा है।

[२२७]

नाम, राम रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ॥१॥
जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँसे कोउ कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे ॥२॥
फिर्‌यो ललात बिनु नाम उदर लगि, दुखउ दुखित मोहिं हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे ॥३॥
साधत साधु लोक परलोकहिं, सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम को, एक गाँठि कइ फेरे ॥४॥

शब्दार्थ—टेरे=पुकारकर। अवडेरे=बेढंगा। हेरे=देखकर। रसाल=आम। बहेरे=बहेड़ा।

भावार्थ—हे रामजी ! मेरे लिए तो (बस) आपका नाम ही है। यह बात मैं स्वार्थ और परमार्थके साथियोंसे हाथ उठाकर तथा पुकारकर कहता हूँ ॥१॥ माता-पिताने तो मुझे उत्पन्न करते ही त्याग दिया, ब्रह्माने भी मुझे भाग्यहीन और बेढब-सा बनाया। इतनेपर भी मेरे जैसेको कोई-कोई रामजीका ही कहते हैं, सो किसके नातेसे ? ॥२॥ बिना रामनामके मैं पेटके लिए ललाता फिरा; मुझे देखकर दुःख भी दुःखित था। किन्तु अब नामके प्रसादसे मुझे बबूर और बहेड़ेके वृक्षसे आमके फल मिल रहे हैं। अर्थात् मेरे कर्म तो ऐसे हैं कि मैं बहुत कटु फल पाऊँ, पर राम-नामके प्रसादसे मुझे उन नीच कर्मोंका भी अच्छा फल मिल रहा है; या जो संसार पहले मुझे दुःखमय भास रहा था, वही अब सिया-राममय दिखनेके कारण आनन्दमय प्रतीत हो रहा है ॥३॥ साधु लोग सुन और समझकर नाना प्रकारके यत्नोंसे अपना लोक और परलोक साधते हैं; किन्तु तुलसीको तो एक रामनामका ही अवलम्ब है; जैसे एक गाँठ हो और फेरे बहुतसे हों (इसी प्रकार साधन चाहे जितने हों, पर सबका आधार केवल राम-नाम ही है) ॥४॥

विशेष

१—'बबुर बहेरे'—श्री बैजनाथजीने इसका यह अर्थ लिखा है—'बबुर बहेराके वृक्ष तें रसाल फल पायो भाव पूर्व पिशाचै सिद्धि द्वारा भक्ति लाभ भई, यह भक्तमालमें प्रसिद्ध है।'

[२२८]

प्रिय राम-नाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो ॥१॥
सकुचत समुझि नाम-महिमा मद-लोभ-मोह-कोह-कामो।
राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो ॥२॥
नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।
सो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील भील भामो ॥३॥

बालमीकि-अजामिलके कछु हुतो न साधन सामो।
उलटे-पलटे नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो ॥४॥
राम तें अधिक नाम-करतब, जेहि किये नगर-गत गामो।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो ॥५॥

शब्दार्थ—परिनामो = अन्त। सरोरुह = कमल। जामो = जम उठा, उगा। भामो = स्त्री। सामो = सामान। गुंजनि = घुँघचियाँ। ललामो = रत्न, माणिक।

भावार्थ—जिसे रामजी भी रामनामकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं हैं, उसका इस कठिन कलिकालमें भी आदि, मध्य और अन्त अच्छा है ॥१॥ नामकी महिमा समझकर काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद सकुच जाते हैं। राम-नामके जपमें रत रहनेवाले सज्जनोंपर कड़ी धूप भी छाया कर देती है ॥२॥ यदि कोई कहे कि राम-नामके प्रभावसे पत्थरपर कमल उगा है, तो वह भी ठीक है। क्योंकि उसी नामके सुनने और स्मरण करनेसे भीलनी शबरी सुकृतशीला और भाग्यवती हो गयी थी ॥३॥ वाल्मीकि और अजामिलके पास तो साधनका कोई भी सामान नहीं था। किन्तु नामके माहात्म्यसे उलट-पुलटमें ही घुँघचियोंने रत्नको जीत लिया ॥४॥ नामकी प्रभुता श्रीरामजीसे अधिक है, क्योंकि उसने गाँवको शहर बना दिया (अर्थात् मूर्खको चतुर बना दिया); या देहातमें रहनेवाले उजड़े हुएको शहरमें लाकर प्रतिष्ठित कर दिया और जिसे जपकर तुलसीदासके समान विमुख प्राणी भी डंकेकी चोट सम्मुख हो गये ॥५॥

विशेष

१—'उलटे पलटे'—यहाँ 'उलटे' शब्द महर्षि वाल्मीकिके लिए और 'पलटे' शब्द अजामिलके लिए लिखा जान पड़ता है। यानी वाल्मीकि तो उलटा नाम जपकर तर गये और अजामिल पुत्रके बहाने 'नारायण' नाम उच्चारण करके मुक्त हो गया। किन्तु उलटे नामकी कथा प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं पायी जाती। संस्कृतके अनुसार 'मरा' शब्दका कुछ अर्थ भी नहीं होता। वैसे 'मरा' शब्द यदि बार-बार कहा जाय तो उसकी ध्वनि 'राम'में बदल जाती है। 'उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भे ब्रह्म समाना।' इसमें कविका यह आशय जान पड़ता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' या जीवोंकी रक्षा करना तो सीधा

नाम जपनेका सार है और हिंसा करना या बध करना उलटे नामका जप है। अथवा 'उलटे पलटे' का अर्थ अनाप-शनाप भी हो सकता है।

२—गुसाईंजीने रामचरितमानसमें नाम और नामीका वर्णन विस्तृत रूपसे किया है :—

निर्गुन ते इहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार॥

× × ×

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

× × ×

राम सुकण्ठ विभीषण दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ।
नाम अनेक गरीब निवाजे। लोक वेद वर बिरद विराजे॥
राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु स्रम कीन न थोरा॥
नाम लेत भव-सिन्धु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥

—रामचरितमानस

[२२९]

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी-जीवन! जनम-जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं॥१॥
तीनि लोक, तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं।
तुमसों कपट करि कलप-कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं॥२॥
कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियौ भौंतुआ भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल, बड़े ठेकाने ठौर को हौं॥३॥

शब्दार्थ—गरैगी = गल जायगी। जोरको = जोड़का, बराबरीका। कृमि = कीड़ा। भौंतुआ = जलमें रहनेवाला काले रंगका छोटा कीड़ा। ये कीड़े नौकाओंके पास विशेष रूपसे रहते हैं और बड़े तेज तैराक होते हैं। इन्हें पौड़किया और भौंरा भी कहते हैं। भौंर = भँवर।

भावार्थ—मेरी जीभ गल जायगी यदि मैं यह कहूँगा कि मैं दूसरेका हूँ। हे जानकी-जीवन! मैं तो इस संसारमें जन्म-जन्मसे आपहीके कौरेका जिलाया हुआ हूँ॥१॥ तीनों लोक (आकाश, पाताल, मर्त्य) और तीनों काल-(भूत,

वर्तमान, भविष्य) में मैं आपके जोड़का सुहृद् नहीं देखता। आपके साथ कपट करनेसे मैं कल्प-कल्पान्ततक घोर नरकका कृमि होकर रहूँगा ॥२॥ क्या हुआ, यदि कलियुगने मेरे मनसे मिलकर उसे भँवरका भौंतुवा बना दिया ? तुलसीदास इसी बलपर प्रसन्न रहता है कि वह बड़े ठौर-ठिकानेका रहनेवाला है अर्थात् श्रीरामजीके दरबारका सेवक है। कलियुग उसका एक बाल भी बाँका नहीं कर सकता ॥३॥

विशेष

१—'तीनि लोक·····हौं'—वास्तवमें दशरथके लला प्रत्येक बातमें अद्वितीय हैं। जो बातें उनमें हैं, वे तीनों लोकमें दिखाई नहीं पड़तीं। देखिये न, भिखारीदास भी कहते हैं—

व्याल, मृनाल सुडाल कराकृति, भावते जू की भुजान मैं देख्यौ।
आरसी सारसी सूर ससी दुति आनन आनँदखान मैं देख्यौ॥
मैं मृगमीन मृनालन की छबि 'दास' उन्हीं अँखियान मैं दैख्यौ।
जो रस ऊख मयूख पियूष मैं सो हरि की बतियान मैं देख्यौ॥
सारसी = कमलिनी।

[२३०]

अकारन को हितू और को है।
बिरद 'गरीब-निवाज' कौन को, भौंह जासु जन जोहै ॥१॥
छोटो बड़ो चहत सब स्वारथ, जो बिरंचि बिरचो है।
कोल कुटिल, कपि-भालु पालिबो कौन कृपालुहि सोहै ॥२॥
काको नाम अनख आलस कहें अघ अवगुननि बिछोहै।
को तुलसीसे कुसेवक संग्रह्यो, सठ सब दिन साईं द्रोहै ॥३॥

शब्दार्थ—जोहै = देखे। अनख = क्रोध। अघ = पाप। संग्रह्यो = संग्रह किया है। सठ = दुष्ट।

भावार्थ—बिना कारणके हित करनेवाला और कौन है ? गरीबोंको निहाल करनेका बाना किसका है जिसकी भृकुटी यह दास विलोकता रहे ॥१॥ छोटे-बड़े जिन्हें ब्रह्माने बनाया है, वे सब अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

कुटिल कोल-भील, बन्दर और रीछ आदिका पालन करना और किस कृपालुको शोभा देता है ? ॥२॥ क्रोध और आलस्यके साथ भी किसका नाम लेनेसे पाप और दुर्गुण दूर हो जाते हैं ? किसने तुलसी-सरीखे बुरे सेवकका संग्रह किया है (अपनाया है), जो दुष्ट सदा अपने स्वामीसे द्रोह किया करता है ? ॥३॥

विशेष

१—'चहत सब स्वारथ'—इसपर और भी कहा है :—

'स्वारथके सब ही सगे, बिनु स्वारथ कोउ नाहिं ।
सेवैं पंछी सरस तरु, निरस भये उड़ि जाहिं ॥'

२—'काको······बिछोहै'—यही बात गुसाईंजीने रामचरितमानसमें भी कही है—

'भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥'

ईश्वराराधन किसी भी भावसे क्यों न किया जाय, हर हालतमें वह कल्याणकारी ही होता है । बुरे भावसे साधन करना भी कल्याणप्रद हो जाता है । महाभारतमें एक कथा है जो कि इस प्रकार है—एक मेहतर था जो किसी राजाके यहाँ पाखाना साफ करता था । एक दिन उसकी नजर रानीपर पड़ गयी । परिणाम यह हुआ कि वह रानीको पानेके लिए बीमार पड़ गया । रानी भी उसका भाव ताड़ गयी । कई दिनोंके बाद रानीने मेहतरकी स्त्रीसे पूछा, आजकल तेरा पति क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? उसने कहा, बीमार है । रानीने बीमारी-का हाल पूछा और आश्वासन देकर सच बात बतानेके लिए कहा । मेहतरानीने सब हाल कह सुनाया । रानीने कहा, उससे कहो कि वह जंगलमें जाकर खूब साधना करे । जब वह ऐसा अभ्यास करके यहाँ आवे कि महीनों बिना अन्न-जलके एक आसनसे रह सके, तब उसकी ख्याति सुनकर मैं भी उसका दर्शन करने जाऊँगी । उसी समय उससे भेंट हो सकेगी । मेहतर अपनी स्त्रीसे यह समाचार पाकर स्वस्थ हो गया और रानीसे मिलनेकी आशासे तप करनेके लिए जङ्गलमें चला गया । कुछ दिनोंके बाद अभ्यास बढ़ाकर वह राजाकी पुरीमें आया । उसकी अपूर्व साधनाका हाल सुनकर राजा भी उसका दर्शन करने गये और पीछे उन्होंने अपनी रानीको भी उसके पास दर्शनार्थ भेजा । रानीने उसे

देखते ही पहचान लिया। कहा, रे ढोंगी ! अब तो आँखें खोल, मैं तेरे सामने खड़ी हूँ। मेहतरने आँखें खोलकर रानीको देखा। तुरन्त ही उसकी ज्ञान दृष्टि खुल गयी। सोचा, जिस मार्गपर ढोंग रचकर चलनेमें इतनी बड़ी शक्ति है कि राजरानी एक मेहतरका दर्शन करने आयी है, उस मार्गपर सच्चे दिलसे चलनेपर तो न-जाने कौनसा बड़ा फल मिल सकता है। फिर क्या था, उसने रानीको जवाब दे दिया और सच्चे दिलसे ईश्वर-भजन करके मुक्त हो गया। कुभावके साथ ईश्वर-मार्गपर चलनेमें भी कल्याण होनेका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

[२३१]

और मोहिं को है, काहि कहिहौं ?
रंक-राज ज्यों मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं ॥१॥
जम-जातना, जोनि-संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।
मो को अगम, सुगम तुम को प्रभु, तउ फल चारि न चहिहौं ॥२॥
खेलिबे को खग-मृग, तरु-किंकर ह्वै रावरो नाम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु, या बिनु परम-पदहुँ दुख दहिहौं ॥३॥
इतनी जिय लालसा दासके, कहत पानही गहिहौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिये 'तुलसीको पन निर्बहिहौं' ॥४॥

शब्दार्थ—सचु = सुख। परम पदहुँ = मोक्ष भी। पानही = पनही, जूता।

भावार्थ—मेरे लिए और कौन है, किससे कहूँगा ? मेरा मनोरथ वैसे ही है जैसे गरीबकी राजा बननेकी इच्छा। सो यह मनोरथ किसे सुनाकर परमानन्द प्राप्त करूँगा ? ॥१॥ यम-यातना तथा अनेक योनियोंमें पैदा होनेका सब असह्य दुःख सह चुका हूँ और सहूँगा। किन्तु हे प्रभो ! यद्यपि मेरे लिए अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है और आपके लिए इनका दे डालना सहज है—तथापि मैं इन्हें कभी न चाहूँगा ॥२॥ मैं तो आपके खेलनेके लिए पक्षी, मृग, वृक्ष और नौकर होकर आपहीके नामसे रहना चाहता हूँ (अर्थात् मैं कुछ भी क्यों न रहूँ, पर कहाऊँ आपहीका)। इस नातेसे (आपका होकर) रहनेमें मुझे नरकमें भी सुखका अनुभव होगा; किन्तु यदि

यह नाता न रहेगा तो मोक्ष-पद प्राप्त करनेपर भी मैं दुःखसे जलता रहूँगा ॥३॥ मैं आपकी जूती पकड़कर (छूकर) कहता हूँ कि इस दासके हृदयमें इतनी ही लालसा है। अब या तो आप यह वचन दे दीजिये, और या इसे अपने हृदयमें रखे रहिये कि 'मैं तुलसीका प्रण पूरा कर दूँगा' ॥४॥

विशेष

१—'खेलिबे को······रहिहौं'—इसपर भक्तवर ललितकिशोरीजीकी भी सुन्दर रचना है !

'जमुना पुलिन कुंज गहवर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं, बचे सीत रसिकन के पाऊँ।
ललित किसोरी आस यही, ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥'

२—'किंकर'—इसकी जगह कुछ प्रतियोंमें कंकर पाठ भी है। किन्तु अधिकांश प्रतियोंमें 'किंकर' होनेके कारण यही पाठ लिया गया है। 'कंकर' होनेपर कंकड़ अर्थ समझना चाहिये।

[२३२]

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावौं ?
को तुम बिनु पर-पीर पाइहै ? केहि दीनता सुनावौं ॥१॥
प्रभु अकृपालु, कृपालु अलायक, जहँ-जहँ चितहिं डोलावौं।
रहै समुझि सुनि रहौं मौन ही, कहि भ्रम कहा गवावौं ॥२॥
गोपद बुड़िबे जोग करम करौं बातनि जलधि थहावौं।
अति लालची, काम-किंकर मन, मुख रावरो कहावौं ॥३॥
तुसली प्रभु जिय की जानत सब, अपनो कछुक जनावौं।
सो कीजै, जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावौं ॥४॥

शब्दार्थ—मौन = चुप। गोपद = गोखुर। थहावौं = थाह लगाता हूँ। किंकर = दास। परो = पड़े रहकर।

भावार्थ—मैं (आपको छोड़कर) दूसरा दीनबन्धु कहाँ पाऊँगा ? मैं किसे अपनी दीनता सुनाऊँ ? आपके सिवा और कौन दूसरेके दुःखसे दुःखी

होगा ? ॥१॥ मैं जहाँ-जहाँ अपना चित्त दौड़ाता हूँ, सब स्वामी मुझे अकृपालु ही जान पड़ते हैं; और जो लोग कृपालु भी हैं, वे अयोग्य (असमर्थ) हैं। यही सुन और समझकर मैं मौन ही रहता हूँ, क्यों किसीसे कुछ कहकर अपना भरम खोऊँ ॥२॥ काम तो करता हूँ गोखुरके पानीमें (चुल्लूभर पानीमें) डूब मरनेका, और बातोंसे समुद्र थहाता हूँ। मेरा मन तो अत्यन्त लालची और कामुकताका दास है, पर मुखसे आपका (दास) कहलाता हूँ ॥३॥ हे प्रभो ! यद्यपि आप तुलसीके हृदयकी सब बात जानते हैं, तथापि मैं अपना कुछ हाल आपको जनाता हूँ। (मेरी यही लालसा है कि) आप ऐसा कीजिये, जिससे मैं छल छोड़कर आपके द्वारपर पड़ा आपहीके गुण गाता रहूँ ॥४॥

[२३३]

मनोरथ मनको एकै भाँति।
चाहत मुनि-मन-अगम सुकृत-फल, मनसा अघ न अघाति ॥१॥
करमभूमि कलि जनम, कुसंगति, मति बिमोह-मद-माति।
करत कुजोग कोटि, क्यों पैयत परमारथ-पद साँति ॥२॥
सेइ साधु-गुरु, सुनि पुरान-स्रुति बूझ्यो राग बाजी ताँति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु-सो, ज्यों दरपन मुख-काँति ॥३॥

शब्दार्थ—अघाति = तृप्ति। करमभूमि = भारतवर्ष साँति = शान्ति। ताँति = सारंगी। काँति = कान्ति, सौन्दर्य।

भावार्थ—मनका मनोरथ भी एक ही तरहका है। मेरा मन ऐसे पुण्यका फल चाहता है जो मुनियोंके मनके लिए दुर्लभ है; किन्तु पाप करनेसे उसकी तृप्ति ही नहीं होती ॥१॥ इस कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म तो हुआ, पर कलियुगमें; कुसंगति, मोह-मदसे मतवाली बुद्धि एवं करोड़ों बुरे कर्म करनेके कारण परमपद और शान्ति कैसे मिल सकती है ? ॥२॥ साधु-महात्माओं तथा गुरुओंकी सेवा करने एवं वेद-पुराण सुननेसे सारंगी बजते ही रागका ज्ञान होनेकी तरह यह मालूम हो गया है कि तुलसीके प्रभु श्रीरामजीका स्वभाव कल्पवृक्षके समान तथा दर्पणमें मुखकी कान्ति या शोभाके सदृश है। भाव यह कि जिस प्रकार शीशेमें वैसा ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है जैसा मुँहका आकार रहता है, उसी

प्रकार भगवान् मनोकामना पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष तो अवश्य हैं, पर कल्पवृक्षके नीचे बैठनेपर मनोभावोंके अनुसार ही फल मिलेगा ॥३॥

[२३४]

जनम गयो बादिहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्‍यो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ॥१॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौवन जुवतिन लियो जीति ।
रोग-बियोग-सोग-स्रम-संकुल बड़ि बय बृथहि अतीति ॥२॥
राग-रोष-इरिषा-बिमोह-बस रुची न साधु समीति ।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद-प्रीति ॥३॥
हृदय दहत पछिताय-अनल अब, सुनत दुसह भवभीति ।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरदकी रीति ॥४॥

शब्दार्थ—बादिहिं = व्यर्थ ही । अनुदिन = प्रतिदिन । संकुल = परिपूर्ण । बय = अवस्था । समीति = समिति, सभा ।

भावार्थ—ऐसा उत्तम (मनुष्य) जन्म व्यर्थ ही बीत गया । परमार्थ तो कुछ भी पल्ले न पड़ा, उलटा नित्य-प्रति अनीति ही बढ़ती गयी ॥१॥ लड़कपन तो खेलने-खानेमें चला गया और यौवनको युवतियोंने जीत लिया । रोग, वियोग, शोक और परिश्रमसे परिपूर्ण बुढ़ापा भी व्यर्थ ही बीता जा रहा है ॥२॥ राग, क्रोध, ईर्ष्या और अज्ञानके वशीभूत होनेके कारण साधु-सभा नहीं रुची । न तो कभी रामजीकी गुणावली ही कही और सुनी, और न रामजीके चरणोंमें प्रेम ही हुआ ॥३॥ अब दुःसह संसार-भय सुनकर मेरा हृदय पश्चात्तापकी आगसे जल रहा है । अतः हे प्रभो ! इस तुलसीके लिए आप अपने बानेकी रीतिको समझकर जो कुछ हो सके, सो कीजिये ॥४॥

विशेष

१—'खेलत……अतीति'—इसपर नीचे लिखा श्लोक याद आ जाता है—

'बाल्यं मया केलिकला-कलापकैर्नीतं च नारीनिरतेन यौवनम् ।
वृद्धोऽधुना किंतु करोति साधनं मुक्तेर्वृथा मे खलु जीवितं गतम् ॥''

भगवान् शंकराचार्य भी कहते हैं—

'बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥'

[२३५]

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥१॥
जे जड़ जीव कुटिल, कायर, खल, केवल कलिमल-साने ।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ, हरि तें अधिक करि माने ॥२॥
सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पायँ पिराने ।
सदा मलीन पन्थके जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ॥३॥
यह दीनता दूर करिबेको अमित जतन उर आने ।
तुलसी चित-चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने ॥४॥

शब्दार्थ—बिराने=दूसरेके । मल=पाप । थिराने=स्थिर, स्वच्छ । अमित=अगणित ।

भावार्थ—ऐसे ही अनेक जन्म बीत गये । प्राणनाथ श्रीरघुनाथजीके समान स्वामीके चरणोंको छोड़कर दूसरोंके चरणोंकी सेवा करता रहा ॥१॥ जो मूर्ख जीव हैं, कुटिल, कायर, दुष्ट और केवल कलिके पापोंमें लिप्त हैं, उनकी प्रशंसा करते मुँह सूख गया और उन्हींको भगवान्‌से बड़ा माना ॥२॥ सुखके लिए निरन्तर करोड़ों उपाय करते-करते पैर भी नहीं दुखे । मेरा हृदय रास्तेके जलकी तरह सदा मैला ही बना रहा, कभी स्वच्छ न हुआ ॥३॥ यह दीनता दूर करनेके लिए मैंने अगणित उपाय सोचे, किन्तु तुलसीके चित्तकी चिन्ता, बिना चिन्तामणिको पहचाने (ईश्वर-ज्ञान हुए बिना) नहीं मिट सकती ॥४॥

[२३६]

जो पै जिय जानकी-नाथ न जाने ।
तौ सब करम-धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने ॥१॥
जे सुर, सिद्ध, मुनीस, जोगविद वेद-पुरान बखाने ।
पूजा लेत, देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने ॥२॥

काको नाम धोखेहू सुमिरत पातकपुंज पराने।
बिप्र-बधिक, गज-गीध कोटि खल कौनके पेट समाने ॥३॥
मेरु-से दोष दूरि करि जनके, रेनु-से गुन उर आने।
तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहुँ अयाने ॥४॥

शब्दार्थ—सयाने = चतुरोंने, ज्ञानियोंने। बखाने = वर्णन किया है। पराने = भाग गये। बिप्र = ब्राह्मण, अजामिल। समाने = घुस गये। अयाने = मूर्ख।

भावार्थ—रे जीव! यदि तूने श्रीजानकीनाथको न जाना, तो तेरे सब कर्म, धर्म केवल परिश्रम ही देनेवाले हैं,—बुद्धिमान लोग ऐसा ही कहते हैं ॥१॥ वेदों और पुराणोंका कथन है कि जितने देवता, सिद्ध, बड़े-बड़े मुनि और योगके मर्मज्ञ हैं, वे सब पूजा लेकर उसके बदलेमें हानि-लाभका अनुमान करके सुख देते हैं, अर्थात् पहले वे पूजा लेते हैं, उसके बाद अपना लाभ देखकर कुछ देते हैं—यों ही नहीं ॥२॥ भला ऐसा कौन है जिसके नामका धोखेसे भी स्मरण करनेसे पाप-समूह भाग गया? अजामिल, व्याध, गजेन्द्र और गीध (जटायु) आदि करोड़ों दुष्ट किसके पेटमें समा गये? ॥३॥ जिस प्रभुने अपने भक्तोंके पर्वतके समान दोषोंको दूर करके (भुलाकर), रज-कणके समान गुणपर ध्यान दिया है, ऐ मूर्ख तुलसीदास! उस स्वामीको तू सब आशा छोड़कर अब भी क्यों नहीं भजता? ॥४॥

विशेष

१—'जो पै······जाने'—महाकवि केशवदासने भी कहा है कि राम-भक्तिके बिना सबपर धिक्कार है:—

धिक मंगन बिन गुनहि, गुनहु धिक सुनत न रीझै।
रीझ सु धिक बिन साँच, साँच धिक देत जु खीझै॥
देबो धिक बिन मौज मौज धिक धरम न भावै।
धरम सु धिक बिन दया, दया धिक अरि पहँ आवै॥
अरिधिक चित्त न सालहीं, चित धिक जहँ न उदार मति।
मतिधिक 'केसव' ज्ञान बिन, ज्ञानहु धिक बिन हरि भगति॥

गोस्वामीजीने कवितावलीमें भी लिखा है—

कल कामसे रूप प्रताप दिनेससे सोमसे सील गनेससे माने।
हरिचंदसे साँचे बड़े बिधिसे मघवासे महीप बिषै सुख साने।
सुकसे मुनि सारदासे बकता चिर जीवन लोमसतें अधिकाने।
तउ ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥

२—'बिप्र'—अजामिल; ५७ पदके 'विशेष'में देखिये।

३—'बधिक'—व्याध, ९४ पदके विशेषमें देखिये।

४—'गज'—८३ पदके विशेषमें देखिये।

५—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

६—'मेरुसे ······ आने'—श्रीरामजीके स्वभावका चित्र पृष्ठ संख्या १५२ में देखिये। 'सुनि सीतापति-सीलसुभाउ'।

[२३७]

काहे न रसना, रामहि गावहि ?
निसिदिन पर-अपवाद बृथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि ॥१॥
नरमुख सुन्दर मन्दिर-पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहँ धावहि ॥२॥
काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि, सुनत स्रवन दै भावहि।
तिनहि हटकि कहि हरि-कल-कीरति, करन कलंक नसावहि ॥३॥
जातरूप मति, जुगुति रुचिर मनि रचि-रचि हार बनावहि।
सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम-नृपहि-पहिरावहि ॥४॥
बाद-बिवाद, स्वाद तजि भजि हरि, सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि ॥५॥

शब्दार्थ—ससि = चन्द्रमा। कैरव = कुमुदिनी। भावहि = भाता है। हटकि = रोककर। करन = कर्ण, कान। जातरूप = सुवर्ण।

भावार्थ—जीभ! तू श्रीरामजीका गुण-गान क्यों नहीं करती? क्यों रात-दिन दूसरोंकी निन्दा कर-करके व्यर्थ ही राग-द्वेष बढ़ा रही है? ॥१॥ मनुष्यके मुखरूपी सुन्दर और पवित्र मन्दिरमें रहकर उसे लज्जित न कर। चन्द्रमाके पास

रहनेपर भी अमृतको छोड़कर मृगजलके लिए क्यों दौड़ रही है ? (यहाँ सद्ग्रंथ ही चन्द्रमा हैं, ईश्वर-गुणानुवाद अमृत है और विषय-वार्ता ही मृगजल है) ॥२॥ काम-कथाएँ कलियुगरूपी कुमुदिनीके (विकसित करनेके) लिए चाँदनीके सदृश हैं, उन्हें कान लगाकर सुनना तुझे खूब भाता है। तू उन्हें (विषय-चर्चाको) रोककर भगवान्‌के सुन्दर यशका वर्णन करके कानोंका कलंक दूर कर ॥३॥ बुद्धिरूपी सुवर्ण और मुक्तिरूपी सुन्दर मणियोंको रच-रचकर हार बना, और उसे शरणागतोंको सुख देनेवाले रविकुल-कमल-दिवाकर महाराज रामचन्द्रजीको पहना ॥४॥ वाद-विवाद और स्वादको छोड़कर ईश्वर-भजन कर तथा उनके सरस चरित्रमें चित्त लगा; ताकि तुलसीदास संसार-सागरसे पार हो जाय और तुझे भी तीनों लोकमें पवित्र यश प्राप्त हो ॥५॥

विशेष

१—'भव तरहि'—भवसागरसे पार होनेकी ही आकांक्षा सब भक्तोंकी दिखलाई पड़ती है। देखिये महात्मा सूरदास भी कहते हैं—

अबके माधव ! मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अम्बुनिधि मैं कृपासिंधु मुरारि ! ॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल मैं गहे ग्राह-अनंग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट-अघ सिर भार !
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेवार ॥
काम-क्रोध-समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका-ओर ॥
थक्यो बीच बेहाल बिहवल सुनहु करुना-मूल।
स्याम ! भुज गहि काढ़ि डारहु 'सूर' ब्रजके कूल ॥

[२३८]

आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै।
तौ जनु तनुपर अछत सीस सुधि क्यों कबन्ध ज्यों जूझै ॥१॥

निज अवगुन, गुन राम ! रावरे लखि-सुनि मति-मन रूझै।
रहनि-कहनि-समुझनि तुलसीकी को कृपालु बिनु बूझै ॥२॥

शब्दार्थ—अछत = अक्षत, रहते हुए। कबन्ध = धड़, बिना सिरका शरीर, कबन्ध नामक राक्षस। जूझै = लड़े। रूझै = उलझ जाता है।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि यह सूझे कि इस जीवका हित आपमें (प्रीति करनेमें) है, तो यह जीव शरीरपर सिर रहते तथा सुध रहते, कबन्धकी तरह क्यों लड़े ? (तात्पर्य यह कि यदि यह जीव ऐसा जानता कि रामके बिना कल्याण नहीं हो सकता तो दंडका भय रहते ऐसा निर्द्वन्द्व कभी न रहता जैसे वीर पुरुषका बिना मस्तकका शरीर सिर कटनेका भय न रहनेके कारण आवेश-में निर्भीक होकर लड़ता है।) ॥१॥ हे रामजी ! अपने दुर्गुण और आपके गुण देख-सुनकर मेरी बुद्धि और मन दोनों ही उलझ जाते हैं। अर्थात् जब अपने दुर्गुणोंको देखता हूँ तो मन मुड़ जाता है, और जब आपके कोमल चित्तका हाल सुनता हूँ, तो चरणारविन्दकी शरण लेनेकी इच्छा हो जाती है। हे कृपालु ! इस तुलसीकी रहन-सहन, कथन और समझको आपके बिना दूसरा कौन समझ सकता है ? ॥२॥

विशेष

१—'कबन्ध'—महा बलवान् राक्षस था। इन्द्रके मारनेपर इसका मस्तक पेटमें चला गया था। फिर भी इसने बहुतसे वीरोंको मारा था। इसके सम्बन्धमें लिखा है—

कबन्धाश्छिन्नशिरसः खड्गशक्त्यृष्टिपाणयः।

देवीमाहात्म्यम्।

और भी लिखा है—

नागानामयुतं तुरङ्गनियुतं सार्द्धं रथानां शतं
पत्तीनां दशकोटयो निपतिता एकः कबन्धो रणे।
तादृक्कोटि कबन्धनर्त्तनविधौ खेलच्चलत् खे शिर-
स्तेषां कोटिनिपातने रघुपतेः कोदण्डघण्टारवः॥

इति प्राचीनाः।

[२३९]

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो ।
सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या-गुननि भर्‌यो ॥१॥
उतपति पाण्डु-सुतनकी करनी सुनि सतपन्थ डर्‌यो ।
ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जस, सुनि-सुनि लोक तर्‌यो ॥२॥
जो निज धरम बेद-बोधित सो करत न कछु बिसर्‌यो ।
बिनु अवगुन कृकलास कूप मज्जित कर गहि उधर्‌यो ॥३॥
ब्रह्म-बिसिख ब्रह्माण्ड-दहन-छम गर्भ न नृपति जर्‌यो ।
अजर-अमर, कुलिसहुँ नाहिंन बध, सो पुनि फेन मर्‌यो ॥४॥
बिप्र अजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं बिगर्‌यो ।
उनको कियो सहाय बहुत, उर को सन्ताप हर्‌यो ॥५॥
गनिका अरु कन्दरपतें जग महँ अघ न करत उबर्‌यो ।
तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हृदि-भवन धर्‌यो ॥६॥
केहि आचरन भलो मानैं प्रभु सो तौ न जानि पर्‌यो ।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपाको जोवत पन्थ खर्‌यो ॥७॥

शब्दार्थ—अंग कर्‌यो = अपना लिया । बेद-बोधित = वेद-विहित । कृकलास = गिरगिट । बिसिख = बाण । छम = (क्षम) समर्थ । कन्दरपतें = (कन्दर्प से) कामदेव से । उबर्‌यो = बचा । खर्‌यो = खड़ा है ।

भावार्थ—जिसे भगवान्‌ने दृढ़तापूर्वक अपना लिया, वही सुशील, पवित्र, वेदज्ञ हो गया तथा विद्या एवं गुणोंसे परिपूर्ण हो गया ॥१॥ पाण्डु-पुत्रोंकी उत्पत्ति और उनकी करनी सुनकर सन्मार्ग डर गया था; किन्तु (परमात्माकी कृपासे) वे ही पाण्डव त्रैलोक्य-पूज्य हो गये और उनकी पवित्र कीर्ति सुन-सुनकर संसार तर गया ॥२॥ जिस राजा नृगने वेद-विहित अपने धर्मका पालन करनेमें जरा भी भूल नहीं की, वह बिना दोषके ही गिरगिट बनकर कुएँमें जा पड़ा; किन्तु (जब) आपने उसका हाथ पकड़कर उद्धार कर दिया (तब उसका इतिहास अमर हो गया) ॥३॥ समूचे ब्रह्माण्डको भस्म कर डालनेमें समर्थ ब्रह्मास्त्रसे राजा परीक्षित गर्भमें नहीं जले; किन्तु जो अजर, अमर एवं वज्रसे भी न मरनेवाला था, वही

(नमुचि नामक दैत्य देवासुर-संग्राममें) फेनसे मर गया ॥४॥ ब्राह्मण अजा-मिल और इन्द्रसे ऐसी कौनसी बात थी जो नहीं बिगड़ी थी ? (दोनोंने ही घोर पाप किये थे) किन्तु परमात्माने उन दोनोंकी बड़ी सहायता की, उनके हृदयका सन्ताप दूर कर दिया ॥५॥ गणिका और कामदेवसे, संसारमें कोई भी पाप करनेसे नहीं बचा था; किन्तु उनके चरित्रको पवित्र जानकर भगवान्‌ने उन्हें अपने हृदय-मन्दिरमें स्थान दिया ॥६॥ प्रभुजी किस आचरणसे प्रसन्न होते हैं, यह तो नहीं जान पड़ा; किन्तु तुलसीदास श्रीरघुनाथजीके अनुग्रहकी बाट जोहता खड़ा है ॥७॥

विशेष

१—'उतपति''''''डरयो'—पाण्डवोंकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न देवताओंसे हुई थी। जैसे, धर्मराजसे युधिष्ठिरकी, पवनसे भीमकी, इन्द्रसे अर्जुनकी तथा अश्विनीकुमारसे नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति हुई थी। वे जुआ खेलकर सर्वस्व हार गये, यहाँतक कि द्रौपदीको भी दाँवपर रखकर खो बैठे थे; अथवा पाँचों भाइयोंने मिलकर द्रौपदीको भार्या बनाया। यही सब उनकी करनी थी।

२—'जो निज''''''कर गहि उधरयो'—२१३ पदके विशेषमें देखिये।

३—'गर्भ न नृपति जरयो'—अश्वत्थामाने पाण्डवोंका निर्वंश करनेके इरादेसे परीक्षितको गर्भमें ही मार डालनेके लिए ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था। किन्तु कृष्ण भगवान्‌ने चक्र-सुदर्शनके द्वारा गर्भस्थ शिशु परीक्षितकी रक्षा की थी।

४—'फेन मरयो'—नमुचि दैत्यने तपस्या करके ब्रह्मासे वर प्राप्त किया था कि 'न तो मैं किसी अस्त्र-शस्त्रसे मारा जाऊँ और न शुष्क या आर्द्र पदार्थसे ही मरूँ।' देवासुर-संग्राममें इसने घोर उपद्रव किया। इन्द्रने क्रुद्ध होकर इसे मारनेके लिए वज्रका प्रयोग किया, पर उससे भी इसका बाल बाँका न हुआ। अन्तमें आकाशवाणी हुई कि 'यह दैत्य अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मर सकता, इसे समुद्रके फेनसे मारो।' क्योंकि फेन न तो शुष्क है और न आर्द्र। फिर क्या था, नमुचि दैत्य समुद्रके फेनसे ही मारा गया।

५—'बिप्र अजामिल'—५७ पदके विशेषमें देखिये।

६—'सुरपति'—इन्द्रके नाना प्रकारके घोर पापोंकी कथाएँ पुराणोंमें लिखी हुई हैं। यथा—इन्द्रने मदान्ध होकर ऋषि-पत्नी अहल्याके साथ प्रसङ्ग किया था आदि।

७—'गनिका'—९४ पदके विशेषमें देखिये।

८—'कन्दर्प'—कृष्णभगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्न कामदेवके अवतार थे।

९—इसी भावका पद सूरदासका भी देखियेः—

जाको मनमोहन अङ्ग कर्‌यो।
ताको केस खर्‌यो नहिं सिर तें, जो जग बैर पर्‌यो॥
हिरनकसिपु परिहारि थक्यो प्रहलाद न नेकु डर्‌यो।
अजहूँ तौ उत्तानपाद-सुत राज करत न मर्‌यो॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की कोपित चीर हर्‌यो।
दुरजोधनको मान भंग करि बसन प्रवाह भर्‌यो॥
विप्र भक्त नृग अन्धकूप दिप बलि पढ़ि वेद छर्‌यो।
दीनदयालु कृपानिधि की गति कापै कह्यो पर्‌यो॥
जा सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर कहिधौं कछु न सर्‌यो।
राखे ब्रजजन नंदके लाला गिरिधर विरद धर्‌यो॥
जाको विरद है गर्व प्रहारी सो कैसे बिसर्‌यो।
सूरदास भगवन्त भजन करि सरन गहे उधर्‌यो॥

महात्मा सूरदास।

[२४०]

सोइ सुकृती, सुचि साँचो जाहि राम! तुम रीझे।
गनिका, गीध, बधिक हरिपुर गये,
लै करसी प्रयाग कब सीझे॥१॥
कबहुँ न डिग्यो निगम-मग तें पग,
नृग जग जानि जिते दुख पाये।
गजधौं कौन दिछित, जाके सुमिरत
लै सुनाम बाहन तजि धाये॥२॥

सुर-मुनि विप्र बिहाय बड़े कुल,
गोकुल जनम गोपगृह लीन्हो।
बायों दियो बिभव कुरुपतिको,
भोजन जाइ बिदुर-घर कीन्हो ॥३॥
मानत भलहि भलो भगतनि तें,
कछुक रीति पारथहि जनाई।
तुलसी सहज सनेह राम बस,
और सबै जलकी चिकनाई ॥४॥

शब्दार्थ—निगम = वेद। दिछित = दीक्षित। सुनाभ = चक्र। कुरुपति = दुर्योधन। पारथहि = अर्जुनको।

भावार्थ—हे रामजी! जिसपर आप रीझ गये, वही सच्चा पुण्यात्मा और पवित्र है। गणिका, गीध और व्याध जो वैकुण्ठमें गये, वे कब प्रयागमें कण्डेकी (आग) से सीझे थे? (अर्थात् उन लोगोंने कब तीर्थराज प्रयागमें कल्पवास किया था?) ॥१॥ राजा नृगका पैर वेद-मार्गसे कभी नहीं डिगा था; किन्तु उन्हें जितना कष्ट भोगना पड़ा, उसे संसार जानता है। गजेन्द्र ही कौनसा दीक्षित हुआ था जिसके स्मरण करते ही आप गरुड़की सवारी छोड़कर (पैदल ही) चक्र सुदर्शन लेकर दौड़े थे? ॥२॥ देवता, मुनि, ब्राह्मण आदि उच्च कुलोंको छोड़कर आपने गोकुलमें एक गोपके घरमें जन्म लिया। आपने महाराज दुर्योधनके वैभवको ठुकराकर विदुरके घर जाकर भोजन किया ॥३॥ आप अपने अनन्य भक्तोंकी भलाई करना ही अच्छा समझते हैं, आपने यह रीति कुछ-कुछ अर्जुनको बतायी थी। तुलसीदास कहते हैं कि श्रीरामजी स्वाभाविक स्नेहके अधीन हैं और सब साधन जलकी चिकनाईके समान हैं। भाव यह है कि पानी पड़ते ही थोड़ी देरके लिए तो शरीर चिकना हो जाता है, पर कुछ ही देरमें पानी सूख जानेके बाद रूखा हो जाता है। इसी प्रकार अन्य साधनों द्वारा क्षणिक सुख-शान्ति मिलती है, किन्तु जरा भी कामना-रूपी हवाके लगते ही वह सुख-शान्ति हवा हो जाती है ॥४॥

विशेष

१—'गनिका'—९४ पदके विशेषमें देखिये।

२—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये ।

३—'बधिक'—व्याध; ९४ पदके विशेषमें देखिये ।

४—'करसी'—कुछ प्रतियोंमें 'कासी' पाठ भी है । यह होनेसे इस प्रकार अर्थ होगा—गणिका, गिद्ध, व्याधको बैकुण्ठमें तो ले गये, पर इन लोगोंने काशी और प्रयागमें कब तपस्या की थी ?

५—'नृग'—२१३ पदके विशेषमें देखिये ।

६—'गज'—८३ पदके विशेषमें देखिये ।

इसी चरणके आशयका एक पद यह भी है—

हे गोविन्द राखु सरन अब तो जीवन हारे ।
नीर पिवन हेतु गयो सिन्धुके किनारे ॥
सिन्धु बीच बसत ग्राह चरन गहि पछारे ।
लड़त लड़त साँझ भई ले गयो मँझधारे ॥
नासिका लौं बूड़न लाग्यो कृष्णको पुकारे ।
द्वारिकामें शब्द भयो गरुड़ छोड़ि धाये ॥
ग्राहको तो मारिकै गजराजको उबारे ।
सूरश्याम मगन भये नन्दके दुलारे ॥
मेरो तेरो न्याय होय धर्मराजके दुआरे ।

७—'बायों' · · · · 'कीन्हो'—एक बार अभिमानी दुर्योधनने भगवान्‌को आमन्त्रित किया । अन्तर्यामी कृष्णजी उसका कपट-भाव जानकर उसके यहाँ नहीं गये बल्कि विदुरके घर गये। उन्होंने विदुरकी स्त्रीसे भोजन माँगा । विदुर-की स्त्री थोड़ा साग, कुछ केले ले आयी और प्रेमानन्दमें विभोर हो जानेके कारण केलेके छिलके उतारकर भगवान्‌को देने लगी तथा खानेवाला पदार्थ गूदा जमीनपर फेंकने लगी । भगवान् बड़े प्रेमके साथ उन छिलकोंको खाने लगे । उसी समय विदुर भी वहाँ आ गये । उन्होंने अपनी स्त्रीका कार्य देखकर बड़ा क्रोध किया और उसका हाथ पकड़कर वहाँसे उठा दिया । पश्चात् उन्होंने अपने हाथसे एक केला छीलकर सार पदार्थ भगवान्‌को दिया । भावके भूखे

भगवान्‌ने उसे खाकर कहा, जो माधुर्य उन छिलकोंमें था, वह इसमें नहीं है; अतः मैं न खाऊँगा। इसी भावपर सूरदासजीने भी लिखा है—

'दुर्योधन-घर मेवा त्याग्यो, साग विदुर घर खायो'

[२४१]

तब तुम मोहूँसे सठनि को हठि गति न देते[1]।
कैसेहु नाम लेइ कोउ पामर, सुनि सादर आगे ह्वै लेते ॥१॥
पाप-खानि जिय जानि अजामिल, जमगन तमकि तये ताको भेते।
लियो छुड़ाइ, चले कर मींजत, पीसत दाँत गये रिस-रेते ॥२॥
गौतम-तिय, गज, गीध, बिटप, कपि, हैं नाथहिं नीके मालुम जेते।
तिन्ह-तिन्ह काजनि साधु-सभा[2] तजि कृपासिंधु तब-तब उठिगे ते।३।
अजहुँ अधिक आदर येहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहिं केते।
मेरे पासंगहु न पूजिहैं, ह्वै गये, हैं, होने खल जेते ॥४॥
हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पतरो बाँधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते ॥५॥

शब्दार्थ—पामर = पापी। तमकि = तमककर। तये = लाल हो उठे। रिस-रेते = क्रोधसे भरे हुए, क्रोधित। उठिगे ते = उठकर गये थे। हुतो = था। चेते = ध्यान दिया।

भावार्थ—तब आप मुझ जैसे दुष्टोंको जबरदस्ती मोक्ष न देते। कोई पापी किसी प्रकार भी आपका नाम क्यों न ले, सुनते ही आप आदरके साथ उसे आगे होकर (बढ़कर) लेते हैं ॥१॥ यमराजके दूतोंने अपने जीमें अजामिलको पापोंकी खानि समझकर उसे डाँटा-फटकारा और (क्रोधसे) लाल हो उठे; किन्तु आपने उसे (उनके हाथसे) छुड़ा लिया। (वे यमदूत बेचारे) क्रोधित होकर हाथ मलते हुए और दाँत पीसते हुए चले गये ॥२॥ गौतमकी स्त्री (अहिल्या), गजेन्द्र, गीध (जटायु), वृक्ष (यमलार्जुन), बन्दर तथा इस प्रकारके जो जो आपको प्रिय हैं, उन्हें (सब लोग) जानते हैं। उन सबका जब-जब काम पड़ा था, तब-तब आप साधुसमाजको छोड़कर उठकर चले गये थे ॥३॥ इस दरवाजे-

१. पाठान्तर 'तौ तुम मोहूसे सठनिको हठि गति देते।'

२. 'तिन्हके काज साधु-समाज।'

पर अब भी पापियोंका आदर है। (मैं आपसे पूछता हूँ कि) यहाँ कितने पापी पवित्र नहीं होते ? किन्तु संसारमें जितने खल या पापी हो चुके हैं, हैं, और होंगे, वे सब मेरे पासंगेमें भी नहीं पूजेंगे ॥४॥ अबतक मैं आपकी करतूत देख रहा था (कि देखूँ आप मुझे कब शरणमें लेते हैं), पर आपने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए अब यह तुलसीदास (आपके नामका) पुतला बाँधेगा; क्योंकि मुझसे इतनी हँसी सहन नहीं हो सकती ॥५॥

विशेष

१—इस पदमें गोस्वामीके रूठनेका बड़ा ही सुन्दर चित्र है। प्रारम्भमें जो 'तब' शब्द आया है, वह बड़ा ही अपूर्व है। कविका आशय यह है कि यदि आपको मुझे तारना स्वीकार नहीं था, तो फिर मेरे समान अन्यान्य दुष्टोंको भी न तारे होते। इसमें कविने रूठकर भगवान्‌को उलाहना दिया है। यहाँ 'तब' शब्द काल-वाचक नहीं है। कविने इस 'तब'का मेल 'अब'के साथ मिलाया है; 'अब तुलसी पूतरो बाँधिहै।' खूब ! इस पदमें रूठनेका भाव है, उलाहना है, स्वामीकी दयालुता है और अन्तमें है धमकी। इस पदको मननपूर्वक पढ़नेसे ही पाठकगण इसका ठीक-ठीक रसास्वादन कर सकेंगे।

२—'अजामिल'—५७ पदके विशेषमें देखिये।

३—'गौतम-तिय'—४३ पदके विशेषमें देखिये।

४—'गज'—८३ पदके विशेषमें देखिये।

५—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

६—'बिटप', यमलार्जुन;—७८ पदके विशेषमें देखिये।

७—'हौं अब लौं करतूति तिहारिय'—इस पंक्तिमें कविका स्वाभिमान-पूर्ण कथन है। वास्तवमें भक्तको सब-कुछ कहनेका अधिकार है। देखिये न, एक कविने तो यहाँतक कह डाला है—

तुम करतार जगरच्छाके करनहार पूरत मनोरथ हौ सब चित चाहे के।
यह जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो हूजिये दयालु ताप मेटो दुख दाहे के॥
जो यों कहौ तेरे हैं रे करम अनैसे हम गाहक हैं सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि उतरौंगो पार तौ पै हम करतार करतार तुम काहे के ? ॥

८—'पूतरो बाँधिहै'—खेल दिखानेके बाद नट कपड़ेका बनाया हुआ पुतला बाँसपर लटकाकर चारों ओर घुमाता है और कहता फिरता है कि देखो यह सूम है। इससे पैसा न देनेवाले सूम उसे कुछ-न-कुछ दे देते हैं। इसी प्रकार मैं भी पुतला बाँधकर कहता फिरूँगा कि यह सूमराज रामचन्द्रजी हैं।

[२४२]

तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम,
सुनहु नृपति रघुराई।
मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग,
तुम सम हरि! न हरन कुटिलाई ॥१॥
हौं मन बचन-करम पातक-रत,
तुम कृपालु पतितन-गति दाई।
हौं अनाथ, प्रभु! तुम अनाथ-हित,
चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई ॥२॥
हौं आरत, आरति-नासक तुम,
कीरति निगम-पुराननि गाई।
हौं सभीत तुम हरन सकल भय,
कारन कवन कृपा बिसराई ॥३॥
तुम सुखधाम राम स्रम-भंजन,
हौं अति दुखित त्रिबिध स्रम पाई।
यह जिय जानि दास तुलसी कहँ,
राखहु सरन समुझि प्रभुताई ॥४॥

शब्दार्थ—मौलिमनि = शिरोमणि। सुरभि = सुध। आरति = दुःख। स्रम = श्रम, त्रिविध श्रम, दैहिक, दैविक और भौतिक।

भावार्थ—हे रामजी, सुनिये! आपके समान दीनबन्धु और मेरे समान दीन दूसरा कोई नहीं है। हे प्रभो! न तो संसारमें मेरे समान कोई दुष्ट-शिरोमणि है, और न आपके समान कोई दुष्टताका हरण करनेवाला है ॥१॥ मैं मन, वचन और कर्मसे पाप-रत हूँ, और आप कृपालु हैं, पापियोंको सद्गति देनेवाले

हैं। हे प्रभो! मेरे चित्तसे इस बातका ध्यान कभी नहीं जा सकता कि मैं अनाथ हूँ और आप अनाथोंका हित करनेवाले हैं ॥२॥ मैं दुखी हूँ, और आप दुःख-भंजन हैं। आपका यह यश वेदों और पुराणोंने गाया है। मैं भयभीत हूँ, और आप सब भयको हरनेवाले हैं। फिर क्या कारण है कि आप मुझपर कृपा करना भूल गये हैं? ॥३॥ हे रामजी! आप आनन्द-राशि तथा श्रमके नाश करनेवाले हैं, और मैं दुःखित हूँ तथा तीनों प्रकारका दैहिक, दैविक, भौतिक श्रम पा चुका हूँ। तात्पर्य यह कि आप सुख-धाम हैं, और मैं दुःखित हूँ—अतः मुझे सुख दीजिये। आप श्रम-भंजन हैं और मैं दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों प्रकारके श्रमसे श्रमित हूँ—अतः मेरा श्रम दूर कीजिये। यह सब अपने दिलमें विचारकर तथा अपनी प्रभुताको समझकर इस तुलसीदासको अपनी शरणमें रख लीजिये ॥४॥

[२४३]

इहै जानि चरनन्हि चित लायो।
नाहिन नाथ! अकारन को हितु,
तुम समान पुरान-स्रुति गायो ॥१॥
जननि-जनक, सुत-दार, बंधु जन,
भये बहुत जहँ-जहँ हौं जायो।
सब स्वारथहित प्रीति, कपट चित,
काहू नहिं हरि भजन सिखायो ॥२॥
सुर-मुनि, मनुज-दनुज अहि-किन्नर,
मैं तनु धरि सिर काहि न नायो।
जरत फिरत त्रय ताप पाप बस,
काहु न हरि! करि कृपा जुड़ायो ॥३॥
जतन अनेक किये सुख-कारन,
हरिपद-बिमुख सदा दुख पायो।
अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों,
देखत बिपति-जाल जग छायो ॥४॥

मों कहँ नाथ! बूझिये, यह गति,
सुख-निधान निज पति बिसरायो।
अब तजि रोष करहु करुना हरि!
तुलसिदास सरनागत आयो ॥५॥

शब्दार्थ—जनक = पिता। सुत = पुत्र। दार = स्त्री। अहि = सर्प। जुड़ायो = ठण्डा किया; शीतल किया। बूझिये = खबर लीजिये।

भावार्थ—हे नाथ! यही समझकर मैंने आपके चरणोंमें चित्त लगाया कि वेदों और पुराणोंके कथनानुसार आपके समान अकारण ही हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ मैं जहाँ-जहाँ पैदा हुआ, (सब मिलाकर) मेरे बहुतसे पिता, माता, पुत्र, स्त्री, भाई और स्वजन हुए; किन्तु सबका प्रेम स्वार्थवश था और सभी कपटी हृदयके थे; क्योंकि किसीने भी मुझे भगवद्भजन करनेका उपदेश नहीं दिया ॥२॥ मैंने शरीर धारण करके देवता, मुनि, मनुष्य, राक्षस, सर्प, किन्नर आदि किसके आगे सिर नहीं झुकाया? हे हरे! मैं अपने पापोंके कारण तीनों पापोंसे जलता फिरा, पर किसीने भी कृपा करके मुझे शीतल नहीं किया ॥३॥ सुखके लिए मैंने अनेक यत्न किये, किन्तु भगवच्चरणारविन्दोंसे विमुख रहनेके कारण मुझे सदैव दुःख ही मिला। संसारमें विपत्तियोंका जाल छाया हुआ देखकर अब मैं (समस्त साधनोंसे) उसी प्रकार थक गया हूँ जैसे पानीमें न रहनेके कारण नौका (अचल हो जाती है) ॥४॥ हे नाथ! मेरी खबर लीजिये। मैंने अपने आनन्द-निधान स्वामीको भुला दिया, इसीसे मेरी यह दशा हो रही है। हे प्रभो! अब आप क्रोधको छोड़कर शरणागत तुलसीदास-पर दया कीजिये; क्योंकि (अब तो) यह दास आपकी शरणमें आ गया ॥५॥

[२४४]

याहि ते मैं हरि ग्यान गँवायो।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहि, बाहर फिरत विकल भयो धायो ॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ तें आयो ॥२॥

ज्यों सर बिमल बारि परिपूरन, ऊपर कछु सिवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजि हौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ॥३॥
ब्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन, तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपनेहि धाम नाम-सुरतरु तजि बिषय-बबूर-बाग मन लायो ॥४॥
तुम-सम ग्यान-निधान, मोहिं सम मूढ़ न आन पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु! यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो ॥५॥

शब्दार्थ—कुरंग=हरिन। मद=यहाँ 'मद' शब्द कस्तूरीके लिए आया है। मरम=भेद, हाल। वारि=जल।

भावार्थ—हे हरे! मैं इसीलिए ज्ञानसे हाथ धो बैठा कि अपने हृदय-कमल-में स्थित रघुनाथजीको छोड़कर व्याकुल हुआ बाहर-बाहर दौड़ता फिरा ॥१॥ (किस प्रकार दौड़ता फिरा?) जैसे अत्यन्त बुद्धिहीन मृग अपने अंगके सुन्दर मद-(कस्तूरी) का मर्म नहीं समझ पाता और पर्वत, वृक्ष, लता, पृथिवी, बिल आदिमें ढूँढ़ता फिरता है कि इतनी अधिक सुगन्ध कहाँसे आ रही है ॥२॥ (अथवा) जैसे निर्मल जलसे परिपूर्ण तालाबमें (पानीके) ऊपर सिवार और तृण छाया हुआ है (किन्तु न जाननेके कारण) उस तालाबके स्वच्छ जलको छोड़कर मैं दुष्ट अपना हृदय जला रहा हूँ और इस प्रकार अपनी प्यास बुझाना चाहता हूँ। (भाव यह कि हृदय-सरोवरमें परमात्मारूपी निर्मल जल भरा हुआ है, परन्तु अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेके कारण मैं आत्मानन्दसे प्यास न बुझाकर मृगजलरूपी सांसारिक भोगोंसे तृष्णाको मिटाना चाहता हूँ; परिणाम यह हो रहा है कि त्रितापसे जल रहा हूँ) ॥३॥ एक तो शरीरमें असह्य त्रिविध ताप व्याप रहे हैं, तिसपर दुस्सह दरिद्रता सता रही है। मैं अपने घरमें (शरीरमें स्थित) राम-नामरूपी कल्पवृक्षको छोड़कर विषयरूपी बबूरके बागमें मन लगा रहा हूँ ॥४॥ आपके समान ज्ञानका भाण्डार और मेरे समान मूढ़ दूसरा कोई नहीं है, यह बात पुराणोंने कही है। अतः हे तुलसीदासके प्रभु रामजी! इसपर आप अपने हृदयमें विचार करके जो अच्छा लगे, वही कीजिये ॥५॥

विशेष

१—'ज्यों कुरङ्ग······आयो'—जब हरिनके अण्डकोषमें कस्तूरी पैदा हो

जाती है, तो उसकी सुगन्ध बहुत दूरतक उड़ने लगती है। किन्तु उस हरिन-को यह बात नहीं मालूम होती कि सुगन्ध उसीके शरीरसे निकल रही है। परिणाम यह होता है कि वह हरिन उस सुगन्धकी तलाशमें चारों ओर दौड़ता फिरता है।

[२४५]

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
याके लिये सुनहु करुनामय,
मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो ॥१॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख
निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोह बस,
बृथहि मंदमति बारि बिलोयो ॥२॥
करम-कीच जिय जानि, सानि चित,
चाहत कुटिल मलहि मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ,
फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो ॥३॥
तुलसिदास प्रभु ! कृपा करहु अब,
मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।
डासत ही गइ बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो ॥४॥

शब्दार्थ—बिगोयो = बिगाड़ा, सत्यानाश किया। पियूष = अमृत। सहज सुख = परमानन्द। बिलोयो = मंथन किया। निचोयो = निचोड़ना, दुहना। डासत = बिछौना बिछाते।

भावार्थ—इस मूर्ख मनने मुझे खूब सत्यानाश किया। हे करुणामय ! सुनिये, इसके लिए मैं संसारमें जन्म ले-लेकर दुःखड़ा रोता रहा ॥१॥ शीतल और मधुर अमृतवत् परमानन्दके निकट रहते हुए भी मैंने मानो उसे बहुत दूर खो दिया। मोहवश नाना प्रकारका श्रम करके व्यर्थ ही मुझ मूढ़ बुद्धिने जल-मंथन किया (विषयरूपी जलको मथकर परमानन्दरूपी घी निकालना चाहा)

॥२॥ दिलमें जान-बूझकर भी कुटिल (दुष्ट) मैं कर्मके कीचड़में चित्तको सानकर मलसे ही मलको धोना चाहता हूँ। मैं ऐसा दुष्ट प्यासा हूँ कि गंगाजीको छोड़कर व्याकुल हो बारम्बार आकाश दुहता रहा (सच्चे सुखके लिए दुःखरूप विषयोंमें उलझा रहा) ॥३॥ हे प्रभो ! अब तुलसीदासपर कृपा कीजिये, क्योंकि मैंने अपना दोष तनिक भी आपसे नहीं छिपाया है। हे नाथ ! मुझे बिछौना बिछाते-बिछाते ही सारी रात बीत गयी (उपाय ही करते-करते जिन्दगी खतम हो गयी), कभी भी नींद भर न सोया (आत्मसुख नहीं प्राप्त कर सका) ॥४॥

विशेष

१—'डासत······सोयो'—यहाँ जीवनको 'निसा' इसलिए कहा है कि यह जीवन अज्ञानमय है, और अज्ञान अन्धकाररूप है।

[२४६]

लोक-बेद हूँ बिदित बात सुनि-समुझि
मोह-मोहित बिकल मति थिति न लहति।
छोटे-बड़े, खोटे-खरे, मोटेऊ दूबरे,
राम ! रावरे निवाहे सबहीकी निबहति ॥१॥
होती जो आपने बस, रहती एक ही रस,
दुनी न हरष-सोक-साँसति सहति।
चहतो जो जोई जोई, लहतो सो सोई सोई,
केहू भाँति काहू की न लालसा रहति ॥२॥
करम, काल, सुभाउ गुन-दोष जीव जग माया तें,
सो सभै भौंह चकित चहति।
ईसनि-दिगीसनि, जोगीसनि-मुनीसनि हूँ,
छोड़ति छोड़ाये तें, गहाये तें गहति ॥३॥
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज,
महाराज बाजी रची, प्रथम न हति।
तुलसी प्रभुके हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ !
बहु बेष, बहु मुख सारदा कहति ॥४॥

शब्दार्थ—थिति = (स्थिति) स्थिरता। सभै = भयभीत। ईसनि = ब्रह्मा-विष्णु और शिव। गहति = पकड़ती है। हति = थी। सारदा = सरस्वती।

भावार्थ—यह बात संसार और वेदोंमें विदित है, तथा सुनने-समझनेसे भी (यही) ज्ञात होता है कि अज्ञान-लिप्त व्याकुल बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। हे रामजी! छोटे-बड़े, बुरे-भले, मोटे-दुबले, सबका निर्वाह आपहीके निभानेसे हो रहा है ॥१॥ यदि (यह बुद्धि) अपने वशमें होती, तो सदा एकरस रहती, दुनियामें हर्ष और शोकका कष्ट न सहती। सबको मनोवांच्छित वस्तु प्राप्त हुआ करती, किसीकी भी किसी तरहकी लालसा (अपूर्ण) न रह जाती ॥२॥ कर्म, काल, स्वभाव, गुण, दोष, जीव, जगत् सब आपहीकी मायासे हैं और वह माया भयभीत होकर चकित भावसे आपकी भृकुटि निहारा करती है। यह माया शिव, ब्रह्मा आदिको, दिक्पालों-(इन्द्रादि लोकपालों) को, योगीश्वरोंको (मार्कंडेय आदिको) और मुनीश्वरों-(वशिष्ठ आदि) तकको आपहीके छुड़ानेसे छोड़ती एवं पकड़ानेसे पकड़ती है ॥३॥ इस मायाका राज्य शतरंजकी तरह है, जिसका समाज (बादशाहसे लेकर प्यादेतक सब मोहरा) काठका (बना हुआ) है (यथार्थतः न कोई राजा है, न प्यादा)। हे महाराज! शतरंजकी यह बाजी आपहीकी रची हुई है; पहले यह नहीं थी। तुलसीका कथन है कि हे नाथ! इस बाजीका हारना-जीतना दोनों आपहीके हाथमें है (अर्थात् यदि आप चाहें तो हरा दें अथवा जिता दें)। यह बात सरस्वतीने अनेक वेष धारण करके अनन्त मुखसे कही है (अर्थात् बन्धन और मोक्ष सब ईश्वराधीन है) ॥४॥

विशेष

१—'माया'—११६ पदके विशेषमें देखिये।

२—'छोड़ति·····गहति'—१३३ पदके विशेषमें देखिये।

[२४७]

राम जपु जीह! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
राम नाम जपे जैहै जियकी जरनि।
राम नाम सों रहनि, राम नाम की कहनि,
कुटिल कलि-मल-सोक-संकट हरनि ॥१॥

राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
किये न दुराउ, कही आपनी करनि।
भवसागर-सेतु, कासी हू गति हेतु,
जपत सादर संभु सहित घरनि ॥२॥

बालमीकि ब्याध हे अगाध-अपराध-निधि,
'मरा' 'मरा' जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो बिन्ध्य, सोख्यो सिन्धु घटजहुँ नाम-बल,
हार्यो हिय खारो भयो भूसुर-डरनि ॥३॥

नाम-महिमा अपार, सेष-सुक बार बार,
मति-अनुसार बुध बेद हू बरनि।
नामरति कामधेनु तुलसीको कामतरु,
रामनाम है बिमोह-तिमिर-तरनि ॥४॥

शब्दार्थ—दुराउ = छिपाव। घरनि = स्त्री। हे = थे। अमरनि = देवताओं। घटजहुँ = कुम्भज ऋषिने भी। भूसुर = देवता। विमोह = अज्ञान। तरनि = सूर्य।

भावार्थ—हे जीभ! तू यह जानकर और विश्वास मानकर प्रेमसे राम-नामका जप कर कि रामका नाम जपनेसे ही हृदयकी दाह मिटेगी। रामनाममें ही रहन-सहन रखना अर्थात् उठते-बैठते रामका नाम जपना एवं रामनामका ही उच्चारण करना दुष्ट कलिकालके पापों और शोक-संकटको हरनेवाला है ॥१॥ रामनामका ही प्रभाव है कि गणेशजी (सर्वप्रथम) पूजे जाते हैं। अपनी करनीको गणेशजीने स्वयं कहा है, कुछ भी नहीं छिपाया है। यह नाम संसार-समुद्रका पुल है तथा काशीमें मुक्ति देनेका मूल कारण है। (क्योंकि शिवजी 'रामतारक' मन्त्रके उपदेश द्वारा ही जीवोंको मुक्त किया करते हैं) इसे भगवान् शंकर अपनी पत्नी पार्वतीके सहित बड़े आदरपूर्वक जपा करते हैं ॥२॥ बाल्मीकि (पहले) बहेलिया थे, अपराधोंके अगाध-समुद्र थे। किन्तु 'मरा-मरा' जपनेके प्रभावसे वह मुनियों और देवताओं द्वारा पूजे गये। अगस्त्य-ऋषि भी रामनामके ही बलसे विन्ध्यगिरिको रोकने एवं समुद्रको सोखनेमें समर्थ हुए थे। पश्चात् ब्राह्मण (अगस्त्य-ऋषि) के डरसे समुद्र अपने हृदयमें हार मानकर खारा हो गया

(ताकि अगस्त्य-ऋषि या और अन्य तपस्वी ब्राह्मण उसे खारा मानकर आचमन न कर सकें) ॥३॥ शेष, शुकदेवजी, पण्डित तथा वेदोंने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार इसका वर्णन करते हुए कहा है कि रामनामकी महिमा अपार है। रामनाममें प्रेम होना तुलसीके लिए कामधेनु और कल्पवृक्ष है। यह राम-नाम अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिए सूर्य है ॥४॥

विशेष

१—'राम जपु······जरनि'—भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ता ये श्रृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥

—श्रीमद्भागवत (११।२६ श्लोक। २९,३०)

अर्थात् 'जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते और चिन्तन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है। मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न सच्चिदानन्दघन—ब्रह्ममें भक्ति हो जाने-पर फिर उस साधु पुरुषको और कौनसी वस्तु प्राप्त करनी बाकी रह जाती है?'

२—'कुटिल कलिमल···हरनि'—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशोऽब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥
सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥

—श्रीमद्भागवत (१२।१२। श्लो. ४६-४७)

अर्थात् 'कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःखसे पीड़ित होते समय परवश होकर भी ऊँचे स्वरमें 'हरये नमः' पुकार उठता है तो वह सब

पापोंसे छूट जाता है । जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारको भी नाश कर देता है, और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्त भगवान्‌का नाम कीर्त्तन हृदयमें प्रवेश करके समस्त पापोंको धो डालता है ।'

३.—'पूजियत गनराउ'—एक बार देवताओंमें होड़ लगी कि जो ब्रह्माण्ड-की प्रदक्षिणा करके सबसे पहले आ जायगा, उसीकी पूजा सर्वप्रथम हुआ करेगी । फिर क्या था, सब देवता अपनी-अपनी सवारीपर बैठकर प्रदक्षिणा करने लगे । बेचारे गणेजी चूहेपर बैठकर बड़े फेरमें पड़े । भला चूहेपर बैठकर वह कितनी शीघ्रता करते ? अचानक नारदजी मिले । उन्होंने गणेशजीके उदास रहनेका कारण जानकर कहा, आप राम-नाम लिखकर उसीकी प्रदक्षिणा कर डालें । क्योंकि रामनाममें समूचा ब्रह्मांड निहित है । गणेशजीने ऐसा ही किया । परिणाम यह हुआ कि सब देवताओंको हार मानना पड़ी, और उसी समयसे प्रत्येक कार्यमें सर्वप्रथम पूजा गणेशजीकी होने लगी । गुसाईंजीने रामचरित मानसमें लिखा है—

महिमा जासु जान गन राऊ । प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥

४—'कहीं आपनी करनि'—पुराणमें यह कथा भी पायी जाती है कि पहले गणेशजी बड़े उपद्रवी थे । इन्होंने सैकड़ों मुनियोंको मार डाला था । शिवजीने इनके उपद्रवसे दुःखित होकर रामजीका स्मरण किया । रामजीने प्रकट होकर 'राम सहस्र नाम' जपनेका उपदेश दिया । उस जपसे गणेशजी मंगलमूर्ति हो गये । ब्रह्मांड पुराणमें गणेशजीने कहा है—

'ततस्तद्ग्रहणादेव निष्पापोऽस्मि तदैव हि ।
तदादि सर्वदेवानां पूज्योऽस्मि मुनिरुत्तम ॥'

५—'बालमीकि'—९४ पदके विशेषमें देखिये ।

६—'रोक्यो बिन्ध्य'—विन्ध्याचल पहाड़ बहुत ऊँचा था । सूर्यकी प्रखर किरणोंसे अपने पेड़ोंको बचानेके लिए वह अपना शरीर बढ़ाने लगा । इससे देवलोक व्याकुल हो उठा । समस्त देवताओंने आकर अगस्त्य ऋषिसे प्रार्थना की । अगस्त्य ऋषिने रामनामका स्मरणकर उक्त पर्वतके मस्तकपर हाथ रख

दिया और कहा'—'जबतक मैं लौटकर यहाँ न आऊँ, तबतक तू यहाँ इसी प्रकार पड़ा रह।' उसके बाद अगस्त्यजी नहीं लौटे, अतः विन्ध्याचल पर्वत ज्योंका त्यों पड़ा रह गया। यह रामनामकी महिमा है।

७—'सोख्यो सिंधु'—पद १२ के विशेषमें देखिये। यह कथा इस प्रकार भी पायी जाती है कि अगस्त्यमुनि शामके वक्त समुद्रके किनारे बैठे पूजा कर रहे थे। पूर्णमासी होनेके कारण समुद्रका ज्वार प्रतिक्षण बढ़ रहा था। उसकी लहरोंमें अगस्त्य मुनिकी पूजाकी सामग्री बह गयी। इससे वह बहुत क्रुद्ध हुए और 'ॐ राम' कहकर तीन आचमनमें समुद्रका सब जल पी गये। पीछे देवताओंके विशेष आग्रह करनेपर अगस्त्य ऋषिने पेशाबके रास्ते उसे बाहर निकाल दिया।

[२४८]

पाहि, पाहि राम! पाहि, रामभद्र, रामचन्द्र!
सुजस स्त्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबन्धु! दीनता-दरिद्र-दाह-दोष-दुख
दारुन दुसह दर-दुरति-हरन ॥१॥
जब जब जग-जाल ब्याकुल करम काल,
सब खल भूप भये भूतल भरन।
तब तब तनु धरि, भूमि-भार दूरि करि
थापे मुनि, सुर, साधु, आस्रम, बरन ॥२॥
बेद, लोक, सब साखी, काहू की रती न राखी,
रावन की बन्दि लागे अमर मरन।
ओक दै बिसोक किये लोकपति लोकनाथ,
राम राज भयो धरम चारिहु चरन ॥३॥
सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर,
ख्याल ही कृपालु कीन्हे तारन-तरन।
पील-उद्धरन! सीलसिंधु! ढील देखियतु,
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन ॥४॥

शब्दार्थ—दर = डर। दुरित = पाप। रती = तेज। बन्दि = जेल। अमर = देवता। ओक = आश्रय। पील = हाथी।

शब्दार्थ—हे रामजी! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये! हे कल्याण-स्वरूप रामचन्द्र! रक्षा कीजिये! आपका सुयश सुनकर मैं शरणमें आया हूँ। हे दीन-बन्धु! आप दीनता, दरिद्रता, जलन, दोष, दुःख, भयंकर और असह्य डर एवं पापोंका नाश करनेवाले हैं ॥१॥ जब-जब संसार-जालसे तथा कर्म और कालसे व्याकुल होकर सब राजा दुष्ट हो गये और उनसे पृथिवी भर गयी, तब-तब आपने शरीर धारण करके (अवतार लेकर) पृथिवीका भार दूर किया एवं मुनियों, देवताओं, संतों, (चारों) आश्रमों एवं (चारों) वर्णोंकी स्थापना की ॥२॥ लोक और चारों वेद साक्षी हैं कि जब रावणने किसीका तेज न रहने दिया और उसके कैदखानेमें अमर देवता भी मरने लगे, तब हे त्रिलोकीनाथ! आपहीने लोक-पतियों–(इन्द्र, कुबेर आदि) को आश्रय देकर शोक-रहित किया। (आपकी कृपासे) आपका राज्य (रामराज्य) हो गया और धर्मके चारों चरण हो गये यानी सत्य, तप, दया और दान पनप उठे ॥३॥ हे कृपालु! अहल्या, निषाद, जटायु, बन्दर, भील, भालु और राक्षसोंको आपके खयालने ही तारन-तरन कर दिया अर्थात् आपके ध्यान देनेसे ही ये लोग स्वयं तरकर दूसरोंको तारनेवाले हो गये। हे गजेन्द्रका उद्धार करनेवाले! हे शीलसागर! यह तुलसी अपनेपर आपकी ओरसे ढिलाई देखकर ग्लानिसे ही गला चाहता है ॥४॥

विशेष

१—'दुरित'—बहुतसी प्रतियों में 'दरप' पाठ है। यह पाठ होनेपर यहाँ इसका अर्थ होगा 'गर्व'।

२—'आश्रम'—चार हैं; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास।

३—'बरन'—वर्ण भी चार हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।

४—'सिला'—अहल्या; ४३ पदके विशेषमें देखिये।

५—'गुह'—निषाद; १०६ पदके विशेषमें देखिये।

६—'गीध'—जटायु; २१५ पदके विशेषमें देखिये।

७—'पील—गजेन्द्र; ८३ पदके विशेषमें देखिये।

[२४९]

भली भाँति पहिचाने-जाने साहिब जहाँ लौं जग,
जूड़े होत थोरे, थोरे ही गरम।
प्रीति न प्रवीन, नीति हीन, रीतिके मलीन,
मायाधीन सब किये कालहू करम ॥१॥
दानव-दनुज बड़े महामूढ़ मूँड़ चढ़े,
जीते लोकनाथ नाथ बलनि भरम।
रीझि-रीझि दिये बर, खीझि-खीझि घाले घर,
आपने निवाजेकी न काहूको सरम ॥२॥
सेवा-सावधान तू सुजान समरथ साँचो,
सद्गुन-धाम राम! पावन परम।
सुरुख, सुमुख, एकरस, एकरूप, तोहि,
बिदित बिसेषि घट घट के मरम ॥३॥
तो सों नतपाल न कृपाल, न कँगाल मो-सों
दया में बसत देव सकल धरम।
राम कामतरु-छाँह चाहै रुचि मन माँह,
तुलसी बिकल, बलि, कलि-कुधरम ॥४॥

शब्दार्थ—जूड़े = शीतल, प्रसन्न। मूँड़े = सिर। घाले = नष्ट किये। मरम = मर्म।

भावार्थ—संसारमें जहाँतक (जितने) स्वामी हैं, (सबको) मैंने अच्छी तरह पहचान लिया और जान लिया है। वे थोड़ेमें ही प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़ेमें क्रुद्ध। वे प्रेममें निपुण नहीं हैं, नीतिहीन हैं और रीतिमें मलिन हैं, क्योंकि काल, कर्म एवं मायाने उन्हें अपने अधीन कर रखा है ॥१॥ अपने स्वामियोंके बलके भ्रममें महामूर्ख बड़े-बड़े दैत्य-दानव सिरचढ़े हो गये थे और लोकपालोंको भी जीतनेमें समर्थ हुए थे। उनके स्वामियोंने पहले तो प्रसन्न हो-होकर वर दिये और पीछे चिढ़कर इनके घरोंका सत्यानाश कर दिया। अपने कृपा करनेकी किसीको भी शर्म नहीं है (अर्थात्, किसीको यह ज्ञान नहीं कि लगाये हुए आमको काटना बहुत बुरा है) ॥२॥ हे राम जी! सेवासे सावधान, सच्चे समर्थ एवं चतुर आप

ही हैं। आप सद्गुणोंके घर तथा अत्यन्त पवित्र हैं। आपका रुख सदा अच्छा रहता है। आप प्रसन्नमुख, एकरस एवं एकरूप रहते हैं। आपको विशेष रूपसे घट-घटका हाल ज्ञात है ॥३॥ आपके समान शरणागत-पालक और कृपालु (स्वामी) तथा मुझसा कंगाल दूसरा कोई नहीं है। देव! दयामें सब धर्मोंका निवास होता है (अतः आप मुझपर दया कीजिये)। आप कल्पवृक्ष हैं, और मेरा मन इसी कल्पवृक्षकी छाया (में मनोवाञ्छित फल प्राप्त करनेके लिए बैठना) चाहता है। बलिहारी! तुलसीदास कलिके कुधर्मोंसे विकल हो रहा है ॥४॥

विशेष

१—'बलनि भरम'—कहीं-कहीं 'बल निभरम' पाठ है। ऐसा पाठ होनेपर 'बलपर निःशंक' अर्थ होगा।

[२५०]

तौ हौं बार बार प्रभुहि पुकारि कै खिझावतो न,
जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर-ठहरु।
आलसी-अभागे मोसे तैं कृपालु पाले-पोसे,
राजा मेरे राजाराम, अवध सहरु ॥१॥
सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस, गौरी,
हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु।
रामनाम ही सों जोग-छेम, नेम, प्रेम-पन,
सुधा सो भरोसो एहु, दूसरो जहरु ॥२॥
समाचार साथ के अनाथ-नाथ! कासों कहौं,
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु।
निज काज, सुरकाज, आरतके काज, राज!
बूझिये बिलम्ब कहा कहूँ न गहरु ॥३॥
रीति सुनि रावरी प्रतीति-प्रीति रावरे सों,
डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु!
कहे ही बनैगी कै कहाये, बलि जाऊँ, राम,
'तुलसी! तू मेरो, हारि हिये न हहरु' ॥४॥

शब्दार्थ—ठहरु = स्थान। सहरु = शहर, नगर। गहरु = देर। कहरु = जुर्म, अनीति। हहरु = जी छोटा करना, हार मान लेना।

भावार्थ—हे नाथ! यदि मुझे कहीं भी कोई स्वामी और ठिकाना होता, तो मैं बारम्बार आपको पुकार-पुकार कर न खिझाता। मुझ सरीखे आलसी और अभागेको आप ही कृपालुने पाला-पोसा है, अतः (मेरे लिए) रामचन्द्रजी ही मेरे राजा (स्वामी) हैं और अयोध्या ही नगर (ठिकाना) है ॥१॥ न तो मैंने दिग्पाल, सूर्य, गणेश और पार्वतीजीकी सेवा ही की और न ब्रह्मा, विष्णु, महेशको ही अपना हितू करके माना। मेरा तो योग, क्षेम, नेम, प्रेम और प्रण एक रामनामसे ही है। मेरे लिए उसका भरोसा अमृतके समान है और दूसरे साधन जहरके समान हैं ॥२॥ हे अनाथोंके नाथ! मैं अपने साथवालों-(काम, क्रोधादि) का समाचार किससे कहूँ? क्योंकि चोर (कामादि) और पहरेदार (जीव) सब आपहीके हाथमें हैं। राजराजेश्वर! आपने अपने कामोंमें, देवताओंके कामोंमें तथा दीन-दुखियोंके कामोंमें क्या कभी देर की है? तो फिर मेरे लिए क्यों इतना विलम्ब हो रहा है? ॥३॥ आपकी रीति (पतित-पावनता आदि) सुनकर आपहीपर मेरा विश्वास और प्रेम हुआ है; किन्तु कलिकालका जुर्म देखकर मैं डर रहा हूँ (कि कहीं वह मुझे भगवत्प्रीतिसे हटाकर विषयोंमें न फँसा दे)। हे रामजी! मैं आपकी बलैया लेता हूँ! आपके कहनेसे बनेगी या किसीके द्वारा कहलानेसे? बस, इतना कह दीजिये कि 'ऐ तुलसी! तू मेरा है, हृदयमें हार मानकर अपना जी छोटा न कर' ॥४॥

[२५१]

राम! रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ,
जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत।
जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु,
लसत सरस सुख फूलत फरत ॥१॥
आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ पति
ते सनेह-सावधान रहत डरत।
साहिब-सेवक-रीति, प्रीति, परिमिति, नीति,
नेम को निबाह एक टेक न टरत ॥२॥

सुक-सनकादि, प्रहलाद-नारदादि कहैं,
राम की भगति बड़ी बिरति-निरत।
जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ! पगनि परत ॥३॥

छ-मत बिमत, न पुरान मत, एक मत,
नेति-नेति-नेति नित निगम करत।
औरनि को कहा चली? एक बात भलै भली,
राम-नाम लिये तुलसी हू से तरत ॥४॥

शब्दार्थ—विरति = वैराग्य। निरत = रत, अनुरक्त। छ-मत = छ शास्त्रोंका मत। बिमत = विरुद्धमत। निगम = वेद।

भावार्थ—हे राम! आपके स्वभाव, गुण, शील, महिमा और प्रभावको शिवजी, हनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी तथा भरतजीने ही जाना है—जिनके हृदयरूपी सुन्दर थाल्हेमें राम-प्रेमका कल्पवृक्ष सुशोभित हो रहा है जो सुख-रूपी सरस फूल फूलता और वैसा ही फल फलता है ॥१॥ आप अपने स्वभावानुसार (शिव-जीको) स्वामी, (हनुमान्‌जीको) सखा, (लक्ष्मण और भरतको) प्रिय भाई समझते हैं, किन्तु वे आपको अपना स्वामी समझते एवं प्रेममें सावधान और डरते रहते हैं (कि कोई चूक न हो जाय)। स्वामी और सेवककी रीति, प्रीति, परिमिति (प्रमाण), नीति और नेमका निर्वाह करनेमें अपनी टेकसे नहीं टलते; अर्थात् न तो आप ही लापरवाही करते हैं और न शिव, हनुमान् , लक्ष्मण एवं भरतजी ही चूकते हैं ॥२॥ शुकदेव, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार, प्रह्लाद, नारद प्रभृतिका कथन है कि रामजीकी भक्ति, वैराग्यमें अत्यन्त अनुरक्त होनेसे ही प्राप्त होती है। किन्तु बिना जाने अर्थात् बिना सामान्य ज्ञानके भक्ति नहीं होती, और वह जानना, आपके हाथमें है। हे नाथ! इसे समझकर ही चतुर लोग आपके चरणोंपर पड़ते हैं ॥३॥ छ शास्त्रोंके मत परस्पर विरुद्ध हैं, पुराणोंके मत भी एकसे नहीं हैं; और वेद तो नित्य ही 'नेति-नेति-नेति' करते रहते हैं (अर्थात् परमात्माके स्वरूपका ठीक-ठीक बोध वेदों, शास्त्रों या पुराणोंसे भी नहीं होता)। इसलिए अच्छीसे अच्छी बात एक ही है (यानी रामनामका जप करना : क्योंकि

रामका नाम लेनेसे) औरोंकी तो बात ही क्या, तुलसी-सरीखे (पामर) भी तर जाते हैं ॥४॥

विशेष

१—'जानिबो तिहारे हाथ'—गुसाईंजीने रामचरितमानसमें भी यही बात लिखी है:—

'सो जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्है है जाई ॥'

२—'छ–मत'—छ शास्त्र; वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा।

१. वैशेषिकके प्रतिपादक कणाद हैं।

२. न्यायके प्रतिपादक गौतम हैं।

३. सांख्यके प्रतिपादक कपिल हैं।

यथा—

'कणादेन च संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन तु ॥

४. योगके प्रतिपादक पतंजलि हैं।

५. पूर्वमीमांसाके प्रतिपादक जैमिनि हैं।

६. उत्तरमीमांसाके प्रतिपादक व्यास हैं।

[२५२]

बाप! आपने करत मेरी घनी घटि गई।
लालची लबार की सुधारिये बारक बलि,
रावरी भलाई सब ही की भली भई ॥१॥
रोगबस तनु, कुमनोरथ मलिन मन,
पर-अपवाद मिथ्या-बाद बानी हई।
साधन की ऐसी बिधि, साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥२॥
पतित-पावन, हित आरत-अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबन्धु दई।

इन्हमें न एकौ भयो, बूझि न जूझयो न जयो,
ताहि ते त्रिताप-तयो, लुनियत बई ॥३॥
स्वाँग सूधो साधुको, कुचालि कलि तें अधिक,
परलोक फीकी मति, लोक रंग-रई।
बड़े कुसमाज राज ! आजु लौं जो पाये दिन,
महाराज ! केहू भाँति नाम ओट लई ॥४॥
राम ! नाम को प्रताप जानियत नीके आप,
मोको गति दूसरी न बिधि निरमई।
खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥५॥

शब्दार्थ—घनी = बहुत । अपवाद = निन्दा । हई = नष्ट हो गयी है । जयो = जीता । लुनियत = काट रहा हूँ । बई = बोया । रंग-रई = रँगी हुई । ओट = आड़ । निरमई = बनायी ।

भावार्थ—हे पिताजी ! मैंने अपनी ही करनीसे अपना बहुत बिगाड़ डाला । बलिहारी ! इस लालची और झूठेकी बात एक बार सुधार दीजिये, क्योंकि आप-हीके भलाई करनेसे सबका भला हुआ है ॥१॥ शरीर रुग्ण है और मन बुरी-बुरी कामनाओंसे मलिन हो गया है; वाणी दूसरेकी निन्दा करने और झूठ बोलनेसे मलिन हो गयी है । साधनकी भी ऐसी विधि है कि बिना साधनाके सिद्धि नहीं हो सकती; किन्तु हे कृपानिधे ! आपकी कृपा हमेशा बिगड़ी बातोंको बनाया करती है ॥२॥ आप पतित-पावन हैं, दीन-दुखियों और अनाथोंकी भलाई करनेवाले हैं । हे दीनबन्धु ! आपने निराधारको आधार दिया है । किन्तु मैं तो इनमें एक भी न हुआ (अभिमानके कारण मैंने अपनेको कभी पतित, दुखी, अनाथ और निराधार समझा ही नहीं); न तो मैंने विवेकसे सांसारिक विकारोंके साथ युद्ध किया और न उन्हें जीता ही । इसीसे (दैहिक, दैविक और भौतिक) तीनों तापोंसे तप रहा हूँ; जो बोया सो काट रहा हूँ ॥३॥ स्वाँग तो मैंने सीधे साधुका बना रखा है, पर कुचाली हूँ कलियुगसे भी अधिक । परलोककी ओर मेरी बुद्धि फीकी है, पर सांसारिक रंगमें खूब रँगी हुई है । हे राजराजेश्वर ! इस बड़े भारी दुष्ट समाजमें अबतक इतने दिन व्यर्थ बिताकर

किसी प्रकार मैंने आपके नामकी शरण ली है ॥४॥ हे रामजी ! आप अपने नामका प्रताप जानते हैं। विधाताने मेरे लिए (आपके नामके सिवा) दूसरी गति बनायी ही नहीं। आपके क्रोध करने योग्य मेरे करोड़ों बुरे कर्म हैं; किन्तु आपके प्रसन्न होने योग्य तुलसीदासकी केवल निर्लज्जता ही है ॥५॥

विशेष

१—'दई'—कुछ टीकाकारोंने इस शब्दका 'दयालु' अर्थ भी लिखा है।

[२५३]

राम ! राखिये सरन, राखि आये सब दिन।
बिदित त्रैलोक तिहुँ काल न दयालु दूजो,
आरत-प्रनत-पाल को है प्रभु बिन ? ॥१॥
लाले पाले, पोषे तोषे आलसी-अभागी-अघी,
नाथ ! पै अनाथनि सों भये न उरिन।
स्वामी समरथ ऐसो, हौं तिहारो जैसे-तैसो
काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ॥२॥
खीझि-रीझि-बिहँसि-अनख, क्यों हूँ एक बार
'तुलसी तू मेरो', बलि कहियत किन ?
जाहि सूल निरमूल, होहिं सुख अनुकूल,
महाराज राम ! रावरी सौं, तेहि छिन ॥३॥

शब्दार्थ—तोषे = सन्तुष्ट कर दिया। अघी = पापी। हेरि = देखकर। अनख = त्यौरी चढ़ाकर। सौं = शपथ।

भावार्थ—हे रामजी ! मुझे अपनी शरणमें रखिये, क्योंकि आप सदासे (दीनोंको शरणमें) रखते आये हैं। यह प्रकट है कि तीनों लोक और तीनों काल-में आपके समान कोई दयालु नहीं है। हे प्रभो ! आपको छोड़कर शरणागत दीन-दुखियोंका पालन करनेवाला दूसरा कौन है ? ॥१॥ आपने आलसी, अभागे और पापियोंका लालन-पालन किया, पोषण किया और उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। फिर भी हे नाथ ! (इतना करनेपर भी) आप उनसे उऋण नहीं हुए। स्वामी !

आप ऐसे समर्थ हैं, और मैं जैसा भी हूँ तैसा आपहीका हूँ; कलिकालकी चाल देखकर मेरे हृदयमें गहरी घृणा पैदा हो रही है ॥२॥ बलिहारी ! एकबार आप झल्लाकर, प्रसन्न होकर, हँसकर अथवा अनखाकर किसी भी तरह सही, इतना क्यों नहीं देते कि 'तुलसी, तू मेरा है' । हे महाराज रामचन्द्र ! आपकी सौगन्ध, (आपके इतना कहते ही) उसी क्षण मेरा सब दुःख जड़से नष्ट हो जायगा और सब सुख मेरे अनुकूल हो जायँगे ॥३॥

विशेष

—'तोषे'—'पोषे तोषे'का अर्थ कई टीकाकारोंने 'पाला-पोसा' लिखा है।

[२५४]

राम ! रावरो नाम मेरो मातु-पितु है ।
सुजन, सनेही, गुरु-साहिब, सखा-सुहृद,
राम-नाम प्रेम-पन अविचल बितु है ॥१॥
सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि,
लियो काढ़ि बामदेव नाम-घृतु है ।
नामको भरोसो-बल चारि हू फल को फल,
सुमिरिये छाँड़ि छल, भलो कृतु है ॥२॥
स्वारथ-साधक, परमारथ-दायक नाम,
राम-नाम सारिखो न और हितु है ।
तुलसी सुभाव कही साँचिये परैगी सही,
सीतानाथ-नाम नित चित हू को चितु है ॥३॥

शब्दार्थ—अविचल = विचलित न होनेवाला । बितु = धन । बामदेव = महादेवजी । कृतु = कर्म, यज्ञ । चितु = चित्त ।

भावार्थ—हे रामजी ! आपका नाम ही मेरा माता-पिता, स्वजन, सनेही, गुरु, स्वामी, मित्र और सुहृद है । आपके नाममें जो प्रेमका मेरा प्रण है, वही मेरा स्थायी धन है ॥१॥ शिवजीने सैकड़ों करोड़ आपके चरित्ररूपी अगाध दधिसमुद्रको मथकर नाम-रूपी घी निकाल लिया है । नामका बल-भरोसा चारों फलोंका फल यानी अर्थ, धर्म, काम, मोक्षका सार-रूप है । इसलिए छल छोड़कर राम-

नामका स्मरण करना चाहिये। यही उत्तम यज्ञ है ॥२॥ रामका नाम स्वार्थका साधनेवाला तथा परमार्थ देनेवाला है। रामनामके समान हितू और कोई भी नहीं है। यदि यह बात तुलसीदासने स्वभावसे कही है, तो सचमुच ही इसपर सही पड़ेगी। हे सीतानाथ! आपका नाम नित्य है और चित्तका भी चित्त है ॥३॥

विशेष

१—'सुभाव'—इसका अर्थ 'अच्छा भाव' भी किया जाता है।

२—'नामको भरोसो बल चारि हू फल को फल'—तभी तो श्रीमद्भागवतमें देवी देवहूतिने भगवान् कपिलदेवसे कहा है—

अहो बत श्वपचोऽतोगरीयान्
यंजिह्वाग्रे वर्तते नामतुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(३। ३३। ७)

'अहो, जिसकी जबानपर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सब-कुछ कर लिये।

३—'चित्त'— वेदान्तशास्त्रका कथन है—

"अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः।"

[२५५]

राम! रावरो नाम साधु-सुरतरु है।
सुमिरे त्रिबिध घाम हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत सरसिजको सरु है ॥१॥
लाभ हू को लाभ, सुख हू को सुख, सरबस,
पतित-पावन, डर हू को डरु है।
नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को राव हू को
सुलभ, सुखद आपनो-सो घरु है ॥२॥

बेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम चारि फल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन,
मेरे जान, जानिबो सोई नर खरु है ॥३॥
नाम-सों न मातु-पितु, मीत-हित, बन्धु-गुरु,
साहिब, सुधी, सुसील, सुधाकरु है।
नाम सों निबाह नेहु, दीन को दयालु! देहु,
दास तुलसी को, बलि, बड़ो बरु है ॥४॥

शब्दार्थ—सुरतरु = कल्पवृक्ष। घाम = धूप, ताप। सरसिज = कमल। सरु = तालाब। खरु = गधा। सुधी = सुन्दर बुद्धिवाला, बुद्धिमान्। बरु = वरदान।

भावार्थ—हे राम! आपका नाम साधुओंके लिए कल्पवृक्ष है, स्मरण करते ही तीनों तापोंको हर लेता है और सब मनोरथ पूरा कर देता है। वह समस्त सुकृतरूपी कमलोंका सरोवर है ॥१॥ वह लाभका भी लाभ, सुखका भी सुख, सर्वस्व, पतितोंको पवित्र करनेवाला तथा डरका भी डर है अर्थात् कालका भी काल है। वह नीच, ऊँच, रंक (गरीब), राव (अमीर) सबके लिए सुलभ है, और अपने घरके समान सुख देनेवाला है ॥२॥ वेदोंने, पुराणोंने तथा शिवजीने भी पुकारकर कहा है कि राम-रामका प्रेम चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का सारस्वरूप है। ऐसे रामनामपर जिसके मनमें प्रेम और विश्वास नहीं है, मेरी समझसे उसी आदमीको (असली) गधा समझना चाहिये ॥३॥ नामके समान माता, पिता, मित्र, हितकारी, बन्धु, गुरु और स्वामी कोई नहीं है। वह (नाम) बुद्धिमान्, सुशील और चन्द्रमाके समान सुन्दर है। हे दीनोंपर दया करनेवाले रामजी! मुझे बस यही दीजिये कि आपके नामके साथ मेरा जो प्रेम है, वह निभ जाय। बलिहारी! इस सेवक तुलसीके लिए (आपका इतना देना ही) सबसे बड़ा वरदान है।

विशेष

१—'राम-नाम सों न प्रीति'—किन्तु गोस्वामीजी महाराज! 'प्रीति' के सम्बन्धमें सूरदासजीकी उक्ति भी तो देखनी हैः—

प्रीति करि काहूने सुख न लह्यो ।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों सम्पुट माँहिं रह्यो ॥
प्रीति पतंग करीजु दीपक सों आपुन प्रान दह्यो ।
सारँग प्रीति करीजु नाद सों सनमुख बान सह्यो ॥
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत कछू ना कह्यो ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु नैनन नीर बह्यो ॥

२—'सोई नर खरु है'—ईश्वर-विमुख प्राणीको गधेकी उपाधि देना मामूली बात है । श्रीमद्भागवतमें तो यह लिखा है:—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातुनाम गदाग्रजः ॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये
नशृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
(२।३।१९-२०)

अर्थात् 'जिसके कर्णपथमें भगवान्‌के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश नहीं किया, वह मनुष्यरूपी पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गधेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है । हे सूतजी ! जो कान भगवान्‌की लीलाका श्रवण नहीं करते वे साँपकी बिलके समान हैं और जो दुष्ट जिह्वा भगवान्‌की लीला-कथाका गान नहीं करती वह मेढककी जीभके समान व्यर्थ बकवाद करनेवाली है ।

इस श्लोकका अनुवाद गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें इस प्रकार किया है—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । स्रवनरन्ध्र अहि-भवन समाना ॥
जो नहिं करहि राम-गुन-गाना । जीह सो दादुर-जीह समाना ॥

३—'नाम सों निबाह······बरु है'—इसका अर्थ वियोगी हरिजीने लिखा है—बलिहारी—तुलसीदासको वही बड़ा बल दीजिये, जिससे आपके नामके

साथ उस दीनका प्रेम निभ जाय (बीचमें कोई बाधक न हो)। 'वरु' का अर्थ 'जल' करनेके कारण ही साधु अर्थ गुम हो गया है।

[२५६]

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम! रस न रहत।
तुम से सुसाहिब की ओट जन खोटो-खरो,
काल की, करमकी कुसाँसति सहत ॥१॥
करत बिचार सार पैयत न कहूँ कछु,
सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत?
नाथ की महिमा सुनि, समुझि आपनी ओर,
हेरि हारि कै हहरि हृदय दहत ॥२॥
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप,
माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तौ थोरी है, सुधरैगी बिगरियौ, बलि,
राम! रावरी सौं रही रावरी चहत ॥३॥

शब्दार्थ—कुसाँसति=बुरी तरह कष्ट! हेरि=देखकर। हहरि=हताश होकर। बिगरियौ=बिगड़ी हुई भी।

भावार्थ—हे रामजी! कहे बिना रहा नहीं जाता और कहनेसे मजा जाता रहता है। आप-सरीखे सुन्दर स्वामीकी आड़ पाकर भी यह खरा-खोटा सेवक काल और कर्मकी बुरी तरह तकलीफ सह रहा है ॥१॥ (आपका यह सेवक) विचार किया करता है, पर कहीं कुछ सार नहीं पाता। सब लोग नाना प्रकार-की बड़ाई कहाँसे पाते हैं? हे नाथ! आपकी महिमा सुन-समझकर तथा अपनी ओर (अपनी करनीकी ओर) देखकर हार मान लेता और जी छोटा कर लेता हूँ; इससे मेरा हृदय जलने लगता है ॥२॥ न तो मेरा कोई मित्र है, न अच्छा सेवक है और न अच्छी स्त्री है। हे प्रभो! तुलसी तो सच्ची बात कहता है कि उसके माता-पिता बस आप ही हैं। मेरी तो थोड़ी-सी बात है, बिगड़नेपर भी सुधर जायगी; किन्तु हे रामजी, बलिहारी! आपकी कसम, मैं तो केवल आपकी बात रखना चाहता हूँ ॥३॥

विशेष

१—'नाथकी महिमा'—राम-नामकी महिमा इतनी अधिक है—

नाम्नां सहस्रं दिव्यानां स्मरणे यत् फलं लभेत् ।
तत्फलं लभते नूनं रामोच्चारणमात्रतः ॥

—ब्रह्मवैवर्त ।

[२५७]

दीनबन्धु ! दूरि किये दीन को न दूसरी सरन ।
आपको भले हैं सब, आपने को कोऊ कहूँ,
सब को भलो है राम ! रावरो चरन ॥१॥
पाहन, पसु, पतंग, कोल, भील, निसिचर
काँच ते कृपानिधान किये सुबरन ।
दंडक-पुहुमि पाय परसि पुनीत भई,
उकठे बिटप लागे फूलन-फरन ॥२॥
पतित-पावन नाम बाम हू दाहिनो, देव !
दुनी न दुसह-दुख-दूषन-दरन ।
सीलसिंधु तोसों ऊँची-नीचियौ कहत सोभा,
तो सो तुहीं तुलसी को आरति-हरन ॥३॥

शब्दार्थ—पतंग = पक्षी । पुहुमि = पृथिवी । उकठे = सूखे हुए । बिटप = वृक्ष । आरति = दुःख । हरन = हरनेवाले ।

भावार्थ—हे दीनबन्धु ! यदि आपने इस दीनको दूर कर दिया तो फिर इसे दूसरी शरण न मिलेगी । क्योंकि यों तो आप-आपके सभी अच्छे हैं, पर अपने भक्तोंके लिए बिरले ही लोग अच्छे हैं । किन्तु हे रामजी ! आपके चरण सबके लिए अच्छे हैं, अर्थात् भक्तोंके लिए तो अच्छे हैं ही, अभक्तोंके लिए भी अच्छे हैं । क्योंकि चरणोंके प्रतापसे ही बालि तर गया था ॥१॥ हे कृपानिधान ! आपने पाषाणी (अहिल्या), पशु (रीछ, बन्दर), पक्षी (जटायु), कोल-भील तथा राक्षसोंको काँचसे सुवर्ण बना दिया । दंडक वनकी भूमि आपके चरणोंका स्पर्श होते ही पुनीत हो गयी और वहाँके उकठे हुए पेड़-(हरे-भरे होकर) फूलने-फलने

लगे ॥२॥ हे देव ! पतितोंको पवित्र करनेवाला आपका नाम आपसे विमुख रहनेवालोंके लिए भी अनुकूल हो जाता है (शत्रु भावसे भी रामका नाम लेने-वाले लोग तर जाते हैं) । संसारमें दुस्सह दुःखों और दोषोंका नाश करनेवाला आपके सिवा और कोई नहीं है । आप शीलके समुद्र हैं । आपसे ऊँची-नीची बात कहनेमें भी शोभा है (अर्थात् आप दुःख ओर दोष मिटानेवाले हैं, सुशील हैं, अतः आपसे भला-बुरा कहना शोभा देता है; क्योंकि ऐसोंसे कहना किस कामका जो दुःख भी दूर न करें और उलटा दिल्लगी भी उड़ावें ? अथवा उन लोगोंसे कहना भी बेकार है, जो भला-बुरा सुनकर सहन न कर सकें । तुलसीके दुःखको दूर करनेवाले तो बस आपके समान आप ही हैं (दूसरा कोई नहीं) ॥३॥

विशेष

१—'पाहन'—अहिल्या; ४३ पदके विशेषमें देखिये ।

२—'पन्नग'—जटायु; २१५ पदके विशेषमें देखिये ।

३—'दंडक-पुहुमि······पुनीत भई'—एक बार दुर्भिक्ष पड़नेपर सब ऋषि अपने-अपने आश्रमोंको छोड़कर गौतम ऋषिके आश्रममें जाकर रहने लगे । दुर्भिक्ष मिट जानेपर सब ऋषियोंने गौतम ऋषिसे बिदा माँगी । गौतम ऋषिने उनको वहीं रहनेके लिए कहा और अन्यत्र जानेके लिए मना किया । इसपर उन ऋषियोंने मायाकी एक गाय बनाकर गौतम ऋषिके खेतमें खड़ी कर दी । ऋषिके हाँकनेके लिए जानेपर वह गाय वहीं गिरकर मर गयी । इससे सब ऋषियोंने उनपर गो-हत्याका दोष लगाया । इस प्रकार जब वे दोष लगाकर जाने लगे, तब गौतम ऋषि योगबलसे उनकी माया ताड़ गये और क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि तुम लोग जहाँ जाना चाहते हो, वह देश अपवित्र और नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा । तभीसे वह दंडक वनके नामसे प्रसिद्ध हुआ । वहाँके हरे-भरे वृक्ष सूख गये और वह प्रदेश वीरान हो गया । भगवान् रामचन्द्रका पदार्पण होनेपर वह उजड़ा हुआ प्रदेश फिर पूर्ववत् हरा-भरा होकर पवित्र हुआ ।

[२५८]

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान !
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं ।

करत जतन जासों जोरिबेको जोगी जन,
तासों क्यों हू जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं ॥१॥
मोसे दोस-कोसको भुवन-कोस दूसरो न,
आपनी समुझि सूझि आयो टकटोरि हौं।
गाड़ी के स्वान की नाईं, माया मोहकी बड़ाई,
छिनहिं तजत, छिन भजत बहोरि हौं ॥२॥
बड़ो साईं-द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ,
नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं।
दूरि कीजै द्वार तें लबार लालची प्रपंची,
सुधा-सो सलिल सूकरी ज्यों गहड़ोरि हौं ॥३॥
राखिये नीके सुधारि, नीचको डारिये मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि, अब न निहोरि हौं ॥
तुलसी कही है साँची रेख बार-बार खाँची,
ढील किये नाम-महिमाकी नाव बोरि हौं ॥४॥

शब्दार्थ—कोस = कोष, खजाना। भुवन-कोस = चौदहो भुवन या तीनों लोक। टकटोरि = टटोलना, ढूँढ़ना। बहोरि = फिर। लबार = झूठा। गहड़ोरि हौं = मथकर गँदला कर डालूँगा।

भावार्थ—हे कृपानिधान ! मैंने जान-पहचानकर आपको भुला दिया है; मुझे इतना अभिमान हो गया है और मैं इतना ढीठ हो गया हूँ कि उलटा आपको दोष देता हूँ (कि आप कृपानिधान होकर भी मुझपर कृपा नहीं कर रहे हैं)। जिससे नाता जोड़नेके लिए योगी लोग यत्न किया करते हैं, उससे यदि थोड़ी-सी प्रीति जुड़ी भी थी, तो मैं अभागा उसे तोड़ बैठा ॥१॥ अपनी सूझ और समझके अनुसार मैं टटोल आया, पर चौदहो भुवन या तीनों लोकमें मुझसा दोषोंका खजाना दूसरा कोई नहीं है। गाड़ीके (पीछे लगे हुए) कुत्तेकी नाईं कभी तो मैं माया-मोहके बड़प्पनको क्षणभरमें ही छोड़ देता हूँ, और फिर क्षणभरमें उसीको भजने लगता हूँ (अर्थात् जैसे गाड़ीके पीछे लगा हुआ कुत्ता कभी तो गाड़ीको छोड़कर दूर निकल जाता है, और कभी उसके साथ हो लेता

है, वही दशा मेरी है) ॥२॥ हे नाथ ! मैं आपकी (एक नहीं) करोड़ों शपथ करके कहता हूँ कि मैं बड़ा भारी स्वामि-द्रोही हूँ, मेरी बराबरीका (स्वामि-द्रोही) कोई नहीं है। इसलिए मुझ झूठे, लालची और प्रपंचीको आप अपने द्वारसे दूर कर दीजिये, नहीं तो मैं अमृतके समान जलको सूकरीकी तरह मथकर गँदला कर डालूँगा (आपके पवित्र यशको मलीन बना दूँगा) ॥३॥ दोनों ओरकी बातोंपर विचार करके या तो मुझे अच्छी तरह सुधारकर (अपनी शरणमें) रखिये, और या मुझ नीचको मार डालिये। (यदि आप इन दोनों बातोंमेंसे एक भी न करेंगे, तो) अब मैं आपका निहोरा न करूँगा। तुलसीने बार-बार लकीर खींचकर सच्ची बात कही है। यदि आप ढिलाई करेंगे तो मैं आपके नामकी महिमाका जहाज डुबो दूँगा। भाव यह है कि संसार कहने लगेगा कि तुलसी राम-नाम रटता ही रहा, पर कुछ न हुआ; इसलिए रामनामकी जो बड़ी भारी महिमा ग्रन्थोंमें लिखी हुई है, वह झूठी है ॥४॥

विशेष

१—'राखिये······निहोरिहौं'—इसमें कविकी हार्दिक झुँझलाहट दिखाई पड़ती है।

२—'ढील किये······बोरिहौं'—शपथपूर्वक मजेदार धमकी है। ऐसी ही धमकी भक्तवर सूरदासजीने भी दी है—

> आजु हौं एक एक करि टरि हौं।
> कै हम ही कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं ॥
> हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को, पतित ह्वै निस्तरिहौं।
> अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं ॥
> कत अपनी परतीति नसावत मैं पायो हरि हीरा।
> सूर पतित तब ही लै उठिहै जब हँसि दैहौ बीरा ॥

[२५९]

रावरी सुधारी जो बिगारी बिगरेगी मेरी,
कहौं, बलि, बेद की न, लोक कहा कहैगो ?

प्रभुको उदास-भाउ, जनको पाप-प्रभाउ,
दुहूँ भाँति दीनबन्धु ! दीन दुख दहैगो ॥१॥
मैं तो दियो छाती पवि, लयो कलिकाल दवि,
साँसति सहत, परबस को न सहैगो ?
बाँकी बिरुदावली बनेगी पाले ही कृपालु !
अन्त मेरो हाल हेरि यों न मन रहैगो ॥२॥

करमी-धरमी साधु-सेवक, बिरत-रत,
आपनी भलाई थल कहाँ कौन लहैगो ?
तेरे मुँह फेरे मोसे कायर-कपूत-कूर,
लटे लटपटनि को कौन परिगहैगो ? ॥३॥

काल पाय फिरत दसा दयालु ! सब ही की,
तोहि बिनु मोहि कबहूँ न कोऊ चहैगो ।
बचन-करम-हिये कहौं राम ! सौंह किये,
तुलसी पै नाथके निबाहेई निबहैगो ॥४॥

शब्दार्थ—पवि = बज्र । लटे = थके हुए, गिरे हुए । लटपटनि = लटपटाये हुए । परिगहैगो = ग्रहण करेगा । सौंह = शपथ ।

भावार्थ—यदि आपकी सुधारी हुई या बनायी हुई बात मेरे बिगाड़नेसे बिगड़ जायगी तो मैं आपकी बलैया लेकर कहता हूँ—वेदोंकी तो नहीं कहता किन्तु भला संसार क्या कहेगा ? (अर्थात् वेद चाहे जो कहें, पर संसार यही कहेगा कि तुलसीने रामजीकी बनायी हुई बातको भी बिगाड़ दिया) हे प्रभो ! यदि आपका उदासीन भाव रहा अथवा सेवकके पापने ही अपना प्रभाव दिखाया, तो हे दीनबन्धो ! दोनों ही प्रकारसे यह गरीब दुःखाग्निसे जलेगा ॥१॥ मैंने तो वज्रका आघात सहनेके लिए छाती खोल दी है, क्योंकि कलिकालने दबा लिया है। मैं कष्ट सह रहा हूँ। (यदि आप कहें कि क्यों कष्ट सह रहा है, तो) भला ऐसा कौन परतन्त्र मनुष्य है जो न सहेगा ? किन्तु हे कृपालु ! आपको अपनी बाँकी विरदावलीका पालन करना ही पड़ेगा (अर्थात् मुझे उबारना ही पड़ेगा)। क्योंकि अन्तमें मेरा हाल देखकर आपका मन ऐसा न रहेगा (तात्पर्य यह कि

अवश्य पिघल जायगा) ॥२॥ कर्मनिष्ठ, धर्मात्मा, साधु, सेवक, विरक्त और (संसारमें) रत ये सब अपने-अपने सत्कर्मोंके अनुसार कहाँ और कौनसा स्थान प्राप्त न कर सकेंगे ? किन्तु आपके मुँह फेरनेपर मुझ सरीखे कायर, कुपूत, क्रूर, लटे हुए और लटपटाये हुए लोगोंको कौन अंगीकार करेगा ? ॥३॥ हे दयालु ! समय पाकर सबकी दशा फिरती है, किन्तु मुझे तो आपके बिना कोई कभी न पूछेगा । हे रामजी ! मैं शपथ खाकर वचन, कर्म और मनसे कहता हूँ कि इस तुलसीकी तो आपहीके निभानेसे निभेगी ॥४॥

[२६०]

साहिब उदास भये दास खास खीस होत
मेरी कहा चली ? हौं बजाय जाय रह्यो हौं ।
लोक में न ठाउँ ! परलोक को भरोसो कौन ?
हौं तो, बलि जाउँ, रामनाम ही ते लह्यो हौं ॥१॥
करम, सुभाउ, काल, काम, कोह, लोभ, मोह,
ग्राह अति गहनि गरीबी गाढ़े गह्यो हौं ।
छोरिबे को महाराज, बाँधिबे को कोटि भट,
पाहि प्रभु ! पाहि, तिहुँ ताप-पाप दह्यो हौं ॥२॥
रीझि बूझि सबकी प्रतीति-प्रीति एही द्वार,
दूध को जर्‌यो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौं ।
रटत-रटत लर्‌यो, जाति-पाँति-भाँति घर्‌यो
जूठनि को लालची चहौं न दूध नह्यो हौं ॥३॥
अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चल्यो
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं ।
तुलसीं समुझि समुझायो मन बार-बार,
अपनो सो नाथ हू सों कहि निरबह्यो हौं ॥४॥

शब्दार्थ—खीस = बर्बाद । हौं = हूँ । हौं = मैं । गाढ़े = दृढ़तासे । भट = योद्धा । प्रतीति = विश्वास । मह्यो = मट्ठा । अनत = अन्यत्र ।

भावार्थ—स्वामीके उदासीन होनेसे खास नौकर भी बर्बाद हो जाता है, मेरी

तो गिनती ही क्या ! मैं तो बाजा बजाता हुआ(डंकेकी चोट) नष्ट हुआ जा रहा हूँ। जब इस लोकमें ही (मेरे लिए रहनेकी) जगह नहीं है, तो फिर मैं परलोकका क्या भरोसा करूँ ? बलि जाऊँ, मैं तो केवल राम-नामकी ही शरणमें हूँ ॥१॥ कर्म, स्वभाव, काल, काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी बड़े-बड़े ग्राहोंने और गरीबीने मुझे दृढ़तासे पकड़ लिया है। हे महाराज ! बाँधनेके लिए तो करोड़ों योद्धा हैं, पर छुड़ानेके लिए केवल आप ही हैं। अतः हे प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ! मैं पापके तीनों तापोंसे जल रहा हूँ ॥२॥ लोगोंका रीझना समझकर मेरी प्रतीति और प्रीति इसी द्वारपर है। मैं तो दूधका जला हुआ हूँ, इसीसे मट्ठेको भी फूँक-फूँककर पीता हूँ। मैं रटते-रटते थक गया, जाति-पाँति और चाल-चलन भी नष्ट हो गयी। मैं तो केवल जूठनका लालची हूँ, दूधसे नहाना नहीं चाहता (अर्थात् मैं आपके चरणोंमें पड़े रहना चाहता हूँ, मुझे स्वर्गीय भोगोंकी इच्छा नहीं) ॥३॥ मैंने सुमार्गपर अच्छी चाल चलकर अन्यत्र अपनी भलाई नहीं चाही। यहाँ आपसे तिरस्कृत होनेपर भी मैं अच्छी तरह अपने दिलमें जानता हूँ कि मेरा भला है। इस बातको तुलसीने खूब समझकर अपने मनको बार-बार समझाया है, और वह उसे अपने स्वामीसे (आपसे) भी कहकर पाक हो गया है ॥४॥

[२६१]

मेरी न बनै बनाये मेरे कोटि कलप लौं
राम ! रावरे बनाये बनै पल पाउ मैं।
निपट सयाने हौ कृपानिधान ! कहा कहौं ?
लिये बेर बदलि अमोल मनि आउ मैं ॥१॥

मानस मलीन, करतब कलिमल पीन
जीह हू न जप्यो नाम, बक्यो आउ-बाउ मैं।
कुपथ कुचाल चल्यो, भयो न भूले हूँ भलो,
बाल-दसा हू न खेल्यो खेलत सुदाउ मैं ॥२॥
देखा-देखी दम्भ तें कि संग तें भई भलाई,
प्रगटि जनाई, कियो दुरित-दुराउ मैं।

राग रोष द्वेष पोषे, गोगन समेत मन,
इनकी भगति कीन्ही इन ही को भाउ मैं ॥३॥
आगिली-पाछिली, अब हूँ की अनुमान ही तें,
बूझियत गति, कछु कीन्हों तो न काउ मैं ।
जग कहै रामकी प्रतीति-प्रीति तुलसी हू,
झूठे-साँचे आसरो साहब रघुराउ मैं ॥४॥

शब्दार्थ—आउ = आयु । पीन = पुष्ट । आउ-बाउ = आव-बाव, अनाप-शनाप । दुरित = पाप । दुराउ = छिपाव । गो-गन = इन्द्रियाँ ।

भावार्थ—हे राम ! मेरे बनानेसे मेरी करोड़ों कल्पतक न बनेगी । किन्तु आपके बनानेसे मेरी पाव (चौथाई) पलमें ही बन जायगी । आप परम चतुर हैं । हे कृपानिधान ! मैं क्या कहूँ ! मैंने तो अनमोल मणिरूपी आयुके बदलेमें (विषयरूप) बेर ले लिये ॥१॥ मेरा मानस मलिन हो गया है और कर्तव कलियुगी पापोंसे पुष्ट हो गया है; जीभने भी रामनामका जप नहीं किया, वह आयँ-बायँ बकती रही । कुमार्गपर कुचालें चलता रहा, भूलकर भी अच्छा काम न बन पड़ा । बचपनमें भी खेलते समय मैंने अच्छा दाव नहीं खेला ॥२॥ किसीकी देखादेखी, दम्भसे, या सत्संगसे यदि कोई अच्छा काम हो गया, तो उसे प्रत्यक्ष रूपसे लोगोंको जनाया और पापोंको छिपा लिया । मैंने राग, द्वेष, क्रोध और इन्द्रियोंके सहित मनका पोषण किया, इन्हींकी भक्ति की और इन्हींका भाव (आदर) किया ॥३॥ मैंने आगेकी (आनेवालेकी), पीछेकी (बीते हुएकी), और अबकी गतिका अनुमान करके समझ लिया कि मुझसे कभी कुछ नहीं बना, (और न बन सकता है) । संसार कहता है 'तुलसी रामका है' और यह तुलसी भी आपपर ही विश्वास और प्रेम रखता है । सच हो या झूठ, हे रघुनाथ स्वामी ! मैं तो आपहीके आसरे हूँ ॥४॥

[२६२]

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता ।

प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभुकी पुनीतता, आपनी पाप-पीनता ॥१॥
दुहूँ ओर समुझि सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामी-समीचीनता ।
नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये,
नीचऊ निवाजे प्रीति-रीति की प्रबीनता ॥२॥
एही दरबार है गरब तें सरब-हानि,
लाभ जोग-छेम को गरीबी-मिसकीनता ।
मोटो दसकन्ध सों न दूबरो बिभीसन सों,
बूझि परी रावरे की प्रेम-पराधीनता ॥३॥
यहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधौ सतभाय कहे मिटति मलीनता ।
गीध-सिला-सबरी की सुधि सब दिन किये
होइगी न साईं सों सनेह-हित-हीनता ॥४॥
सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु,
सुमिरत होत कलिमल-छल-छीनता ।
करुनानिधान ? बरदान तुलसी चहत,
सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ॥५॥

शब्दार्थ—समीचीनता=पुराना स्वभाव । प्रबीनता=कुशलता । मिसकीनता (अरबीका शब्द है)=नम्रता । अयानप=अज्ञानपन, मूर्खता ।

भावार्थ—कहा तो जाता नहीं, और बिना कहे भी रहा नहीं जाता ! बलिहारी ! किन्तु बड़ेसे अपनी दीनता कहनेमें बड़ा आनन्द आता है । प्रभुकी बड़ी बड़ाई और अपनी छोटी (हलकी) छोटाई, प्रभुकी पवित्रता और अपने पापोंकी पुष्टता ॥१॥ दोनों ओरकी इन बातोंको समझकर मेरा मन सकुचकर सहम जाता है । किन्तु स्वामीका प्राचीन स्वभाव (दीनदयालुता, पतित-पावनता आदि) सुनकर यह मन सम्मुख होता है । नाथके गुणोंकी गाथा गानेसे, तथा हाथ जोड़कर मस्तक झुकानेसे आप नीचको भी प्रीतिकी रीतिके कौशलसे

निहाल कर देते हैं ॥२॥ यही एक दरबार है जहाँ गर्वसे सर्वनाश हो जाता है, एवं गरीबी और नम्रतासे ही योग-क्षेम-(रक्षा) का लाभ होता है। रावणके समान मोटा और विभीषणके समान दुबला कोई नहीं था। किन्तु वहाँ मुझे आपकी प्रेम-पराधीनता समझ पड़ी। (अर्थात् आपने भक्त विभीषणको अपना लिया और रावणको मार डाला) ॥३॥ यहाँ (इस दरबार) का सयानापन हजारों मूर्खताके समान है। यहाँ तो सीधे और सत्य भावसे कहनेसे ही मलिनता दूर होती है। गीध, अहिल्या और शबरीकी सब दिन सुध करते रहनेसे स्वामीके प्रति स्नेहके सम्बन्धमें कमी न होगी ॥४॥ आपका नाम कल्पवृक्षके समान सारी कामनाएँ पूर्ण कर देता है। उसका स्मरण करते ही कलिके पाप और छल क्षीण हो जाते हैं। हे करुणानिधान ! श्री सीतानाथके भक्तिरूपी गंगाजलमें मछली (की तरह निमग्न) होनेके लिए यह तुलसी वरदान चाहता है ॥५॥

विशेष

१—'आपनी छोटाई छोटी'—इसमें बड़ा ही सुन्दर भाव है। वियोगी हरिजीने इसका अर्थ किया है, 'अपनी छोटी-सी क्षुद्रता'। किन्तु यहाँ 'तुच्छाति-तुच्छ छोटापन अथवा 'अत्यन्त ओछी', 'बहुत बड़ी क्षुद्रता' यह आशय प्रकट करनेके लिए 'छोटी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसका अर्थ 'जरासी' या 'थोड़ी-सी' नहीं है।

२—'गीध'—२१५ पदके विशेषमें देखिये।

३—'सिला'—४३ पदके विशेषमें देखिये।

४—'सबरी'—१०६ पदके विशेषमें देखिये।

[२६३]

नाथ नीके कै जानिवी ठीक जन-जीय की।
रावरो भरोसो नाह कै सु-प्रेम-नेम लियो,
रुचिर रहनि रुचि मति गति तीय की ॥१॥
कुकृत-सुकृत बस सब ही सों संग पर्‍यो,
परखी परायी गति, आपने हूँ कीय की।

मेरे भले को गोसाईं ! पोच को, न सोच-संक,
हौं हूँ किये कहौं सौंह साँची सीय-पीय की ॥२॥
ग्यान हू-गिरा के स्वामी, बाहर-अन्तरजामी,
यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ?
तुलसी तिहारो, तुम हीं पै तुलसी के हित,
राखि कहौं हौं तो जो पै ह्वै हौं माखी घीय की ॥३॥

शब्दार्थ—जानिबी = जान लेना। कुकृत = बुरी करनी। कीय की = किये हुए की। पोच = नीच।

भावार्थ—हे नाथ ! आप अपने सेवकके हृदयकी ठीक-ठीक बात अच्छी तरह समझ लीजिये। मेरी बुद्धिने सुन्दर रहन और रुचिवाली (पतिव्रता) स्त्रीकी गति धारण की है; उसने आपके भरोसे आपके साथ पतिका-सा प्रेम करनेका नेम कर लिया है ॥१॥ पाप और पुण्यवश सभीका साथ पड़ा है, अतः अपनी और परायी दोनोंकी गति परख चुका हूँ। हे स्वामिन् ! मुझ नीचको न तो (किसी बातका) सोच है और न मैंने शंका ही की; क्योंकि मेरी भलाई करनेके लिए तो आप हैं ही; यह बात मैं जानकी-वल्लभ श्रीरामजीका शपथ खाकर कहता हूँ ॥२॥ (यह बात मैं बनाकर नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि) आप ज्ञान और वाणीके स्वामी हैं, तथा बाहर और भीतरकी बात जाननेवाले हैं; ऐसी दशामें हृदयकी और मुखकी बात आपसे कैसे छिपेगी ? अर्थात् हृदयमें कुछ और हो किन्तु मुखसे और ही कहा जाय, यह बात आपसे छिपी नहीं रह सकती। यह तुलसी आपका है और केवल आप ही तुलसीके हितू हैं; यदि मैं इसमें कुछ बनाकर कहता होऊँगा, तो घीकी मक्खी हो जाऊँगा। अर्थात् जिस प्रकार मक्खी घीमें पड़कर तुरन्त मर जाती है, उसी प्रकार मेरा सर्वनाश हो जायगा ॥३॥

[२६४]

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो।
चारि हू बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ
तेरो तिहुँ काल कहु को है हितू हरि-सो ॥१॥

नये-नये नेह अनुभये देह-गेह बसि,
परखे प्रपंची प्रेम, परत उघरि सो।
सुहृद-समाज दगाबाजिही को सौदा-सूत,
जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो ॥२॥
बिबुध सयाने, पहिचाने कैधौं नाहीं नीके,
देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो।
करम-धरम स्रम-फल रघुबर बिनु,
राखको सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो ॥३॥
आदि-अंत-बीच भलो, भलो करै सब ही को,
जाको जस लोक-बेद रह्यो है बगरिसो।
सीतापति सारिखो न साहिब सील-निधान,
कैसे कल परै सठ! बैठो सो बिसरि-सो ॥४॥
जीवको जीवन, प्रान प्रानको परम हित
प्रीतम, पुनीतकृत नीचन, निदरि सो।
तुलसी! तो को कृपालु जो कियो कोसलपालु,
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो ॥५॥

शब्दार्थ—अनुभये = अनुभव किया। उघरि = खुल गया। सौदा-सूत = लेन-देनका व्यवहार। बिबुध = देवता। बगरिसो = फैला-सा, बिखरा हुआ। कल = चैन।

भावार्थ—रे मन! (पहले) मेरी बात सुन ले, फिर तुझे जो अच्छा लगे, सो कर। तू अपने चारों नेत्रों (दो बाह्य चक्षु और दो मनश्चक्षु) से तीनों लोकमें देखकर बतला कि तीनों कालमें भगवान्‌के समान तेरा हितू कौन है ॥१॥ तूने शरीररूपी घरमें बसकर नये-नये स्नेहका अनुभव किया, कपटभरे प्रेमको परख लिया, उसका सब भेद खुल गया। मित्रोंकी मण्डलीमें दगाबाजीके ही लेन-देन-का व्यवहार है; जब जिसका काम होता है, तब वह पैरोंपर गिरकर मिलता है ॥२॥ देवता भी बड़े चतुर हैं; (कह नहीं सकता कि) तूने उन्हें पहचाना है या नहीं। वे (पहले) करोड़ गुना भरवा लेते हैं, (तब) एक गुना देते हैं। श्रीरघुनाथ-जीके बिना कर्म, धर्म करनेका फल केवल श्रम ही हाथ लगता है। वह (कर्म,

धर्म) राखमें हवन या ऊसर जमीनपर वर्षा करनेके समान (निष्फल) है ॥३॥ जो (रामजी) आदिमें अन्तमें और मध्यमें अच्छे हैं, जो सभीका भला करते हैं, और जिनका यश लोक और वेदमें फैल-सा रहा है, उन सीतापति रामचन्द्रके समान शील-निधान स्वामी दूसरा कोई नहीं है। रे दुष्ट! (ऐसे स्वामीको) तू भूला-सा बैठा है; कैसे तुझे चैन पड़ रही है? ॥४॥ जो (रामजी) जीवोंके जीवन, प्राणोंके प्राण, परम हितकारी, अत्यन्त प्रिय और नीचोंको पवित्र करनेवाले हैं, उनका तू निरादर कर रहा है। हे तुलसी! कोशलपति कृपालु श्रीरामजीने तेरे लिए चित्र-कूटमें जो लीला रची थी, उसका चित्त देकर स्मरण कर ॥५॥

विशेष

१—'चित्रकूटको चरित्र'—एक बार चित्रकूटमें गुसाईंजीको दो घुड़सवार राजकुमार एक मृगका पीछा करते हुए दिखाई पड़े। उस समय गुसाईंजी कुछ ध्यानावस्थित थे। ध्यानमें विघ्न पड़नेकी आशंकासे उन्होंने नेत्र बन्द करके मस्तक झुका लिया। थोड़ी देरके बाद हनुमान्‌जीने दर्शन देकर उनसे पूछा कि 'राम और लक्ष्मणके दर्शन मिले या नहीं? जो दो राजकुमार घोड़ेपर चढ़कर गये हैं, वह श्रीरामजी और लक्ष्मणजी थे।' गुसाईंजी पछताने लगे। बोले—

'लोचन रहे बैरी होय।
जानि-बूझि अकाज कीनो गये भू में गोय॥
अविगत जु तेरी गति न जानी रह्यो जागत सोय।
सबै छबि की अवधि में हैं निकसि गे ढिग होय॥
करमहीन मैं पाय हीरा दियो पलमें खोय।
दास तुलसी राम बिछुरे कहौ कैसी होय॥'

इस पदमें उक्त प्रत्यक्ष दर्शनकी ओर ही गोसाईंजीका संकेत है।

[२६५]

तन सुचि, मन रुचि, मुख कहौं
'जन हौं सिय-पीको'।
केहि अभाग जान्यो नहीं, जो न
होइ नाथ सों नातो-नेह न नीको ॥१॥

जल चाहत पावक लहौं,
विष होत अमी को ।
कलि-कुचाल संतनि कही सोइ सही,
मोहि कछु फहम न तरनि तमी को ॥२॥
जानि अंध अंजन कहै
बन-बाघिनी-घी को ।
सुनि उपचार बिकार को सुविचार करौं
जब, तब बुधि बल हरै हीको ॥३॥
प्रभु सों कहत सकुचात हौं,
परौं जनि फिरि फीको ।
निकट बोलि, बलि, बरजिये,
परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जीको ॥४॥

शब्दार्थ—फहम = ज्ञान । तरनि = सूर्य, प्रकाश । तमी = रात्रि, अन्धकार । बरजिये = मना कर दीजिये । जीको = जीव का ।

भावार्थ—हे प्रभो ! मैं शरीरको पवित्र और मनमें रुचि रखता हूँ; मुखसे भी कहता हूँ कि 'मैं जानकी-वल्लभ श्रीरघुनाथजीका सेवक हूँ'; फिर भी जानता नहीं कि किस दुर्भाग्यसे नाथके साथ मेरा भली-भाँति स्नेह-सम्बन्ध नहीं हो रहा है ॥१॥ चाहता हूँ जल, पाता हूँ आग ! (शान्तिकी जगह त्रिताप मिलता है) । इसी प्रकार मेरे लिए अमृतका भी विष हो जाता है (अर्थात् अमृतरूपी सत्कर्म अभिमानरूपी विष पैदा करता है) । सन्तोंने जो कलिकालकी कुचालें कही हैं, वे सही हैं । मुझे प्रकाश और अन्धकारका कुछ भी ज्ञान नहीं है (अर्थात् मैं ज्ञान और अज्ञानको यथार्थ रूपसे नहीं पहचान सकता) ॥२॥ मुझे अन्धा जानकर (कलि) वनकी सिंहिनीके घीका अंजन लगानेको कहता है । जब मैं यह विकारयुक्त उपचार सुनकर उसपर सुन्दर विचार करता हूँ, तब वह मेरे हृदयके बुद्धिबलको हर लेता है (अज्ञान-वनमें वासनारूपी सिंहिनी रहती है । विषय ही उसका घी है । वह तो पासमें जाते ही खा जायगी, विषयोंमें फँसे हुए जीवको ज्ञानरूपी नेत्र कैसे मिल सकते हैं ?) ॥३॥ हे प्रभो ! मैं आपसे कहनेमें सकुचाता हूँ कि कहीं मैं फिर फीका न पड़ जाऊँ । इसीसे मैं बलैया लेता हूँ,

पास बुलाकर (कलियुग)को मना कर दीजिये ताकि अब वह तुलसी जैसे जड़ जीवका खयाल छोड़ दे ॥४॥

विशेष

१—'तन सुचि'' 'नेह न नीको'—क्योंकि आपने तो गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिए मैं सुलभ हूँ।'

[२६६]

ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु ! त्यों त्यों दूरि पर्‌यो हौं।
तुम चहुँ जुग रस एक राम ! हौं हूँ रावरो,
जदपि अघ अवगुननि भर्‌यो हौं ॥१॥
बीच पाइ एहि नीच बीच ही छरनि छर्‌यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि,
सुमति तें कुमति कर्‌यो हौं ॥२॥
अगनित गिरि-कानन फिर्‌यो, बिनु आगि जर्‌यो हौं।
चित्रकूट गये हौं लखि कलि की कुचालि सब,
अब अपडरनि डर्‌यो हौं ॥३॥
माथ नाइ नाथ सो कहौं, हाथ जोरि खर्‌यो हौं।
चीन्हो चोर जिय मारि है तुलसी सो
कथा सुनि प्रभु सों गुदरि निबर्‌यो हौं ॥४॥

शब्दार्थ—छरनि = छलों। छर्‌यो = छला गया। कुबरन = बुरी धातु, लोहा आदि। खर्‌यो = खड़ा। गुदरि = विनती।

भावार्थ—हे कृपालु ! ज्यों-ज्यों मैं आपके निकट होना चाहता हूँ त्यों-त्यों दूर पड़ता जाता हूँ। हे रामजी ! आप चारों युगमें एकरस रहते हैं और मैं भी आपका (अंश) हूँ, यद्यपि मैं पापों और अवगुणोंसे भरा हुआ हूँ ॥१॥ आपसे अलग होते ही इस कलियुगने बीचहीमें मौका पाकर छलोंसे छल लिया (ज्यों ही

मेरी जीव संज्ञा पड़ी और मैं भगवच्चरणारविन्दोंसे विमुख हुआ, त्यों ही कलियुग-ने मुझे अपने चंगुलमें फँसा लिया)। इसने मुझ सुवर्णको कुवर्ण कर दिया, राजासे भिखारी कर दिया और अच्छी बुद्धिसे बुरी बुद्धिवाला बना दिया ॥२॥ मैं बिना आगके ही जलता हुआ अगणित पर्वतों और वनोंमें घूमता फिरा, किन्तु चित्रकूटमें जानेपर मैंने इस कलियुगकी सब कुचालोंको देखा; अतः अब मैं अपने ही डरसे डर रहा हूँ ॥३॥ मैं हाथ जोड़कर खड़ा हूँ और सिर झुकाकर स्वामीसे कहता हूँ कि पहचाना हुआ चोर जीवको मार डालता है; इस बातको सुनकर तुलसी अपने स्वामीसे विनती कर चुका (अब आपकी जो इच्छा हो सो कीजिये) ॥४॥

विशेष

१—'चीन्हों चोर ····· निबऱ्यो हौं'—जब गुसाईंजीने चित्रकूटमें ईश्वर-प्राप्तिके लिए बड़ी कड़ी साधना की, तब कलियुग बहुत क्रुद्ध हुआ। किन्तु हनुमान्‌जीकी कृपासे वह इनका एक बाल भी बाँका न कर सका। हाँ, यह अवश्य था कि गुसाईंजी उसीके डरसे सदा सशंक रहा करते थे। इसीसे उन्होंने भगवान्‌से यह बात कही है।

[२६७]

पन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार पऱ्यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि,
प्रभु की सौं करि निबऱ्यो हौं ॥१॥
दै दै धक्का जमभट थके, टारे न टऱ्यो हौं।
उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग,
नरक निदरि निकऱ्यो हौं ॥२॥
हौं मचला लै छाड़िहौं, जेहि लागि अऱ्यो हौं।
तुम दयालु, बनि है दिये, बलि, बिलँब न कीजिये,
जात गलानि गऱ्यो हौं ॥३॥
प्रगट कहत जो सकुचिये, अपराध-भऱ्यो हौं।
तौ मनमें अपनाइये, तुलसीहि कृपा करि,
कलि बिलोकि हहऱ्यो हौं ॥४॥

शब्दार्थ—जम-भट = यमराजके योद्धा, यमदूत। निदरि = निरादर। मचला = मचल गया हूँ। अऱ्यो = अड़ा।

भावार्थ—हे रामजी! आजसे मैं जबर्दस्ती करनेकी प्रतिज्ञा करके आपके द्वारपर पड़ा हूँ। प्रभुकी शपथ खाकर कह चुका हूँ कि जबतक आप यह न कहेंगे कि 'तू मेरा है', तबतक मैं न उठूँगा—चाहे मेरी जिन्दगी बीत जाय॥१॥ (मैं ऐसा हठी हूँ कि) यमदूत धक्के दे-देकर थक गये, पर मैं हटानेसे न हटा (अर्थात् इतने अधिक पाप किये कि अनेक जन्म नरकमें ही बीते)। मैं संसारमें अनेक बार जन्म लेकर पेटका दुस्सह कष्ट सहनेके बाद नरकका निरादर करके वहाँसे निकला हूँ॥२॥ जिस वस्तुके लिए मैं मचल गया हूँ, और अड़ा हुआ हूँ, उसे लेकर ही छोड़ूँगा। बलिहारी! आप दयालु हैं, अतः देनेसे ही काम चलेगा, (जब वह वस्तु देनी ही है, तो) देर न कीजिये, क्योंकि मैं ग्लानिसे गला जा रहा हूँ॥३॥ मैं अपराधोंसे भरा हुआ हूँ, उससे यदि आपको प्रकट रूपसे ('तू मेरा है') कहनेमें संकोच मालूम होता हो, तो आप कृपा करके तुलसीदासको अपने मनमें ही अपना लीजिये, क्योंकि मैं कलियुगको देखकर डर गया हूँ॥४॥

विशेष

१—'पन करि······राम द्वार पर्‌यो हौं'—इसी प्रकार महात्मा सूरदास भी द्वारपर खड़े हैं—

दीनन दुख हरन देव सन्तन हितकारी।
अजामील गीध ब्याध इनमें कहौ कौन साध पंछी हू पद पढ़ात गनिकासी तारी॥
ध्रुवके सिर छत्र देत प्रहलादको उबारि लेत भक्त हेत बांध्यो सेत लंकपुरी जारी।
तंदुल देत रीझि जात सागपात सों अघात गिनत नाहिं जूठ फल खाटे-मीठे खारी॥
गजको जब ग्राह ग्रस्यो दुसासनने चीर खिंच्यो सभा-बीच कृष्ण-कृष्ण द्रौपदी पुकारी।
तुरतै हरि आइ गए बचनन आरूढ़ भये सूरदास द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी॥

[२६८]

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो, तेहि सहज
नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥१॥

सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों उर डरिहै ।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों, चहुँ विधि
चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै ॥२॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै ।
हानि लाभ दुख सुख सबै समचित हित
अनहित, कलि-कुचालि परिहरिहै ॥३॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै ।
तुलसीदास भयो रामको, बिस्वास, प्रेम लखि
आनँद उमगि उर भरिहै ॥४॥

शब्दार्थ—परिहै = पड़ेगा । निदरे = निरादर होनेपर । नीर = जल । ढरिहै = गिरने लगेगा । उर = हृदय ।

भावार्थ—जब मेरा मन विषयोंकी ओरसे लौट पड़ेगा तथा जिस स्वभावसे विषयोंमें लगा हुआ है, उसी सहज स्वभावसे छल छोड़कर नाथसे स्नेह करेगा, तब मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना लिया ॥१॥ जब मेरा मन रामजीसे पुत्रकी तरह प्रेम करेगा, मित्रकी तरह उनपर विश्वास करेगा, राजाकी तरह उनसे अपने हृदयमें डरेगा तथा चारों ओरसे चातककी भाँति उन्हींसे अपने स्वार्थोंकी सिद्धि समझेगा और अपने एक टेकसे न टलेगा ॥२॥ जब वह अत्यन्त आदर पानेपर हर्षित न होगा, निरादर होनेपर जलकर न मरेगा, हानि-लाभ, दुःख-सुख, हित-अहित सबमें समचित्त रहेगा और कलियुगकी कुचालोंको छोड़ देगा ॥३॥ जब मेरा मन प्रभुके गुणोंको सुनकर हर्षित होने लगेगा तथा नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बहने लगेगी, तब तुलसीदासको विश्वास होगा कि वह श्रीराम-जीका हो गया और तभी उसका हृदय उस प्रेमको देखते ही आनन्दसे उमड़कर परिपूर्ण होगा ॥४॥

विशेष

१—'तुम अपनायो······करिहै'—वास्तवमें ऐसा होनेपर ही ईश्वर-भक्ति पैदा होती है और परमात्म-दर्शन सुलभ होता है—भगवत्कृपा होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है।—देखिये श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ८

२—'हानि लाभ······परिहरिहै'—वास्तवमें सुख-दुःखादिको समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुषको उसकी पीड़ा नहीं होती, वही ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। यही बात भगवान्‌ने गीतामें कही है। (देखिये श्रीमद्भगवद्गीता २। १४. १५)

[२६९]

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?
सुख जीवन ज्यों जीवको, मनि ज्यों फनिको हित,
ज्यों धन लोभ-लीन को ॥१॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर !
पावन प्रेम पीन को ॥२॥
मनसा को दाता कहैं स्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदास को भावतो, बलि जाउँ दयानिधि !
दीजै दान दीन को ॥३॥

शब्दार्थ—फनि = सर्प। नागरी = नायिका। नागर = नायक। नवीन = युवक। पीन = पुष्ट। भावतो = मनचाहा।

भावार्थ—हे राम ! क्या आप कभी मुझे ऐसे प्रिय लगेंगे, जैसे मछलीको जल, जीवको सुखमय जीवन, सर्पको मणि, लोभमें लीन रहनेवाले (कंजूस) को धन प्यारा लगता है ? ॥१॥ अथवा जैसे स्वभावसे ही युवक नायकको नायिका प्रिय लगती है, वैसे ही हे करुणाकर ! मेरे मनमें (अपने प्रति) पवित्र और पुष्ट प्रेमकी लालसा उत्पन्न कीजिये ॥२॥ वेदोंका कथन है कि चतुर परमात्मा मनो-वांच्छाके देनेवाले हैं। अतः हे दयानिधे ! मैं आपकी बलैया लेता हूँ, इस दीन तुलसीदासको उसका चाहा दान दीजिये (ऐसी कृपा कीजिये, जिसमें उसे आप अत्यन्त प्यारे लगें) ॥३॥

विशेष

१—'प्रबीन'—यहाँपर प्रभुके लिए प्रबीन कहनेका यह भाव है कि

परमात्मा घट-घटकी बात जाननेवाले हैं, कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ 'प्रवीन' शब्द बड़ा ही सार्थक प्रयुक्त हुआ है।

२—इस पदमें गुसाईंजीने बड़े ही उच्चकोटिके प्रेमकी आकांक्षा प्रकट की है। उदाहरण भी खूब चुन-चुनकर दिये गये हैं। कविने पीछे भी एक पदमें ऐसी ही आकांक्षा प्रकट की है। वहाँपर रामचरितमानसका नीचे लिखा दोहा भी लिखा जा चुका है—

'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभीके उर दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥'

कितनी ऊँची भावना है! कैसी अनूठी सूझ है! वाह! इस टक्करका दोहा रामचरितमानसमें ढूँढ़नेसे नहीं मिल सकता।

[२७०]

कबहुँ कृपा करि रघुबीर! मोहू चितैहौ।
भलो-बुरो जन आपनो, जिय जानि दयानिधि!
अवगुन अमित बितैहौ॥१॥
जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहि जितैहौ।
हौं सनाथ ह्वैहौं सही तुम हू अनाथपति,
जो लघुतहि न भितैहौ॥२॥
बिनय करौं अपभयहु तें, तुम्ह परम हितै हौ।
तुलसिदास कासों कहै, तुमही सब मेरे,
प्रभु गुरु, मातु-पितै हौ॥३॥

शब्दार्थ—भितैहौं = डरेंगे। अपभयहु = अकारण भयसे।

भावार्थ—हे रघुबीर! क्या आप कभी कृपा करके मेरी ओर भी देखेंगे? हे दयानिधि! क्या आप अपने मनमें मुझे भला-बुरा सेवक समझकर मेरे अपार दोषोंका अन्त कर देंगे?॥१॥ जन्म-जन्मसे (अनेक जन्मोंसे) यह मन मुझे जीतता आया है (मुझपर अपना अधिकार जमाता आया है); किन्तु अबकी बार क्या आप मुझे जितावेंगे (अर्थात् मैं अपने मनपर विजय पा सकूँगा? यदि आप इतनी कृपा करेंगे, तो) मैं तो सनाथ हो ही जाऊँगा, आप भी सही-सही 'अनाथपति'

हो जायँगे—हाँ, यदि आप मेरी क्षुद्रतासे न डरेंगे तो। (अर्थात् यदि आप मेरी तुच्छतासे न डरकर मुझे अपना लेंगे तो आपका 'अनाथपति' नाम सार्थक और सही हो जायगा) ॥२॥ (वैसे डरनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि) आप परम हितू हैं, इसीसे मैं अकारण भयसे आपसे विनती कर रहा हूँ। यह तुलसीदास और किससे कहने जाय? क्योंकि मेरे तो प्रभु, गुरु, माता, पिता आदि सब कुछ केवल आप ही हैं ॥३॥

विशेष

१—इस पदमें कविका अत्यन्त दीनता-पूर्ण और बड़ा ही कारुणिक कथन है।

[२७१]

जैसो हौं तैसो राम रावरो जन, जनि परिहरिये।
कृपासिंधु, कोसलधनी! सरनागत-पालक,
ढरनि आपनी ढरिये ॥ १ ॥
हौं तौ बिगरायल और को, बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आये सदा सब की सब ही बिधि,
अब मेरियो सुधरिये ॥२॥
जग हँसिहै मेरे संग्रहे, कत इहि डर डरिये।
कपि-केवट कीन्हे सखा जेहि सील, सरल चित,
तेहि सुभाउ अनुसरिये ॥३॥
अपराधी तउ आपनो, तुलसी न बिसरिये।
टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहु बिलोचन,
पीर होत हित करिये ॥४॥

शब्दार्थ—ढरनि = बहाव, रीति। ढरिये = ढलिये, चलिये।

भावार्थ—हे रामजी! मैं जैसा हूँ, तैसा आपका हूँ, मुझ सेवकको न छोड़िये। हे कृपा-सागर कोशलनाथ! आप शरणागतोंका पालन करनेवाले हैं, अतः आप अपनी ही ढारपर ढलिये (अर्थात् अपने बानेके अनुसार मुझ शरणागतका पालन कीजिये) ॥१॥ मैं तो औरों (माया, मोहादि या इन्द्रियादि) का बिगाड़ा हुआ हूँ, अतः अब आप इस बिगड़े हुएको न बिगाड़िये—नाराज न

होइये। (क्योंकि मेरा दोष नहीं है—दूसरोंने बिगाड़ा है)। आप सदासे सब लोगोंकी सब तरहसे सुधारते आये हैं, अतः अब मेरी भी (बिगड़ी हुई बातको) सुधारिये ॥२॥ मुझे अपनानेसे संसार हँसेगा, इस डरसे आप क्यों डर रहे हैं? आपने जिस शील और सरल चित्तसे बन्दर और केवटको अपना मित्र बनाया था, उसी स्वभावका अनुसरण कीजिये ॥३॥ अपराधी होनेपर भी यह तुलसी आपका है, अतः इसे न भूल जाइये। देखिये न, टूटा हुआ हाथ भी गलेमें पड़ा रहता है (कोई उसे अलग नहीं कर देता), और फूटी हुई आँखमें पीड़ा होनेपर उसकी दवा की जाती है, (इसी प्रकार यद्यपि मैं किसी कामका नहीं हूँ, पर हूँ तो आपहीका! अतः मुझे अपनेसे अलग न कर दीजिये) ॥४॥

विशेष

१—'बिगरायल'—ज्ञानियोंने कहा है—

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः।
विदधति तथाऽपराधं अन्यैव वृथा यथा भवति॥

अर्थात् 'चन्द दिनके पाहुने किन्तु नशीले इस यौवनमें अज्ञानी लोग वह अपराध कर बैठते हैं जिससे जवानी ही क्या, उनका सम्पूर्ण जन्म ही व्यर्थ हो जाता है।' इसीसे गोस्वामीजी भी कह रहे हैं कि, 'मैं तो पहलेहीसे दूसरोंका बिगाड़ा हुआ हूँ', इसमें मेरा अपराध नहीं है। जब दूसरोंने, अर्थात् इन्द्रियोंने अथवा माया-मोहादिने मुझे ऐसा बिगाड़ दिया है कि मेरा सम्पूर्ण जन्म ही व्यर्थ हो जायगा, तो फिर आपके सुधारे बिना मेरा सुधार कैसे हो सकता है? इसलिए इस बिगड़े हुए दासपर आप न बिगड़िये।

[२७२]

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम! बिनु रावरे लोकहु परलोकहु
कोउ न कहूँ हित मेरो ॥१॥
अगुन-अलायक-आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजराको-सो टोटक,
औचट उलटि न हेरो ॥२॥

भगति हीन, बेद-बाहिरो लखि कलिमल घेरो ।
देवनि हू देव ! परिहर्‍यो, अन्याव न तिनको,
हौं अपराधी सब केरो ॥३॥
नाम की ओट पेट भरत हौं पै कहावत चेरो ।
जगत-बिदित बात ह्वै परी, समुझिये धौं अपने,
लोक कि बेद बड़ेरो ॥४॥
ह्वै है जब-तब तुम्हहिं तें तुलसी को भलेरो ।
दिन-हू-दिन देव ! बिगरि है, बलि जाउँ,
बिलंब किये, अपनाइये सबेरो ॥५॥

शब्दार्थ—अगुन = गुणहीन । अनेरो = निकम्मा । टोटक = टोटका । सबेरो = शीघ्र ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप अपने मनको मेरे लिए मैला न करें, और मेरी ओरसे निगाहें न फेरें । हे रामजी ! सुनिये, आपको छोड़कर न तो इस लोकमें ही और न परलोकमें ही कहीं कोई मेरा कल्याण करनेवाला है॰॥१॥ मुझे गुणहीन, नालायक, आलसी, नीच और निकम्मा जानकर मतलबके यारोंने तिजारीके टोटकेकी तरह छोड़ दिया और भूलसे भी उलटकर मेरी ओर न देखा ॥२॥ मुझे भक्ति-रहित और वेद-मार्गसे बाहर देखकर कलिके पापोंने घेर लिया । इससे हे देव ! मुझे देवताओंने भी त्याग दिया । किन्तु इसमें उनका कोई अन्याय नहीं है; क्योंकि मैं (स्वयं ही) सबका अपराधी हूँ ॥३॥ मैं आपके नामकी आड़में पेट भरता हूँ, फिर भी अपनेको आपका दास कहलवाता हूँ । किन्तु अब तो यह बात संसारमें विदित हो गयी (कि मैं राम-भक्त हूँ)। अतः आप ही विचार कीजिये कि लोक बड़ा है या वेद ? (मेरी करनी तो वेद-विदित नहीं है, किन्तु संसार मुझे 'राम-दास' कहता है; अतः आप जो उचित समझें, स्वीकार करें) ॥४॥ तुलसीका भला तो जब कभी होगा, तब आपहीसे होगा । अतः मैं आपकी बलैया लेता हूँ, यदि आप देर करेंगे तो यह गरीब दिनपर दिन बिगड़ता ही जायगा, (इसीसे कहता हूँ कि जब आपको कभी-न-कभी मेरा कल्याण करना ही पड़ेगा, तो) शीघ्र मुझे अपना लीजिये ॥५॥

विशेष

१—'तिजराको-सो टोटक'—तिजारीमें आधीरातके समय अनेक चीजोंमें

उतारा करके लोग चौराहेपर रख आते हैं। लौटते समय उस ओर देखा नहीं जाता। यदि कोई उस टोटकेकी ओर देख ले, तो उसे तिजारी ज्वर आने लगता है।

२—'लोक कि बेद बड़ेरो'—'लोक बड़ा है या वेद, इसपर एक कहावत भी है—

'यद्यपि शुद्धम् लोकविरुद्धम् न करणीयम् न करणीयम्।'

अर्थात् 'यद्यपि कोई बात शुद्ध है यानी वेदविहित है, पर वह लोकके विरुद्ध है, तो वह करने योग्य नहीं है—नहीं है।' इस कहावतसे भी लोककी श्रेष्ठता सिद्ध हो रही है। भगवान् रामचन्द्र भी इस बातके कायल हैं। तभी तो उन्होंने परम पवित्र और निष्कलंक जगज्जननी जानकीजीको घरसे निकाल कर, लोकका श्रेष्ठत्व सिद्ध किया था। जान पड़ता है कि गुसाईंजीने उसी बातपर लक्ष्य रखकर 'लोक कि बेद बड़ेरो' लिखा है।

[२७३]

तुम तजि हौं कासों कहौं, और को हितु मेरे ?
दीनबंधु ! सेवक-सखा, आरत अनाथ पर
सहज छोह केहि केरे ॥१॥
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि, बिनु बेरे।
कृपा-कोप-सति भायहू, धोखेहु–तिरछेहू,
राम ! तिहारेहि हेरे ॥२॥
जो चितवनि सौंधी लगै, चितइये सवेरे।
तुलसिदास अपनाइये, कीजै न ढील,
अब जीवन-अवधि अति नेरे ॥३॥

शब्दार्थ—तरि = नौका। (पाठान्तर 'तरिनि')। बेरे = बेड़ा। सौंधी = भली। नेरे = निकट। सवेरे = जल्द।

भावार्थ—हे नाथ ! आपको छोड़कर मैं और किससे कहूँ ? दूसरा कौन मेरा हितू है ? हे दीनबन्धो ! सेवकपर, सखापर, दुखियापर और अनाथपर सहज स्नेह और किसका है ? ॥१॥ बहुतसे पापी बिना नौका और बेड़के ही

संसार-सागरसे पार हो गये। हे रामजी! उनकी ओर अनुग्रहसे या क्रोधसे, सच्चे भावसे या धोखेसे अथवा तिरछी निगाहोंसे ही आपने देख दिया था (इसीसे वे तर गये थे) ॥२॥ इनमें जो चितवन आपको अच्छी लगे, उसी दृष्टिसे आप मेरी ओर जल्दी देखिये (चाहे कृपा-दृष्टिसे, चाहे कोप-दृष्टिसे, चाहे प्रेम-दृष्टिसे अथवा टेढ़ी-दृष्टिसे ही देखिये; किन्तु देखिये शीघ्र)। तुलसीदासको अपनाइये, इसमें ढिलाई न कीजिये; क्योंकि अब जीवनकी अवधि बहुत ही निकट है ॥३॥

विशेष

१—'कृपा-कोप······हेरे'—भगवान्‌ने कृपा-दृष्टिसे राजा नृग, अहिल्या आदिको देखा था; कोप-दृष्टिसे बालि, रावण आदिको देखा था; प्रेम-दृष्टिसे शबरी, निषाद, सुग्रीव, विभीषण आदिको देखा था; धोखेकी दृष्टिसे यवन आदिको तथा तिरछी निगाहोंसे पूतना आदिको देखा था; किन्तु सबके सब मुक्त हो गये थे।

[२७४]

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव! दुखित-दीन को?
को कृपालु स्वामी-सारिखो, राखै सरनागत
सब अँग बल-बिहीन को ॥१॥
गनिहि, गुनिहिं साहिब लहै, सेवा समीचीन को।
अधन अगुन आलसिन को पालिबो
फबि आयो रघुनायक नवीन को ॥२॥
मुख कै कहा कहौं, बिदित है जी की प्रभु प्रवीन को।
तिहू काल, तिहु लोक में एक टेक
रावरी तुलसी-से मन मलीन को ॥३॥

शब्दार्थ—गनिहि = धनीको। समीचीन = अच्छी। नवीन = नित्य नये। टेक = सहारा।

भावार्थ—हे देव! कहाँ जाऊँ? मुझ दुःखित दीनके लिए कहाँ ठौर है? आपके समान कृपालु स्वामी कौन है, जो सब तरहसे बलहीन (साधनोंसे रहित)

शरणागतको अपनी शरणमें रख ले ? ॥१॥ धनी, गुणी और अच्छी सेवा करनेवाले लोगोंको तो दूसरे स्वामी मिल जाते हैं; किन्तु निर्धन, गुणहीन और आलसियोंका पालन करना नित्य नवीन श्रीरघुनाथजीको ही फबता आया है ॥२॥ मुँहसे क्या कहूँ ? चतुर स्वामीको मेरे हृदयकी बात ज्ञात है। तुलसी-सरीखे मलिन मनवालेको तीनों काल और तीनों लोकमें केवल आपहीका सहारा है ॥३॥

विशेष

१—'जाउँ कहाँ'—वास्तवमें जीवके लिए दूसरा अवलम्ब नहीं है। यजुर्वेदके पुरुषसूक्तमें भी कहा गया है—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(३१।१८)

अर्थात् 'उस परम पुरुषका साक्षात्कार करके ही मृत्युको लाँघ सकते हो, विश्राम पानेके लिए और कोई मार्ग या उपाय नहीं है'।

२—'रघुनायक नवीन को'—कुछ टीकाकारोंने 'नवीनको' का अर्थ 'नया कौन है' किया है।

[२७५]

द्वार द्वार दीनता कही, काढ़ि रद, परि पाहूँ ।
हैं दयालु दुनी दस दिसा, दुख-दोष-दलन-छम,
कियो न सँभाषन काहूँ ॥१॥
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हूँ ।
काहे को रोष, दोष काहि धौं, मेरे ही अभाग
मोसों सकुचत छुइ सब छाँहूँ ॥२॥
दुखित देखि संतन कह्यो, सोचै जनि मन माँहूँ ।
तोसे पसु-पाँवर-पातकी परिहरे न सरन गये,
रघुबर ओर निबाहूँ ॥३॥

तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति-प्रतीति बिना हूँ ।
नाम की महिमा, सील नाथ को, मेरो भलो बिलोकि
अब तें सकुचाहुँ, सिहाहूँ ॥४॥

शब्दार्थ—काढ़ि = निकालकर । रद = दाँत । कुटिल कीट = दुष्ट कीड़ा, दुष्ट जन्तु । पाँवर = नीच । पातकी = पापी ।

भावार्थ—हे स्वामी ! मैंने दाँत निकालकर द्वार-द्वारपर अपनी दीनता कही, और लोगोंके पैरोंपर भी गिरा । (यदि यह कहा जाय कि संसारमें कोई मेरी दरिद्रता दूर करनेवाला नहीं है, तो यह बात भी नहीं है) संसारमें ऐसे-ऐसे दयालु हैं जो दसो दिशाओंके दुःख और दोषोंका नाश करनेमें समर्थ हैं, किन्तु किसीने मुझसे बाततक नहीं की ॥१॥ माता-पिताने मुझे अपने शरीरसे इस प्रकार पैदा किया जैसे दुष्ट कीड़ा; अर्थात् मानो मैं दुष्ट कीड़ा था कि माता-पिताने अपने शरीरसे पैदा करके मुझे छोड़ दिया—स्वर्ग सिधार गये । (ऐसी दशामें) मैं किसलिए क्रोध करूँ, और किसे दोष दूँ ? यह सब मेरे ही दुर्भाग्यसे हुआ । सब लोग मेरी छायातकको छूनेमें सकुचाते हैं ॥२॥ मुझे दुःखित देखकर सन्तोंने कहा कि तू अपने मनमें सोच न कर । शरणमें जानेपर श्रीरामजीने तेरे जैसे नीच और पापी पशुओंतकका अपनी ओरसे निर्वाह किया है ॥३॥ प्रेम और विश्वास न रहनेपर भी यह तुलसीदास आपका (दास) होकर सुखी हो गया । हे नाथ ! आपके नामकी महिमा और शीलसे मेरा जो भला हुआ है, उसे देखकर मैं अभीसे संकुचित होता और सिहाता हूँ ॥४॥

विशेष

१—'तनु जन्यो······मातु-पिता हू'—इसका अर्थ करनेमें टीकाकारोंने खूब अटकल लगायी है । किसीने 'त्वचा तजत' पाठ माना है, तो किसीने 'तनु तज्यो' पाठ मानकर यह अर्थ किया है कि जैसे साँप अपना केंचुल छोड़ देता है । किन्तु हमने नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशीकी प्रतिके अनुसार 'तनु जन्यो' पाठ शुद्ध माना है । वियोगी हरिजीने भी यही पाठ शुद्ध माना है; किन्तु आपने यह अर्थ किया है—'जैसे दुष्ट कीड़ा अर्थात् साँप अपने ही शरीरसे

जन्मे हुए (बच्चे) को त्याग देता है।' गीता प्रेसकी प्रतिमें भी 'साँप' की जगह 'सर्पिणी' के सिवा और अर्थ ज्योंका-त्यों है। पर यह अर्थ ठीक नहीं जँचता; क्योंकि सर्पिणी तो अपने बच्चोंको पैदा करके छोड़ नहीं देती बल्कि निगलने लगती है। हाँ, उसके वे बच्चे अवश्य बच जाते हैं, जिन्हें वह नहीं देख पाती। दूसरी बात यह कि यद्यपि उपमा एक ही अंशमें दी जाती है, फिर भी हृदय इस बातको स्वीकार नहीं करता कि गुसाईंजीने अपने माता-पिताको साँपसे उपमा दी होगी। पं० रामनरेश त्रिपाठीने श्रीराम-चरित-मानसकी भूमिकामें 'कुटिल' शब्दको 'कुटीला' का अपभ्रंश माना है और इसका अर्थ किया है 'केकड़ा'। अर्थात् केकड़ेकी तरह पेट फाड़कर पैदा हुआ।' किन्तु इस अर्थमें भी 'मातु पिता हू' की संगति ठीक नहीं बैठती। मादा केकड़ेका पेट फाड़कर पैदा हुए; किन्तु पिताके लिए क्या कहा गया है? इस अर्थमें खींचा-तानी बहुत करनी पड़ती है। मेरी समझमें यदि 'कुटिल कीट' का अर्थ 'दुष्ट कीड़ा' किया जाय तो अधिक उत्तम हो। ऐसा अर्थ करनेमें किसी तरहकी खींचातानी नहीं करनी पड़ती और साधु अर्थ निकल आता है। इसका अन्वय इस प्रकार किया जायगा—'मातु तनु जन्यो ज्यों कुटिल कीट, पिता हू तज्यो' ऐसा अन्वय करनेपर सरल और साधु अर्थ निकल आता है। इससे ज्ञात होता है कि गोस्वामीजीके माता-पिता इनके बाल्यकालमें ही स्वर्गवासी हो गये थे जो कि सही भी है।

[२७६]

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग
दुख दस हू दिसि पायो ॥१॥
आस-बिबस खास दास है नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार,
परी न छार, मुँह बायो ॥२॥
असन-बसन बिनु बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा-मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे,
खिनु खिनु पेट खलायो ॥३॥

नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो, लालच ललचायो।
साँच कहौं, नाच कौन सो, जो न मोहिं लोभ लघु
हौं निरलज्ज नचायो ॥४॥

स्रवन-नयन-मन मग लगे, सब थल पतितायो।
मूड़ मारि, हिय हारि कै, हित हेरि हहरि
अब चरन-सरन तकि आयो ॥५॥

दसरथके ! समरथ तुही, त्रिभुवन जसु गायो।
तुलसी नमत अवलोकिये, बलि, बाँह बोल दै
बिरुदावली बुलायो ॥६॥

शब्दार्थ—छार = राख। असन = भोजन। बसन = वस्त्र। खिनु = क्षण। पतितायो = विश्वास किया, पतियाना। हेरि = ढूँढ़कर। नमत = प्रणाम करता है।

भावार्थ—मैंने क्या नहीं किया ? कहाँ नहीं गया ? और किसके आगे सिर नहीं झुकाया ? किन्तु हे रामजी ! जबतक मैं आपका दास नहीं हुआ, तबतक मैंने संसारकी दसों दिशाओंमें जन्म ले-लेकर दुःख ही पाया ॥१॥ आशावश (आपका) खास सेवक (ईश्वरका अंश) होनेपर भी मैंने क्षुद्र प्रभुओंको जनाया, हा-हा करके बार-बार द्वार-द्वार अपनी दीनता कही, किन्तु मेरा मुँह बाया ही रह गया, उसमें खाक भी न पड़ी (भोजनको कौन कहे)। अर्थात् मैं माँगता ही रह गया, पर किसीने कुछ नहीं दिया। भोजन और वस्त्रके बिना बावला होकर जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा, प्राणोंसे प्यारी मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर दुष्टोंके आगे क्षण-क्षणपर खाली पेटको खोलकर दिखाया ॥३॥ किन्तु हे नाथ ! कुछ भी हाथ न लगा, लालच मुझे ललचाता ही रह गया। सच कहता हूँ, ऐसा कौनसा नाच है जो क्षुद्र लोभने मुझ निर्लज्जको न नचाया हो ? ॥४॥ कान, आँखें और मन ये सब अपने-अपने रास्तेपर लग गये। सब जगह विश्वास किया, सिर पटककर रह गया, अपना हितू ढूँढ़कर थक गया (कहीं कोई नहीं मिला)। अन्तमें हृदयमें हार मानकर अब आपके चरणोंकी शरण देखकर आया हूँ ॥५॥ हे दशरथके लाल ! सामर्थ्यवान् एक आप ही हैं, इसीसे तीनों लोकोंने आपका यश गाया है। तुलसीदास प्रणाम करता है, (इसकी ओर)

देखिये ! मैं आपकी बलैया लेता हूँ; आपकी विरदावलीने ही मुझे बाँह (सहारा) और बोल (वचन) देकर बुलाया है ॥६॥

विशेष

१—'खलायो'—इसका शाब्दिक अर्थ है 'खलाया', 'पचकाया'।

२—'स्रवन-नयन-मन'—ये इन्द्रियाँ बड़ी भयंकर हैं। भगवान् शुक कहते हैं:—

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा-
चिछश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥

'एक ओर जिह्वा खींचती है तो दूसरी ओर तृष्णा, इधर कामेन्द्रिय खींच ले जाना चाहती है तो कभी त्वचा और पेटका प्रश्न प्रबल हो उठता है। उससे बचता है तो कानोंके द्वारा खींचा हुआ दूर बह जाता है। वहाँसे चलने भी नहीं पाता कि सुगन्धकी डोरीसे दूसरी तरफ खिंच जाता है। इधरसे छुटकारा भी नहीं हुआ कि ये चपल आँखें दूसरी ही ओर ढकेल ले जाती हैं। जिस तरह एक घरवालेकी बहुतसी स्त्रियाँ हों और वे खींचा-तानीमें उसकी अच्छी तरह मरम्मत करती हैं, वही दशा इस मनुष्यकी है।' ये इन्द्रियाँ इस प्रकार अपनी-अपनी ओर खींचती हैं जैसे एक शरीरको बहुतसी 'सपत्न्यः' सौतें, जिनका वैर जगत्प्रसिद्ध है। गोस्वामीजी कहते हैं कि ये इन्द्रियाँ मुझे जहाँ-जहाँ खींचकर ले गयीं, हर जगह मैं उनपर विश्वास करके चला गया।

३—'सब थल पतितायो'—कुछ प्रतियोंमें 'सब थलपति तायो' पाठ है और कुछमें 'सब थल पतियायो' है। 'सब थलपति तायो' का अर्थ होगा 'सब स्थानोंके स्वामियोंको तपाकर देख लिया (किन्तु कोई भी ऐसा खरा न निकला जो मेरे काम आ सके)।' किन्तु 'पतियायो' पाठका वही अर्थ है जो 'पतितायो' का।

[२७१]

राम राय ! बिनु रावरे मेरे को हितु साँचो ?
स्वामी-सहित सब सों कहौं, सुनि-गुनि
बिसेषि कोउ रेख दूसरी खाँचो ॥१॥

देह-जीव-जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो ।
किये बिचार सार कदली ज्यों, मनि
कनक संग लघु लसत बीच बिच काँचो ॥२॥
'विनय-पत्रिका' दीन की, बापु ! आपु ही बाँचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय
सही करि बहुरि पूँछिये पाँचो ॥३॥

शब्दार्थ—बिसेषि = विशेष, बड़ा । टाँचन = टाँचोंसे । टाँचो = टाँच दीजिये, डाट दीजिये । कनक = सुवर्ण । लसत = शोभा देता है । पाँचो = पंचोंसे ।

भावार्थ—हे महाराज रामचन्द्र ! आपके सिवा मेरा सच्चा हितकारी और कौन है ? मैं सुन-समझकर सब लोगोंसे, यहाँतक कि आपसे भी कहता हूँ कि यदि कोई आपसे भी बड़ा हो तो दूसरी लकीर खींच दीजिये (मेरी बात काट दीजिये) ॥१॥ शरीर और जीव-संयोगके जितने मित्र हैं, सब मिथ्यारूपी टाँकोंसे सिले हैं। विचार करनेपर मालूम होता है कि ये सखा केलेके सारकी तरह (निस्सार) हैं; अर्थात् जैसे ऊपरसे देखनेमें मालूम होता है कि केलेके तनेके भीतर गूदा है, किन्तु छीलनेपर छिलकेके सिवा और कुछ नहीं निकलता, वैसे ही ये सांसारिक सम्बन्धी भी हैं। ये उसी तरह चमकते जान पड़ते हैं जैसे मणि-सुवर्णके छोटे-छोटे बीच-बीचमें छोटासा काँच (जिनका कोई मूल्य नहीं है) ॥२॥ हे पिताजी ! इस दीनकी 'विनय-पत्रिका' आप ही पढ़िये, (दूसरेसे पढ़वाकर न सुनिये)। तुलसीने इसे अपने हृदयसे विचारकर लिखा है, इसपर पहले आप अपने स्वभावसे सही कर दीजिये, फिर पंचोंसे (दरबारियोंसे) पूछिये ॥३॥

विशेष

१—'देह-जीव-जोग'—वास्तवमें यह शरीर मिथ्या है। और शरीर-जीवका सम्बन्ध भी मिथ्या है। बालिकी स्त्री ताराको समझाते हुए भगवान्‌ने इस शरीर और जीवके सम्बन्धमें कहा है—

छिति जल-पावक-गगन-समीरा ।
पंच-रचित अति अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा ।
जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा ॥

—रामचरित मानस

क्योंकि यह जीव निःसंग है, अविनाशी है। देखिये—

ईस्वर-अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख-रासी॥

गीतामें भी कहा है:—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

अतः जब अविनाशी जीवका नाशवान् शरीरके साथ मेल होना ही मिथ्या है, तो फिर उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कैसे मिथ्या न होंगे? यहाँ दुर्लभ मनुष्य-शरीरकी उपमा सुवर्णसे दी गयी है, जीवकी उपमा मणिसे, और देह-जीव-जोगके सम्बन्धियोंकी उपमा काँचसे दी गयी है। खूब! यहाँ मन-सहित बाह्येन्द्रियाँ, तथा स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी आदि ही 'देह-जीव-जोगके सखा' हैं।

२—'पाँचों'···पंचों; सब पञ्चोंका नाम गुसाईंजीने आगेके पदमें गिना दिया है। अर्थात् हनुमान्‌जी, शत्रुघ्नजी, भरतजी और लक्ष्मणजी। चार ये, और एक जगज्जननी जानकी-सहित स्वयं महाराज रामचन्द्रजी।

[२७८]

पवन-सुवन! रिपु-दवन! भरतलाल! लखन! दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ,
दास-आस पूजि है खास खीन की॥१॥
राज-द्वार भली सब कहैं साधु-समीचीन की।
सुकृत-सुजस, साहिब-कृपा, स्वारथ-परमारथ,
गति भये गति-विहीन की॥२॥
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति-रीति समुझाइबी नतपाल
कृपालुहि परमिति पराधीन की॥३॥

शब्दार्थ—खीन=क्षीण, खिन्न। समीचीन=अच्छे, सच्चे। परमिति=सीमा।

भावार्थ—हे पवनकुमार! हे शत्रुघ्नजी! हे भरतलाल! हे लखनलाल! मैं आप लोगोंकी बलैया लेता हूँ, यदि आप लोग अपने-अपने अवसरपर इस दीनकी सुध करेंगे, तो इस निहायत खिन्न दासकी आशा पूरी हो जायगी॥१॥

राजदरबारमें अच्छे साधुको तो सभी अच्छा कहते हैं, किन्तु यदि आप लोग इस अशरण दीनवाली कह देंगे तो आप लोग पुण्य और यशके भागी होंगे, प्रभुजी-की आप लोगोंपर कृपा होगी (क्योंकि उन्हें अपने बानेकी लाज रखनेके लिए पतितोंकी सदैव आवश्यकता रहा करती है) तथा स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही आप लोगोंके बन जायँगे ॥२॥ इसलिए आप लोग समय देखकर इस पापी तुलसीकी बात सुधार दीजियेगा। शरणागत-वत्सल कृपालु श्रीरामजीसे इस पराधीन (तुलसी)के प्रेमकी रीतिकी हदको समझा दीजियेगा ॥३॥

विशेष

१—'पवन-कुमार'''लखन'—यहाँ गुसाईंजीने क्रमसे सबको सम्बोधन किया है। दरबारमें जिस क्रमसे यह 'विनय-पत्रिका' महाराजतक पहुँच सकती है, उसी क्रमसे सम्बोधन किया गया है। खूब! महाराजके दरबारमें गुसाईं-जीको सबसे बड़ा भरोसा हनुमान्‌जीका है, क्योंकि उनकी इनपर विशेष कृपा है; इसलिए उन्होंने सबसे पहले हनुमान्‌जीको सम्बोधन किया है, और लक्ष्मण-जी रामजीके अधिक मुँहलग्गू हैं, गोस्वामीजीकी दृढ़ धारणा है कि और लोग सम्भवतः सङ्कोचवश मेरी बात श्रीरघुनाथजीसे कहनेका साहस न करेंगे, पर लखनलाल बिना किसी तरहकी हिचकिचाहटके कह देंगे; अतः सबके अन्तमें श्री लखनलालको सम्बोधन किया गया है। आगेके पदमें यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

२—'पराधीन'—कलिके अधीन होना घोर दुःखदायी है। कलिमें राम-नामके सिवा और किसी तरहका भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। यही कारण है कि शिवजीने कलिमें अन्य सब साधनोंका निषेध किया है। जरा कलिकी अवस्था देखिये—

आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्मविलोपिनि।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्मप्रवर्त्तके॥
न वेदा प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः।
तदा लोको भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः॥
उच्छृंखला मदोन्मत्ताः पापकर्मरताः सदा।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः॥

स्वल्पायुर्मन्दमतयो रोगशोकसमाकुलाः ।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाचारपरायणाः ॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्तापहारकाः ।
परनिन्दापरद्रोहपरिवादपराः खलाः ॥
परस्त्रीहरणे पाप शंकाभयविवर्जितः ।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः ॥
विप्राः शूद्रसमाचाराः सन्ध्यावन्दनवर्जिताः ॥
× × ×
निर्वीर्याःश्रौतजातीया विषहीनोरगा इव ।

नीचेके पदका अर्थ है 'समस्त वैदिक मंत्र विषहीन सर्पके समान निर्वीर्य हो गये हैं।' जब कि कलियुगका यह स्वाभाविक धर्म है, तो फिर भला जीवके लिए इससे बढ़कर पराधीनता और क्या हो सकती है ? श्रीमद्भागवतमें भी कलियुगका बृहद् रूपसे वर्णन किया गया है ।

[२७९]

मारुति-मन, रुचि भरतकी लखि लषन कही है ।
कलिकालहु नाथ ! नाम सों परतीति-
प्रीति एक किंकर की निबही है ॥१॥
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है ।
कृपा गरीबनिवाज की, देखत
गरीब को साहब बाँह गही है ॥२॥
बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है' ।
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की,
परी रघुनाथ[१] सही है ॥३॥

शब्दार्थ—मारुति = हनुमान्जी । लखि = देखकर । लही = पायी, मिली ।

भावार्थ—हनुमान्जीका मन और भरतजीकी रुचि देखकर लक्ष्मणजीने भगवान्से कहा कि हे नाथ ! इस कलिकालमें भी आपके एक दासकी आपके नामके प्रति प्रतीति और प्रीति निभ गयी (देखिये, उसकी पत्रिका भी आयी है)

---

१. पाठान्तर 'रघुनाथ हाथ' ।

॥१॥ यह सुनकर सारी सभा कह उठी कि हाँ, हम लोग भी उस दासकी रीति जानते हैं (यह बात सर्वथा सत्य है)। यह सब गरीब-निवाज प्रभुकी कृपा है। स्वामीने सबके देखते-देखते उसकी बाँह पकड़ ली है—अपना लिया है ॥२॥ श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराकर कहा कि, 'हाँ सत्य है ! मुझे भी उसकी खबर मिली है'। फिर क्या था, (स्वामीके मुखसे इतना शब्द निकलते ही) अनाथ तुलसी-दासकी बन गयी। उसके प्रफुल्लित होकर माथा झुकाते (प्रणाम करते) ही श्रीरघुनाथजीने (उसकी विनय-पत्रिकापर) सही कर दी—हस्ताक्षर कर दिया ॥३॥

विशेष

१—'मारुति······कही है'—सभामें श्रीजनकनन्दिनीजीके सहित भगवान् राज्यसिंहासनपर विराजमान हैं। लक्ष्मणजीको हनुमान्‌जीकी अभिलाषा और भरतलालकी रुचि मालूम हो गयी। वह ढीठ तो थे ही, अच्छा अवसर देखकर तुलसीदासकी चर्चा कर बैठे। इस चरणमें गोस्वामीजीने 'मारुति' के लिए 'मन' और भरतके लिए 'रुचि' शब्द लिखा है। धन्य गोस्वामीजी ! शब्दोंका ठीक-ठीक वजन आपहीको मालूम था। 'मन' शब्द अत्यधिक उत्कंठा-का द्योतक है, और 'रुचि' शब्दमें स्वामित्वका आभास है; क्योंकि भरत आदि भाई भगवान्‌के ही अंश हैं। लिखा भी है—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुख-दाता॥

अथवा—

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ दिनकर-बंस-उदारा॥

—रामचरितमानस

२—'कृपा गरीब-निवाजकी'—सही है। बिना भगवत्कृपाके भक्ति-भाव पैदा नहीं होता, यह उल्लेख अन्यत्र भी पाया जाता है। सुग्रीवने कहा है—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥

अथवा बालकाण्डमें भी लिखा है—

आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई।

३—'बिहँसि'—पीछे कहा जा चुका है कि किसी रहस्यपूर्ण बातपर ही भगवान्‌के हँसने या मुसकरानेका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

सुनि विराग-संयुत कपि-बानी ।
बोले बिहँसि राम धनुपानी ॥

× × ×

सुनि केवटके बैन, प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी लषन तनु ॥

× × ×

सुनि अस उक्ति पवन-सुत केरी ।
बिहँसे रघुपति कपितन हेरी ॥

× × ×

तब रघुपति बोले मुसुकाई ।

इसलिए यहाँ भी भगवान्‌के मुसकरानेका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य है । यहाँ रामजीके मुसकरानेके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

क—हनुमान्‌जी और भरतजीने मुझसे कहनेका साहस नहीं किया, अन्तर्यामी भगवान्‌को यह बात मालूम हो गयी । इसलिए इस रहस्यको समझकर वह हँस पड़े ।

ख—एक तो तुलसीदासकी बात अन्तर्यामी भगवान् श्रीरामजीको स्वयं ही मालूम थी, दूसरे महारानीजी भी उसकी चर्चा कर चुकी थीं । क्योंकि गुसाईंजी उनसे पहले ही विनय कर चुके थे—

कबहुँक अंब ! अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥

इसलिए महाराजको हँसी आ गयी कि देखो ये लोग ऐसा कह रहे हैं मानो मैं तुलसीके सम्बन्धमें कुछ जानता ही नहीं ।

ग—गोस्वामीजीने भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिए कोई भी उपाय नहीं छोड़ा था । रूठकर, खीझकर, नम्रता-पूर्ण विनय करके, सामर्थ्यकी याद दिलाकर, बदनामीका भय दिखाकर—हर प्रकारसे कहा है । उनके हृदयकी अधीरता भी बहुत बढ़ गयी थी । इसलिए गोस्वाजी-नीके चातुर्यका स्मरण करके भगवान् मुसकरा उठे ।

पदोंकी वर्णानुक्रामिक सूची